किताब महल निबंधमाली—२

संस्कृति और साहित्य

लेखक

डा० रामविलास शर्मा

किताब महल

इलाहाबाद

विषय-सूची

भूमिका

सन् '३५ से '४५ तक दस वर्षों में लिखे हुये मेरे प्रायः सभी निबन्धों का यह संग्रह है। दस वर्ष मे साहित्य का एक छोटा-मोटा युग बीत जाता है; इस अवधि में मनुष्य का दृष्टिकोण बदलना भी स्वाभाविक है। इन निबन्धो में पाठक को मेरा विकसित और परिवर्त्तित होता हुआ दृष्टिकोण मिलेगा। मैंने अपना साहित्यिक जीवन कविता लिखने से आरम्भ किया था। कहा जाता है कि असफल कवि सफल समालोचक बन जाता है। यह सशयात्मक है कि कवि रूप में मैं बिल्कुल असफल रहा हूँ। इसलिये आलोचना की सफलता भी मेरे निकट सशयात्मक है।

सन् '३४-३५ के लगभग छायावादी कवियो को लेकर अच्छा खासा विवाद चल रहा था। यह वह युग था जब श्री ज्योतिप्रसाद 'निर्मल' जैसे साहित्य-मनीषी हिन्दी के जाने-माने साहित्यकारो पर 'अभ्युदय' जैसे पत्रो में कीचड़ उछाला करते थे। जिन्होंने निराला-जयन्ती का समारोह ही देखा है, उनके लिये शायद यह कल्पना करना कठिन हो कि कुछ असभ्य विरोधियो की बकवास बन्द करने के लिये महाकवि को अपने पद-त्राण का सहारा लेने की घोषणा करनी पड़ी थी! यह बात उनके विरोधियो ने ही अपने लेखो मे लिपिबद्ध करके उसे ऐतिहासिक बना दिया है। इस संग्रह में छायावाद सम्बन्धी '३५-३६ के निबध इसी विरोध-भावना को देखकर लिखे गये थे। छायावादी कविता में जहाँ-जहाँ रहस्यवाद और पलायन का पुट है, उससे मै

कभी सहमत नही रहा। मैं छायावाद को काव्य की एक नवीन परम्परा के रूप मे देखता था जिसने रीतिकालीन कविता के सम्कारो को हिन्दी से निकाल फेका था। इसके बिना साहित्य का अगला विकास असभव होता। कुछ लोगो का आक्षेप है कि उन दिनों जिस छाया-वादी काव्य सौन्दर्य का मैं भक्त था, उसे आगे चलकर मैंने तिलां-जलि दे दी। छायावाद के मर्मी आलोचक श्री शातिप्रिय द्विवेदी ने यह धारणा अपने कुछ निबधों मे व्यक्त की है। छायावादी काव्य-सौदर्य का प्रशसक मैं अब भी हूॅ लेकिन साहित्य की 'वर्त्तमान' धारा आज दूसरी है। छायावादी परम्परा मे जो सबसे सबल और जन-हितैषी तत्त्व थे, उन्हे अपने में समेट कर यह धारा आगे बढ़ने का प्रयास कर रही है। श्री 'दिनकर' जैसे मान्यकवि और आलोचक का मत है कि प्रगतिशील कविता वास्तव में छायावादी काव्द की ही परिणति है। इस कथन से इतना तो मालूम ही होता है कि काव्य की दोनों प्रवृत्तियो का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। छायावादी कवियों का विद्रोह पुरानी सीमाओं से निकल कर आज एक विशद सामाजिक रूप धारण कर रहा है। इसलिये काव्य की शैली, शब्द-चयन, भाव-व्यजना, रूप-विन्यास आदि मे भी परिवर्त्तन हुआ है। परिवर्त्तित शैली और रूप में जो तत्त्व सबल और स्थायी हैं, उनके समर्थन का यह मतलब नही है कि समर्थक छायावादी कवियों की महान् कृतियो का विरोधी है। निरालाजी की रचनायें—'राम की शक्ति-पूजा' और 'तुलसीदास'—छायावादी कविता का चरम उत्कर्ष हैं। उस तरह की कला मे इन रचनाओ को जितनी सफलता मिली है, उतनी सफलता नये कवियों को अपनी नवीन शैली मे लिखी हुई किसी भी रचना मे नहीं मिली। इसका यह अर्थ नही है कि हम 'राम की शक्ति-पूजा' या 'तुलसीदास' की भाव-व्यञ्जना और शैली का अनुकरण करते चले जायें। साहित्य मे सिद्ध ग्रन्थो की शैली का जो भी अनुकरण-मात्र करता चला जाता

-है, वह सचेत नही जड़ साहित्य की सृष्टि करता है। उसकी कृतियो को साहित्य कहना ही भ्रामक है। यदि साहित्य मे एक ही प्रकार के भाव या एक ही प्रकार की शैली अपनाने से अमरता प्राप्त होती तो कवि-कर्म बहुत सरल हो जाता। गोस्वामी तुलसीदास और शेक्स-पियर का अनुकरण करके सभी कवि ट्रैजेडी और प्रबधकाव्यो की रचना मे लीन होते। परन्तु सामाजिक विकास के साथ साथ साहित्य के भाव-प्रकार और शैली भी बदलती रहती है। कोई भी साहित्य-कार बदली हुई सामाजिक परिस्थितियो और अपने युग विशेष की चेतना को पहचाने बिना स्थायी और रोचक साहित्य की सृष्टि नहीं कर सकता। इसी नियम के अनुसार स्वय छायावादी कवियो ने ही अपने पुराने भाव-प्रकार और शैली को क्रमशः छोड़ते हुए नये-नये प्रयोग करके परवर्त्ती कवियो का मार्ग प्रशस्त किया है। कोई भी प्रगतिशील कवि यह नही कह सकता कि छायावादी परम्परा से अलग होकर नये प्रयोग करने से ही वह पन्त या निराला के बराबर हो गया है। नयी कविता का कोई विरोधी यदि यह दावा करे कि इस नवीन परम्परा मे स्थायी कृतियों का अभाव है, वह केवल प्रचार-साहित्य है और इसलिये हमें पुराने भाव-प्रकार और शब्द-चयन की ओर लौट चलना चाहिये तो यह दावा भी बिल्कुल झूठा है। द्विवेदी-युग के अनेक महारथियों ने छायावाद का विरोध करते हुए यही कुतर्क पेश किया था लेकिन वे छायावादी काव्य की प्रगति को रोक नही सके। यही बात नये साहित्य के विरोधियो पर भी लागू होती है।

दूसरे महायुद्ध का आरम्भ होते-होते छायावाद की पलायनवादी और निराशा को जन्म देनेवाली प्रवृत्ति बिल्कुल खोखली हो चुकी थी। अनेक छायावादी कवियों ने इस प्रवृत्ति को दूषित बताकर यथार्थवाद की ओर बढ़ने का संकेत किया था। 'रूपाभ' में प्रकाशित

अपने एक प्रसिद्ध वक्तव्य में श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने बहुत स्पष्टता से कल्पनामात्र के आधार पर लिखी हुई असम्भव स्वप्नो को रचनेवाली कविता की निन्दा की थी। जो लोग छायावाद की निराशावादी परम्परा को आगे बढ़ाना चाहते थे और उसी के अनुकरण में नये साहित्य का कल्याण मानते थे, उन्ही को लक्ष्य करके 'हिन्दी काव्य मे व्यक्तिवाद और अतृप्त वासना' नामक लेख लिखा गया था। इस लेख मे व्यक्तिवाद और अतृप्ति के सामाजिक कारणों का उल्लेख स्पष्टता से नही किया गया। सामाजिक परिस्थितियो का प्रभाव साहित्य के भाव-प्रकार और शैली पर किस तरह पड़ता है, यह बात तब मेरे मन मे स्पष्ट नही थी। फिर भी इस लेख से यह पता लगता है कि जिन साहित्यकारों ने उस समय प्रगतिशील धारणाओं को अपनाया था, उनके चिंतन के अतर्विरोध और असगतियाँ क्या थीं। पतजी में उस समय भी छायावाद की भर्त्सना करने के बावजूद भी—एक कल्पना-निमित आध्यात्मिक जगत् में पलायन करने की प्रवृत्ति विद्यमान थी। इसका यह मतलब नहीं कि 'रूपाभ' के बाद उन्होंने जिन नये आदर्शों को अपनाया था, उनसे स्फूर्ति पाकर उन्होने श्रेष्ठ साहित्य की रचना नहीं की। जो लोग यह दावा करते है कि प्रगतिवादियों ने अपना मोर्चा मज़बूत करने के लिये पन्तजी को जबर्दस्ती अपनी तरफ घसीट लिया, वे पंतजी के साथ और हिन्दी कविता के इतिहास के साथ बहुत बडा अन्याय करते हैं। नये आदर्शों से प्रेरित होकर पन्तजी ने 'ग्राम्या' की रचना की। इसकी भूमिका मे उन्होने बड़ी स्पष्टता से स्वीकार किया कि जनसाधारण के प्रति उनकी सहानुभूति बौद्धिक ही है। यह बात सौभाग्य और दुर्भाग्य दोनो की है। सौभाग्य की इसलिये है कि सहानुभूति बौद्धिक होते हुए भी उसी के सहारे पन्तजी 'ग्राम्या' जैसा अनूठा काव्यसंग्रह हिन्दी साहित्य को दे सके। इसका

शब्द-माधुर्य 'पल्लव' से किसी तरह घटकर नहीं है, उससे भिन्न कोटि का अवश्य है। इसमें 'युगवाणी' के बौद्धिक चिंतन की नीरसता नहीं है। पंतजी की कल्पना-प्रधान कवि-वाणी इतनी स्वस्थ और मांसल किसी दूसरे संग्रह में नहीं है। 'पल्लव' के बाद हिन्दी-साहित्य को यह उनकी सबसे बड़ी देन है। जिस तरह 'पल्लव' छायावादी युग का प्रकाश-स्तम्भ है, उसी प्रकार 'ग्राम्या' प्रगतिशील कविता का एक ऐतिहासिक मार्ग चिह्न है। दुर्भाग्य की बात यह थी कि पन्तजी की सहानुभूति बौद्धिक-स्तर से नीचे उतर कर मार्मिक नहीं बन सकी। 'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि'—इन नये काव्यसग्रहों में उन्होंने बौद्धिकता की निंदा की है लेकिन मेरी समझ में वे मार्मिकता को अभी भी नहीं पा सके हैं। उनका अध्यात्म-चिंतन बुद्धिवाद की निन्दा करने पर भी बौद्धिक ही है। 'ग्राम्या' के बाद उनके सामने दो ही मार्ग थे। या तो वे बौद्धिक सहानुभूति को बौद्धिक ही न रखकर उसे मार्मिक बनाते या फिर जनसाधारण के प्रति इस सहानुभूति से ही मुँह फेर लेते। युद्धकाल मे और उसके बाद—कम से कम कुछ समय के लिये तो—उन्होंने दूसरे मार्ग को ही अपना लिया है। 'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' की रचनाये अधिकतर 'युगवाणी' के नीरस बौद्धिक-चिंतन के स्तर की है। देवी सरस्वती को शायद यह सब स्वीकार नहीं है। इन सग्रहो में भी सबसे सजीव रचनायें वे हैं जिनमें 'ग्राम्या' के कवि की वाणी कहीं गूँज गई है। बौद्धिक स्तर पर जनसाधारण के प्रति अपनी पहली सहानुभूति से तटस्थ होने पर पन्तजी का मर्मी-कवि जहाँ तहाँ ही उनके साथ है। इन पुस्तकों की समालोचना करते हुए फिर कभी विस्तार से इस विषय पर लिखूँगा। यहाँ पर केवल उन लोगों को उत्तर देना है जो समझते हैं कि 'ग्राम्या' में जनसाधारण के प्रति एक नवीन सहानुभूति से प्रेरित होकर पन्तजी ने जो रचनायें कीं, वे आकस्मिक और उनके

विकास की विरोधी दिशा मे है। मेरा निवेदन इतना ही है कि 'ग्राम्या' की भूमिका मे पन्तजी ने जिस बौद्धिक सहानुभूति का उल्लेख किया है, उसमे और गहराई लाकर उसे मार्मिक बनाने की जरूरत थी, न कि उसे नमस्कार करके पुनः एक नये छायावादी अध्यात्म-जगत् मे खो जाने की।

महायुद्ध का आरम्भ होते-होते साहित्य की मान्यताओं के बारे मे जोरो से विवाद छिड़ गया था। उन दिनो अनेक लेखको की यह प्रवृत्ति थी कि वे प्रेमचन्द द्वारा स्थापित जन-साहित्य की परम्परा का विरोध करते थे। प्रेमचन्द की निन्दा करने के लिए वे शरत्बाबू का आदर्श उपस्थित किया करते थे। शरत्बाबू से प्रभावित होकर अनेक नये लेखक अपने अतृप्त मध्य-वर्गीय जीवन को आदर्श रूप में चित्रित करने में लगे थे। उनके लिये सामाजिक संघर्ष और राजनीतिक आन्दोलनों का कोई महत्त्व न था। उनके लिये सारा साहित्य अबलामय था और वे 'हीरो' बनकर नारी का उद्धार करने मे लगे थे। छायावाद के उत्तरकाल में जो निराशा कविता मे व्याप गई थी, उसी का प्रतिरूप कथासाहित्य मे यह कथित नारी का उद्धार था। इस प्रवृत्ति को लक्ष्य में रखकर शरत्-बाबू के उपन्यासो पर लेख लिखा गया था। इसमे शरत्बाबू की कमजोरियो का उल्लेख अधिक है और इसका कारण उस समय के हिन्दी लेखकों की वह प्रवृत्ति है जो इन कमज़ोरियो को ही शरत्बाबू की सबसे बड़ी महत्ता समझती थी। बॅगला-साहित्य में कल्पना-प्रधान ऐतिहासिक रोमान्सों की दुनिया से अलग होकर शरत्बाबू ने घरेलू जीवन के यथार्थवादी चित्रण का श्रीगणेश किया था। बंगाल और हिन्दुस्तान के साहित्य में उनका एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थान है जिसे भुलाया नही जा सकता। सामाजिक उत्पीड़न और अन्याय के प्रति उनकी सहानुभूति नहीं थी। परन्तु बगाली भद्रलोक के जीवन

में जो झूठी आदर्शवादिता और अपनी अतृप्ति को बढ़ा-चढ़ा कर देखने की प्रवृत्ति आ गई थी, वह शरत्‌बाबू के उपन्यासो में भी झलकती है। शरत्‌बाबू की कला साधारण पात्रो के चित्रण में खूब निखरी है। दुर्भाग्य से हिन्दी लेखकों पर भद्रलोक वाली अतृप्ति और झूठी आदर्शवादिता का ही प्रभाव अधिक पड़ा।

नये साहित्य और विशेषकर नयी समालोचना पर यह अभियोग लगाया जाता है कि वह पिछले साहित्य की परम्पराओं से तटस्थ और उनके प्रति उदासीन है। पुरानी परम्परा का उल्लेख करने पर यह भी घोषित किया जाता है कि प्रगतिशील आलोचक तुलसीदास या भारतेन्दु को जबर्दस्ती प्रगतिशील बना रहे हैं। यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम अपने साहित्य की पुरानी परम्पराओ से परिचित हो। परिचित होने के साथ साथ हमे उनके श्रेष्ठ तत्त्वों को ग्रहण भी करना चाहिये। मेरा उन लोगों से मतभेद है जो साहित्य को समाज-हित या अहित से परे मानकर केवल रूप की प्रशंसा करके आलोचना की इति कर देते हैं। उनके लिये बिहारी और तुलसीदास दोनों ही समान रूप से वन्दनीय है और दोनो की ही परम्परा समान रूप से वांछनीय है। प्राचीन साहित्य का मूल्याकन करते हुए मेरी दृष्टि मे समाज के हित और अहित को न भूल जाना चाहिये। यदि दरबारों में राजाओं की चाटुकारिता करते हुए भी श्रेष्ठ साहित्य रचा जा सकता था तो इसे संत कवियों की सनक ही माननी चाहिये कि वे दरबारों मे आनन्द-पूर्वक समय न बिताकर चिमटा बजाते हुए रूढ़िवादियों का विरोध सहन करते रहे। 'सिर धुनि गिरा लागि पछिताना'—यह उक्ति अगर किसी पर भी लागू होती है तो इन दरबारी कवियों पर। लक्षण-ग्रथ लिखने वाले कवियो और मध्यकालीन समाज में क्रातिकारी परिवर्तनों की ओर बढ़ने वाले संतकवियों में आकाश पाताल का अन्तर है। इस अन्तर को न समझकर दोनों को ही बराबर तौलना

अपनी परम्परा को ग्रहण नहीं अस्वीकार करना है। 'हिन्दी साहित्य की परम्परा' नामक लेख इसी धारणा के अनुकूल हिन्दी साहित्य के विकास का एक रेखाचित्र भर है। इस विषय पर भरा पूरा विवेचन करते हुए अलग-अलग पुस्तकें लिखना आवश्यक है।

इन निबन्धो में अनेक प्रश्न उठाये गये हैं, जिनका भली भाँति निराकरण उनमें नहीं किया गया। मैं उनके सम्बन्ध मे पाठको के विचारो का स्वागत करूँगा और प्रयत्न करूँगा कि अन्य पुस्तको में यह निराकरण अधिक सन्तोषप्रद बने।

गोकुलपुरा, आगरा
१ अक्तूबर '४७

रामविलास शर्मा

हिन्दी साहित्य की परम्परा

साहित्य के लिये प्रगति और प्रतिक्रिया नयी चीजे नहीं हैं। इनका क्रम तो तब से चलने लगता है, जब से समाज का विकास होता है। कुछ लोगों ने यह धारणा बना ली है कि प्रगतिशील साहित्य का परपरा से कोई सम्बन्ध नही है। यह एक ग़लत धारणा है। जैसे सामाजिक विकास में कोई भी नवीन व्यवस्था पुरानी सामाजिक व्यवस्था से एकदम अलग हो कर नहीं आ सकती, वैसे ही साहित्य मे विकास-क्रम को भंग करके शून्य में एक नयी प्रगति नहीं आरभ हो सकती। हिन्दी साहित्य का विकास-क्रम अन्य साहित्यों से कुछ दूसरे ढंग का रहा है। इसका कारण हमारे देश मे सामाजिक विकास की भिन्नता है। जिस समय यूरुप में नयी भाषाओं और नये राष्ट्रों का जन्म हो रहा था, उसी के आसपास भारत में भी नयी भाषाओं का जन्म तथा विदेशी आधिपत्य का आरंम्भ हो रहा था। यदि हिन्दुस्तान का सामन्तवादी ढाँचा अलग छोड़ दिया जाता तो बहुत संभव था कि यूरुप की तरह यहाँ भी अलग-अलग छोटे-बडे राष्ट्र बन जाते जहाँ अलग-अलग भाषाएँ बोली जाती। यूरुप में जब तक रोमन साम्राज्य रहा, यूरुप की एकता कायम रही परन्तु जब वह साम्राज्य विश्रृंखल हुआ, तब छोटे-बड़े राष्ट्रों ने उसका स्थान ले लिया। भारतवर्ष में मुग़ल साम्राज्य औरंगजेब के समय तक अपने विस्तार के लिये प्रयत्नशील रहा और सदा ही—अकबर के सयय में भी—उसे अपनी सत्ता की रक्षा के लिये सचेत और सचेष्ट रहना पड़ा। जब मुग़ल साम्राज्य छिन्न-भिन्न हुआ, तब उसके मलवे पर सुदूर यूरुप की अनेक व्यापारी शक्तियों ने अपना साम्राज्य कायम करने की कोशिश की

लेकिन उस प्रतिद्वंदिता मे जीत केवल ब्रिटेन की हुई। ब्रिटिश छत्र-छाया में भारतीय पूँजीवाद का जन्म हुआ, परन्तु वह ब्रिटिश पूँजीवाद से टक्कर न ले, इसलिये उसे यथासभव निराहार ही रखा गया। पूँजीवाद के साथ हिन्दुस्तान मे एक विशाल मध्यवर्ग का जन्म हुआ जिसकी दशा अन्य देशो के मध्यवर्ग से बहुत कुछ गिरी हुई थी। नयी राष्ट्रीय चेतना और नये साहित्यिक जागरण मे इसका विशेष हाथ था। इस मध्यवर्ग का किसानो से काफी संपर्क था, बहुत से लोग किसान-वर्ग से ही आकर नागरिक मध्यवर्ग मे शामिल हुये थे। इस वर्ग की अच्छाइयो और बुराइयों, दोनो का ही हमारे साहित्य पर प्रभाव पड़ा है।

भारतीय मध्ययुग में जब सामतवाद अपने वैभव के दिन देख चुकने के बाद घरेलू लड़ाइयों का रूप ले रहा था, तभी उसे विदेश के, कभी सगठित कभी अलग-अलग, आक्रमणकारियो का सामना करना पड़ा। जो लोग हिन्दुस्तान में अपना नया साम्राज्य स्थापित करना चाहते थे, उन्हे इस्लाम के धार्मिक सगठन से सहायता मिली। भारतीय सामंतवाद विदेश की इन सगठित शक्तियों के सामने न टिक सका। कुछ लोग आक्रमणकारियो से मिल गये, कुछ खेत रहे और कुछ अन्त समय तक लड़ते रहे। मुगल साम्राज्य का प्रथम काल हिन्दी साहित्य का वीरगाथा काल है। इस साहित्य मे बहुत कुछ तो सामन्तों की रुढ़िगत प्रशसा है, उनकी प्रेम कहानियों का वर्णन है, परन्तु कहीं-कही उसमें विरोध के चिन्ह भी हैं और नये साम्राज्य के प्रति ललकार है। अकबर के समय में इस साम्राज्य की जड़ें काफी मजबूत हो गई। अकबर ने देखा कि विश्रृङ्खल होने पर भी भारतीय सामतवाद का अन्त अभी जल्दी नहीं हो रहा; इसलिए उसने विद्रोही सामतों से यथाशक्ति समझौता करने की कोशिश की। यह समझौता उच्च वर्गो का था। भारतीय किसान-

वर्ग वैसे ही त्रस्त रहा जैसे पहले। अकबर की आर्थिक व्यवस्था से शोषण नियमित अवश्य हो गया । इस समय दो प्रकार की साहित्यिक धाराओं का जन्म हुआ। एक भक्त कवियो की, दूसरी दरबारी कवियों की। मुगल साम्राज्यवाद से समझौता करने के बाद कुछ समय के लिये भारतीय सामन्तवाद ने सुख की साँस ली। राजाओं की प्रशसा के गीत गाये जाने लगे और नायिकाओ के हावभाव कटाक्षो आदि के वर्णन से चाटुकार कवि अपने आश्रयदाताओ को रिझाने लगे। यह परम्परा काफी दिन तक जीवित रही, परन्तु उन्नीसवी शताब्दी के अन्त मे इसको दबा दिया गया और अब वह साँसे लेती भी नही दिखाई देती। कभी-कभी उसके हिमायती यों ही भूली बातो को याद करके उबल पडे, वह बात दूसरी है ।

इन दरबारी कवियों के साथ इनसे बिल्कुल विपरीत दूसरी परिपाटी के कवि थे—सत कवि। इनका सम्बन्ध राज दरबारो से न था। ये साधारण जनता के बीच मे जीवन बिताते थे और अपने गीतो से जनता मे जीवन की आशा जगाये रहते थे। इन संत कवियों में सबसे उग्र और विद्रोही मनोवृत्ति के थे कबीर। उन्होंने हिन्दू मुसलमानों के धार्मिक आडबरों को एक साथ चुनौती दे कर सामतवादी रूढ़ियो को ललकारा। समाज के नीचे से नीचे वर्गों से उनका संपर्क था। इन वर्गों मे कबीर ने एक आत्म-सम्मान की भावना जगाई। ईश्वर एक है; वह हमारा भी है; कोई उच्चवर्ग या उच्चकुल मे पैदा होने से ही बड़ा नहीं हो जाता। कबीर ने उन लोगो की भी खूब खबर ली जो एक ओर तो इस्लाम की महत्ता घोषित करते थे, परन्तु दूसरी ओर जनता को लूटने खसोटने में किसी तरह की कमी न करते थे। कबीर का काफी विरोध हुआ, जैसा कि उनकी इस पंक्ति से भी मालूम होता है— "साँच कहो तो मारन धावै झूठे जग पतियाना।" परन्तु खरी कहने में उन्होने कभी सकोच नही किया।

कबीर की प्रतिभा वास्तव में ध्वंसात्मक थी। उनके दार्शनिक विचार उलझे हुए हैं और सामाजिक दृष्टि से उनके रहस्यवाद में रचनात्मक तत्व कम है। इसके विपरीत तुलसीदास की प्रतिभा मूलतः रचनात्मक थी। विनयपत्रिका के अनेक पदों से देश की वास्तविक दशा पर कठोर प्रकाश पड़ता है। तुलसीदास ने अपने जीवन में घोर गरीबी के कष्ट भोगे थे। बाल्यकाल में उनकी दशा अनाथ बच्चों जैसी रही थी। पेट की आग क्या होती है, इसे वह अच्छी तरह जानते थे। "आगि बड़वागि ते बड़ी है आगि पेट की"—यह उक्ति उन्हीं की है। उनके रामचरितमानस का जो प्रभाव भारतीय समाज पर पड़ा है, उस पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। यह काव्य प्रधानतः एक भक्त कवि की रचना है परंतु ऐसे भक्त की जो भक्त को भगवान से बड़ा समझे। राम भी चित्रकूट गये थे और भरत भी, परंतु बादलों ने जैसी शीतल छाया भरत के लिये की वैसी राम के लिये भी नहीं की। ऐसे भक्त कवि की रचना का जितना प्रभाव भक्त हृदयों पर पड़ा, उससे कहीं अधिक उसका प्रभाव सामाजिक व्यवस्था पर पड़ा।

मुग़ल साम्राज्य जब अपने वैभव की सीमाएँ पूर्णरूप से विस्तार कर चुका था, उसी समय उस पर दो ओर से आक्रमण होने लगे थे—उत्तर में सिक्खों द्वारा और दक्षिण में मराठों द्वारा। दक्षिण में इस नये जागरण के नेता थे शिवाजी। वह एक साधारण परिवार में उत्पन्न हुये थे और केवल अपनी असाधारण क्षमता के बल पर एक स्वतंत्र राज्य स्थापित कर सके थे। जैसे वह चतुर थे, वैसे ही साहसी भी थे। उन्होंने मराठा किसानों को एक नया जीवन दिया और अपनी उदार व्यवस्था के कारण किसानों के प्रिय हो गये। शिवाजी की सफलता का रहस्य यह था कि उन्होंने किसानों को ताल्लुकदारी जंजीरों से मुक्त किया। मराठा शक्ति के ह्रास का कारण इसी ताल्लुकदारी व्यवस्था का पुनः सिर उठाना था। सिक्खों का संगठन

भी पचायती ढंग का था परतु बाद में उनमें कुछ सर्दारों का ऐसा प्रभुत्व हो गया जो जनशक्ति का उपयोग अपने स्वार्थ के लिये करने लगे। शिवाजी के नेतृत्व मे जनशक्ति का जो सगठन हुआ, उसका प्रभाव भी साहित्य पर पड़ा। भूषण के छन्दों में जहाँ-तहाँ यह जन-ध्वनि सुनाई पड़ती है। परतु भूषण आरंभ से ही दरबारों मे रहे थे और तुलसीदास के विपरीत जन कवि न हो कर एक दरबारी कवि थे। नायिका भेद को अपना काव्य-विषय न बनाकर उन्होंने अपने आश्रयदाताओं पर छन्द लिखे थे। फिर भी उनके आश्रयदाता असाधारण व्यक्तित्व के लोग थे। और उनमे लोक नेताओ के गुण विद्यमान थे। भूषण अपनी धारा के अकेले कवि न थे। रीतिकाल मे ही वीरगाथा काल का एक छोटा-सा नूतन आविर्भाव-सा हो गया था; परतु "वीररस" के इन कवियों को अधिक लोकप्रियता न मिली, उसका कारण यह था कि वे अपने आश्रयदाताओं के भक्त पहले थे, देश के भक्त बाद को।

१६ वीं शताब्दी में डगमगाते मुग़ल साम्राज्य और ध्वस्त सामतवाद की मुठभेड़ यूरुप के नवीन पूँजीवाद से हुई। यह पूँजीवाद अन्य देशों की अपेक्षा इंगलैंड मे अधिक विकसित हो चुका था। इसलिये यूरुप की अन्य शक्तियाँ हिन्दुस्तान की लूट में अंग्रेजो के सामने न टिक सकी। सन् '५७ तक यह पूँजीवादी साम्राज्य अपना विस्तार करता रहा। मुग़ल साम्राज्यवाद कुछ तो भारतीय जन-सघर्ष के कारण, कुछ अपनी कट्टर धार्मिक नीति और विलासिता के कारण और अधिकाशतः अपनी सामंतवादी बुनियाद के कारण इस नये उद्योग-धधों की बुनियाद पर तैयार किये गये ब्रिटिश पूँजीवाद का सामना न कर सका। सन् '५७ में बुझने के पहले उसने अतिम साँस ली। किसी हद तक उसे जनता की सहानुभूति भी प्राप्त थी। मुग़लो के आक्रमण के समय कुछ जमींदार, ताल्लुकेदार, राजा आदि उनसे

लड़े थे और बहुत से उनसे मिल गये थे, उसी तरह इस विद्रोह मे भी इस वर्ग के बहुत से लोग जूझ गये और बहुत से अँग्रेजो की सहायता करने के कारण बन भी गये। सन् '५७ के इस नये अनुभव से लाभ उठाकर अँग्रेजो ने राजाओ और ताल्लुकेदारो से मैत्री का व्यवहार स्थापित कर लिया और ये लोग जन-आन्दोलन को दबाने में अग्रेजों से होड़ करने लगे। सन् '५७ के बाद की साम्राज्यवादी व्यवस्था का भारतीय साहित्य पर नया प्रभाव पड़ा।

बगाल में नवीन साहित्यिक धाराओं का पहले ही जन्म हो चुका था। उर्दू में ईरानी कविता के ढग पर दरबारी कविता ने गुल बुलबुल की सहायता से अपना एक नया चमन आबाद कर लिया था। कफस और सैयाद के शायर कुछ दरबारो में बद थे। सन् '५७ मे कुछ दरबार नष्ट हुए, कुछ नये बन गये। हैदराबाद, रामपुर और लखनऊ ने दिल्ली की बुलबुलो को आश्रय दिया। मुगल साम्राज्य के नष्ट हो जाने से एक ऐसे वर्ग ने भी उर्दू साहित्य को प्रभावित किया जो उस नष्ट साम्राज्य की स्मृति में आँसू बहाता था और इस्लामी एकता को राष्ट्रीयता से बड़ा मानता था। इस वर्ग के प्रतिनिधि थे सर सैयद अहमद खाँ। उस वर्ग को साहित्यिक वाणी दी मौलाना हाली ने। उन्होने इस्लाम के उत्थान-पतन पर अपना प्रसिद्ध काव्यग्रंथ लिखा।

उन्नीसवी शताब्दी के अत मे—जब इंगलैंड में विक्टोरियन युग की शाति थी—हिंदी के आधुनिक युग का आरंभ हुआ। नायिका-भेद वाली कविता की परिपाटी पर काफी कविता हुई और उस परंपरा को खड़ी बोली के कवियों ने ही नष्ट किया। ब्रजभाषा और खड़ी बोली की प्रतिद्वदिता सास्कृतिक दृष्टि से लाभकारी सिद्ध हुई। खड़ी बोली के कवियों ने उस दरबारी सस्कृति का भी बहिष्कार किया जिसका ब्रजभाषा से घनिष्ठ सबन्ध था। उर्दू मे इस तरह

की प्रतिद्वंदिता न थी; फलतः कुछ लोगों ने यह समझा और अब भी समझ रहे हैं कि दरबारी कविता का उर्दू के साथ कोई आध्यात्मिक संबंध है।

भारतेंदु युग के साहित्य मे बहुत सी प्रवृत्तियाँ काम कर रही थी। यह स्वामी दयानद का युग था जब रूढ़िगत धार्मिक भावनाओ पर प्रहार हो रहा था और नये-नये सुधारों के लिये आंदोलन छिड़ा हुआ था। हिन्दी के अधिकाश लेखकों ने स्वामी दयानन्द की कट्टरता से अलग रह कर उनके सामाजिक क्रांति वाले पहलू को अपना लिया। भारतेन्दु और उनके साथियो ने अपने साहित्य में सामाजिक रूढियो के प्रति तीव्र आन्दोलन किया। इस कारण उनका काफी विरोध हुआ। राधाचरण गोस्वामी के पिता उन्हे भारतेन्दु से मिलने न देते थे, यह सोचकर कि बेटा क्रिस्तान हो जायगा। भारतेन्दु युग के साहित्य का वह भाग, जिसका सम्बन्ध राजनीति से है और भी महत्वपूर्ण है। कुछ कविताओं मे महारानी विक्टोरिया का गुणगान है और ब्रिटिश सरकार के प्रति भक्ति का प्रदर्शन है। परतु देश के दुर्भिक्ष, महामारी, टैक्स आदि ने लेखकों की आँखे खोल दी और इनको लेकर उन्होंने जनता को चौकन्ना करने मे अपनी ओर से कुछ उठा न रखा। यह नवीन राजनीतिक चेतना पद्य की अपेक्षा गद्य मे अधिक प्रकट हुई। उस समय की पत्र-पत्रिकाओ मे इस तरह की रचनाएँ भरी पड़ी हैं। व्यग्य और हास्य इस साहित्य की विशेषताएँ है और कोई भी लेखक अपनी रचनाओं को इनसे निर्लिप्त नहीं रख सका।

भारतेंदु ने एक घोषणा प्रकाशित की थी जो आधुनिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। उन्होने लिखा था कि जनता मे नवीन चेतना फैलाने के लिये ग्रामीण भाषाओं का सहारा लेना चाहिए। गीत ग्रामीण भाषाओं मे लिखे जायँ और गायको से उन्हे गवाया जाय। उन्होंने उन विषयो की एक सूची भी दी थी, जिन पर वह इस तरह

का लोक साहित्य रचा जाना आवश्यक समझते थे। इनमें बाल-विवाह आदि सामाजिक कुरीतियों से लेकर स्वदेशी और देश प्रेम तक अनेक विषय हैं और वे भारतेंदु के प्रगतिशील नेतृत्व पर काफ़ी प्रकाश डालते हैं। भारतेन्दु युग में पत्र-पत्रिकाओ के प्रकाशक बहुधा लेखक ही होते थे। पत्रिकाएँ दो आने, चार आने की होती थी। अनेक कठिनाइयों का सामना करने पर भी इन लेखको ने वर्षों तक अपनी पत्रिकाओं को जीवित रखा। २०वी शताब्दी के आरभ में पुस्तक-प्रकाशन से लाभ उठाने वालो की संख्या बढ़ गई। इसका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा। वह मौज, वह फक्कड़पन, वह हेकड़ी अब नही रही। खरी बात कहने के लिये अब गुजाइश कम थी। पूँजीवादी "प्रकाशको" के पत्रों में "उच्च कोटि का" साहित्य प्रकाशित होने लगा और वह लड़ाई जिसे लेखक तरह तरह के विरोधियो से लड़ रहे थे, कुछ समय के लिये बन्द-सी हो गई।

बीसवी शताब्दी के आरंभ में साहित्यिक प्रगति की दृष्टि से पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा उनके साथियों ने जो महत्वपूर्ण काम किया, वह पद्य में खड़ी बोली को प्रतिष्ठित करना था। खड़ी बोली और ब्रजभाषा की लड़ाई भारतेन्दु के पश्चात् ही शुरू हो गई थी परन्तु द्विवेदी युग में संघर्ष और तीव्र हुआ और ब्रजभाषा के समर्थकों को दिखाई देने लगा कि अब पद्य के लिये ब्रजभाषा का ही प्रयोग हो, यह असभव है। वे अब यह माँग करने लगे कि कविता खड़ी बोली में भी हो लेकिन ब्रजभाषा का माधुर्य भी स्वीकार किया जाय और उसमे लिखने वालों को बुरा-भला न कहा जाय। पत्र-साहित्य की उन्नति में द्विवेदी जी का बहुत बड़ा हाथ था। हिन्दी में कुछ दिनों तक जो अनेक सुन्दर पत्रिकाये निकलीं, वे बहुत कुछ 'सरस्वती' से होड़ के कारण सुन्दर बन गई। द्विवेदी जी ने खड़ी बोली को एक निश्चित रूप दिया और व्याकरण तथा अन्य प्रयोगों में जो गड़बड़ थी

उसे बन्द किया। परन्तु इस सस्कार में भारतेदु युग की सजीवता भी बहुत कुछ नष्ट हो गई।

हिन्दी को द्विवेदीजी की मुख्य देन श्री मैथिलीशरणजी गुप्त थे। इनकी पुस्तक "भारत-भारती" की तुलना काका कालेलकर ने महात्मा गाधी के "हिन्द-स्वराज्य" से की है। साहित्य मे भारत-भारती ने वही किया जो राजनीति मे गाधीजी की पुस्तक ने। गुप्तजी की तरह प्रेमचन्द भी गाधीवादी थे, परन्तु दोनों में बड़ा अन्तर था। प्रेमचन्द किसानो के बहुत निकट थे, उन्हे बहुत अच्छी तरह जानते-पहचानते थे, विचारो मे नर्म होते हुये भी परिस्थितियो का चित्रण उन्हें एक क्रातिकारी लेखक की सतह तक खीच लाता था। अपने उपन्यासो में उन्होने महत्वपूर्ण सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं का चित्रण किया है। "सेवासदन" में ही उन्होने वेश्या-जीवन पर लिखते हुये उस समस्या को देश की आर्थिक पृष्ठभूमि के साथ चित्रित किया था। भारतीय कथा-साहित्य मे यह एक महत्वपूर्ण परपरा का आरभ था। "रगभूमि" से उन्होंने नये उद्योग-धन्धों से उत्पन्न होने वाली समस्याओं पर प्रकाश डाला। "कर्मभूमि" में अछूत आन्दोलन और लगानबन्दी तथा "प्रेमाश्रम" मे किसान-जमीदार संघर्ष के विभिन्न पहलुओं को चित्रित किया। "गोदान" मे उन्होने किसान-महाजन सघर्ष की कहानी, पूर्ण विस्तार के साथ, उसकी करुणा और भयानकता पर बिना पर्दा डाले हुए, कही। हिन्दुस्तान के किसानों को प्रेमचन्द की रचनाओं में जो आत्माभिव्यञ्जन मिला, वह भारतीय साहित्य मे बेजोड़ है।

प्रेमचन्द और श्री मैथिलीशरण गुप्त के साथ-साथ हिन्दी में उन नये कवियो का अभ्युदय हो रहा था जो छायावादी कहे जाते हैं। गुप्तजी को देखते हुए ये लोग नयी पीढ़ी के कवि थे। पहले अपनी कविताएँ छपवाने के लिये इन्हें इधर-उधर भटकना भी पड़ा। पतजी

को "सरस्वती" का सहारा मिला परन्तु निरालाजी की प्रसिद्ध रचना 'जूही की कली' को द्विवेदीजी ने "सरस्वती" से वापस कर दिया था। उनकी अधिकांश रचनायें पहले 'मतवाला' में छपी। प्रसाद, पन्त और निराला को लेकर हिन्दी संसार में जो वाद-विवाद आरंभ हुआ, वह अभी तक समाप्त नहीं हुआ। इनके विरोधियों में नाना कोटि के प्राणी थे। पं० पद्मसिंह शर्मा ब्रजभाषा के अनन्यप्रेमी थे। उनका हृदय ऐसा कोमल था कि उसमें "पल्लव" भी काँटे की तरह चुभ गया। आधुनिक हिंदी कविता पर उन्होंने जो आक्षेप किये, उनका सबसे अच्छा उत्तर उनकी "बिहारी सतसई" की टीका है। आशिक-माशूकों के जिन चोंचलों पर वे फिदा थे, उन्हीं के विरोध में कविता की इस नयी रोमांटिक धारा का जन्म हुआ था। अन्य विरोधियों में सबसे ज्यादा हठी पं० बनारसीदास चतुर्वेदी थे जो एक बार किसी के पीछे पड़ गए, तो उसकी प्रत्येक साहित्यिक क्रिया को ध्यान से देखा करते थे कि मौका मिलते ही उस पर टूट पड़ें। वैसे साहित्य और कविता के मर्म को समझने में अपनी असमर्थता का वह खुले दिल से इजहार भी करते थे। आधुनिक हिन्दी कविता के विरोधियों में या तो वे लोग थे जो नायिका भेद में प्रवीणता प्राप्त कर चुके थे, या वे थे, जो गुल और बुलबुल की शायरी पर रघुपति सहाय की तरह लोटन कबूतर बने हुए थे। जिन आलोचकों ने पुरातन प्रेम और व्यक्तिगत ईर्ष्या और स्पर्द्धाभाव को छोड़कर छायावादी कवियों का विरोध किया, उनमें पं० रामचन्द्र शुक्ल मुख्य थे। शुक्लजी ने हिन्दी आलोचना में स्वयं रचनात्मक कार्य किया था। दरबारी परंपरा का उन्होंने विरोध किया था और साहित्य में जन-हित की भावना को श्रेय दिया था। वह छायावादी कवियों के विरोध में आये, इसका कारण उनकी कुछ भ्रांत धारणाएँ थीं। पहली यह कि छायावादी कविता अंग्रेजी या बँगला की नकल थी, दूसरी यह कि इसकी विशेषता केवल इसकी

अन्योक्ति-प्रधान शैली थी। उन्होंने उसके विद्रोह और रचनात्मक क्षमता की ओर ध्यान नही दिया। परन्तु धीरे-धीरे उनके विचारो मे परिवर्तन हुआ था और अन्त समय मे तीव्र विरोध से उनका रुख उदार और सहानुभूतिपूर्ण हो गया था।

हिन्दी की नयी रोमाटिक कविता ने हिंदी के लिये बहुत कुछ वही किया जो इस तरह की कविता ने इङ्गलैंड मे अग्रेजी के लिये किया था। रीतिकालीन परपरा को इसने पूरी तरह खत्म कर दिया। 'पल्लव' की भूमिका मे यह विद्रोह का स्वर स्पष्ट सुनाई दिया था। अवश्य, पतजी ने रीतिकाल के साथ और बहुत से कवियो को भी लपेट लिया था। निरालाजी ने अपनी आलोचनाओ मे नये-पुराने का सतुलन किया। बिहारी और रवींद्रनाथ पर तुलनात्मक लेख लिखकर और तुलसीदास के दर्शन पर विशेष-रूप से प्रकाश डालकर उन्होने छायावादी आलोचना को एकागी होने से बचाया। मुक्तछद मे रचनाएँ करने के कारण उनके विरोधियो को अपने दिल का गुबार निकालने का अच्छा अवसर मिला और मुक्तछद के बहाने वे यथाशक्ति नयी कविता का विरोध करने लगे। परतु युग-चेतना का विकास दूसरी ओर हो रहा था, विरोधियो को मुँह की खानी पड़ी।

नयी रोमाटिक कविता ने नायक-नायिकाओं की क्रीड़ा के स्थान पर व्यक्ति और उसके भावों-विचारो को प्रतिष्ठित किया। निष्प्राण प्रतीको के बदले सजीव भावो को व्यजना द्वारा वे साहित्य को जीवन के निकट लाये। नारी केवल विलास और वासना की वस्तु बनी हुई थी, उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप उन्होने उसे देवी बना दिया। रीति-कालीन कविता दरबारी सस्कृति का पोषण करती थी। नये कवियो ने मनुष्य मात्र की महत्ता घोषित करके, विश्वबधुत्व के विचारो का प्रचार करके, धनी वर्गो के स्वार्थ के मूल पर कुठाराघात किया। दरबारी सस्कृति के प्रेमियों ने और पूँजीवाद के हितुओ ने कभी

मुक्तछंद को लेकर, कभी अश्लीलता को लेकर नयी कविता की इस देन पर पर्दा डालना चाहा। परतु उन्हे इस कार्य मे सफलता न मिली।

रोमाटिक कविता की कमजोरी है, व्यक्तिवाद। नयी समाजवादी प्रवृत्तियों के जोर पकडने से इस व्यक्तिवाद का विरोध हुआ। छायावादी कवियो ने प्रशसनीय उदारता के साथ नवीन प्रवृत्तियो के प्रति सहानुभूति दिखाई और उन्हे अपनी रचनाओ मे प्रश्रय देने की चेष्टा भी करने लगे। हिंदी मे सब से नई पीढी उन लेखको की है जो इन समाजवादी प्रवृत्तियो से प्रभावित है और साहित्य मे उन्हे स्थापित करने के लिये प्रतिक्रियावादियों से लड रहे हैं। प्रगतिशील साहित्य बहुधा छायावाद की प्रतिक्रिया कहा जाता है परतु उसका विरोध करने वालो मे कोई प्रमुख छायावादी नही है। उसके विरोधी अधिकतर वे ही लोग है जो ब्रजभाषा के लिये अब तक सिर पीट रहे हैं और हिन्दी साहित्य को प्रगति की ओर जाते देखकर अपने वर्ग-स्वार्थ की डगमगाती नैया मे बैठे हुए झख मार रहे हैं। श्री सुमित्रानदन पत ने 'रूपाभ' मे छायावाद से नाता तोड़ने की चेष्टा की और प्रगतिशील लेखको से आ मिले। 'रूपाभ' उस साहित्यिक आन्दोलन का प्रतीक था जिसमे हिन्दी साहित्य सहज गति से छायावाद से आगे प्रगति के प्रकाश की ओर बढता है।

'हस' मे नये लेखको को एक मुखपत्र-सा मिल गया और नयी प्रगतिशील शक्तियों के सगठित होने के साथ उनका विरोध भी बढ चला। 'हंस' से अलग 'विप्लव' ने भी जन-साहित्य के निर्माण में विशेष योग दिया। उसमें चिंतन और अध्ययन के बदले प्रचार और मनोरंजन की सामग्री अधिक रहती थी और बिना जाने वह उस साहित्यिक धारा की सृष्टि कर रहा था जो भारतेन्दु युग की विशेषता थी।

यहाँ पर छायावादी कवियो की कुछ गद्य-रचनाओं का उल्लेख आवश्यक है। निरालाजी के 'देवी,' 'चतुरी चमार' आदि स्केचो मे कविता की अपेक्षा जीवन का अधिक स्पष्ट और यथार्थवादी दर्शन है। पतजी ने अपनी कहानियो मे इस नये दृष्टिकोण को—कविताओं की अपेक्षा—सफलता से अपनाया था। महादेवीजी ने भी अपने रेखाचित्रों मे यथार्थ-चित्रण के उदाहरण दिये हैं। यदि उनके प्रशंसक उनको यह समझा पाते कि वेदना पर 'सूरसागर' लिखने के बदले वे अपनी सहज मानवीय संवेदना से अपने आसपास के पीडित जनसमुदाय की वेदना के चित्र खींचें तो इनसे उनका पीडा का साम्राज्य भी अधिक विस्तृत होता और हिंदी की प्रगतिशील शक्तियां को भी एक अबला का बल मिलता। वैसे तो गुप्तजी ने प्रगतिपथ से स्त्रियो का बहिष्कार-सा कर दिया था—"प्रगति के पथ मे विचरो उठो। पुरुष हो पुरुषार्थ करो उठो।" परतु यह बहिष्कार का युग नहीं है। पुरुष तो अपना पुरुषार्थ दिखावेगे ही।

कविता मे सबसे पहले पतजी ने छायावाद से नाता तोड़ा, परतु नाता पुराना था, एकबारगी इतनी आसानी से टूट कैसे जाता? पतजी से लोगो को शिकायत है कि वह पहले की ही तरह स्वप्न सौदर्य पर कविता क्यो नही लिखते। मुझे ऐसा लगता है कि वह स्वप्न सौन्दर्य से काफी दूर चले जाना चाहते हैं परन्तु वह उन्हे अपनी ओर घसीट ही लाता है। फिर भी 'ग्राम्या' मे उन्होने एक प्रयत्न किया है। यह प्रयास उस व्यक्ति का है जो स्वभाव से दुनिया की भीड़-भाड़ से दूर रहने वाला था। हिंदी के अन्य कवि तो गाँवो की धूल मे ही पले हैं, उनके लिये नये ढङ्ग की कविता एक स्वाभाविक वस्तु हो जाती है। पंतजी के भीतर अब भी एक सघर्ष है जो समाप्त नहीं हुआ। निरालाजी छायावादी कवियों में सब से अधिक प्रगतिशील रहे हैं और अप उस प्रगतिशीलता को याद

करके ही वह मानों छायावाद से नाता नही तोडना चाहते। छाया-वाद को उन्होंने ही भारतीय अद्वैतवाद का दार्शनिक आधार दिया था। इसलिये छायावाद उनके लिये रोमाटिक विद्रोह मात्र नही रहा। यह उनका जीवन-दर्शन था। वह कर्ममय जीवन की ओर ढकेलता है, सघर्ष से बचकर किसी कोने मे छिप रहने का बहाना नही है।

हिंदी के प्रगति-पथ में बहुत सी बाधाएँ है। प्रगति के विरोधी पहले से अब ज्यादा चौकन्ने हैं परन्तु उनका विरोध बहुत निर्बल है। नये या पुराने लेखकों में एक भी ऐसा नही है जो समर्थ भाव से उनकी हिमायत कर सके। हिंदी के ९९ फीसदी अच्छे लेखकों की सहानुभूति नई धाराओं के साथ है। १ फीसदी मे वे लोग है जिनकी कही पूछ नहीं है और जो विरोध द्वारा अपना जीवन सफल करना चाहते हैं, या वे लोग हैं जो अपनी जीविका वृत्ति के लिये दूसरों की देहरी पर माथा रगड़ रहे हैं। कुछ ऐसे लोग भी है जो खब्तुलहवास हैं और संसार की प्रगति से आँखे मूँदे हुए १९वीं सदी के कफस में चहचहा रहे है और अपने चहचहाने पर फिदा होकर कभी-कभी जोरो से पर भी फड़फडाने लगते है। तभी इनकी ओर लोगों का ध्यान आकर्षित होता है। प्रगतिशील साहित्य के विकास और प्रसार में प्रकाशन आदि की बाधाएँ भी है। ये बाधाएँ साधारण नहीं है और बार-बार प्रयत्न करने पर भी अभी तक दूर नही हो पाईं। युद्ध के समय उनके दूर होने की कोई सभावना भी नही है। परन्तु एक दिन वे दूर होकर ही रहेगी। नये लेखको मे प्रतिभा है, लगन है, अपनी सगठन-शक्ति को पहचान लेने के बाद अपने मार्ग मे वे किसी भी बाधा को न टिकने देंगे। हिन्दी में प्रगति की एक जाग्रत परंपरा है। राजा रईसों के संरक्षण के बिना ही हिंदी के लेखक जीवन-संघर्ष में जर्जर होकर भी साहित्य-रचना से विमुख नही हुए।

हम सबने इन लेखकों को जीवन-संघर्ष मे क्षय होते और आगे बढते देखा है। जो नष्ट हो गये है उनका वही मूल्य है जो जन-संग्राम मे जूझने वाले शहीदों का होता है। हिन्दी लेखक की परिस्थितियाँ ऐसी है जो उसे हठात् पूँजीवाद और साम्राज्यवाद का विरोधी बना देती है। जो पूँजीवाद या साम्राज्यवाद की खुशामद करे, उन्हे स्थायी बनाने मे मदद करे, प्रगति के मार्ग मे काँटे बिछाये, वह देश का शत्रु है और हिन्दी का शत्रु है, धर्म और संस्कृति के नाम पर जनता का गला घोट कर वह पूँजीवाद के दानव को मोटा करना चाहता है। उससे सभी लेखको और पाठकों को सावधान रहना चाहिये।

(मार्च '४३)

आधुनिक हिन्दी कविता

भारतेन्दु बाबू का स्वर्गवास हुए प्रायः ५५ वर्ष हुए होंगे। उनके समय मे साहित्यिकों ने खडी बोली को केवल गद्य के लिए अपनाया था। उनके पीछे जब पद्य के लिए भी खड़ी बोली अपनाने का आन्दोलन चला तो उनके समय के अनेक साहित्यिकों ने इस बात का विरोध किया। स्वर्गीय द्विवेदीजी सरस्वती के सपादक बने तब इस आन्दोलन को एक नई गति मिली। यह कहना भी अनुचित न होगा कि यह आन्दोलन तभी से ठीक-ठीक आरम्भ हुआ। द्विवेदीजी ने अब से केवल ३७ वर्ष पहले—स० १९६०—मे सरस्वती का सपादकत्व ग्रहण किया था। पतजी के 'पल्लव' को निकले अभी १५ वर्ष ही हुए हैं और उनकी 'ग्राम्या' को निकले अभी पूरा एक वर्ष भी नहीं हुआ। हिन्दी कविता की प्रगति इसीसे समझी जा सकती है। किसी भी साहित्य के लिए यह गति गर्व की वस्तु हो सकती है। भारतेन्दु के पश्चात् हिन्दी साहित्य और विशेषकर कविता मे जो परिवर्तन-आवर्तन हुए हैं, उनकी तुलना हिन्दी के ही रीतिकालीन साहित्य से की जा सकती है। रीतिकाल का साहित्य विभिन्न भाव-धाराओं से निर्मित है, जो बहुधा एक दूसरे की विरोधिनी हैं। एक ओर मतिराम की कविता है तो दूसरी ओर भूषण की। दोनों एक ही युग के कवि थे; कदाचित् एक ही माता-पिता के पुत्र भी थे। आधुनिक हिन्दी कविता में भी 'ग्राम्या' और 'दुलारे दोहावली' एक ही युग की रचनाएँ हैं। इससे हमारे युगकी प्रगति अथवा दुर्गति भली-भाँति समझी जा सकती है।

मेरी समझ मे हिन्दी के लिए यह सृजनशीलता नयी नहीं

है। मध्य युग मे महान् साहित्यिकों का अभाव नहीं रहा। कुछ पाश्चात्य देशों की अपेक्षा भारतवर्ष में मध्ययुग अधिक दिनों तक रहा, कहना चाहिए कि अभी तक है, परन्तु मध्ययुग के जैसे यशस्वी कवि हिन्दी मे हुए, वैसे बहुत कम भाषाओं के मध्यकालीन साहित्यों मे हुए होंगे। हमारे सीखने-समझने के लिए इन कवियों में भी बहुत कुछ है। विशेषकर तुलसी की भाँति संत कवियों तथा भूषण की भाँति वीर कवियो मे भाषा का वह देसीपन है, जो हम अभी तक अपने काव्य की भाषा मे नही उत्पन्न कर सके। हमारी कविता की भाषा उन कवियों की वाणी की भाँति जनता के कंठ मे नहीं बसी। परन्तु यह भी स्मरण रखना चाहिए कि हमारे युग की आयु अभी ३०-३५ वर्ष की ही है तथा इस युग मे कविता के अतिरिक्त साहित्य के अन्य अंगों का भी विकास हुआ है। आधुनिक कविता की प्रगति को देखते हुए हम कह सकते हैं कि जब हमारे देश में पूरी तरह आधुनिक युग आयेगा और हम अन्य उन्नत देशों के साथ कन्धा मिलाकर चल सकेंगे, तब हमारे मध्यकालीन साहित्य की भाँति हमारा आधुनिक साहित्य भी विश्व के आधुनिक साहित्य में अन्यतम स्थान पा सकेगा।

इस युग की हिन्दी कविता मे दो प्रधान धाराएँ रही है। एक तो श्री मैथिलीशरण गुप्त तथा हरिऔधजी वाली पुरानी परिपाटी की तथा दूसरी प्रसाद और पंतजीवाली छायावादी प्रणाली की। इनके पश्चात एक नई धारा आजकल धीरे-धीरे बन रही है, जिसे अभी 'प्रगतिशील' कह लेते है। इन धाराओं ने हिन्दी भाषा तथा साहित्य को पुष्ट किया है। यद्यपि वे कभी-कभी एक-दूसरे का विरोध करती दिखायी देती हैं, परन्तु उन्होंने अनेक प्रकार से भाव की व्यंजना-शक्ति को बढ़ाया है अथवा कवि-भावना को प्रसार दिया है। इन धाराओं के पहले जो साहित्य की परम्परा स्थापित हो चुकी थी अथवा हो रही थी, वह

नगण्य नही है। भारतेन्दु-युग मे ऐसी अनेक विशेषताएँ हैं, जिनसे आधुनिक साहित्य को जोडकर एक परम्परा स्थापित करने से लाभ होगा। भारतेन्दु-युग मे जो गद्य लिखा गया, उसमे भाषा की एक अपनी सजीवता थी, जो पीछे के परिमार्जित गद्य मे कम मिलती है। प्रतापनारायण मिश्र जैसे लेखक धडल्ले से ग्रामीण प्रयोगो को अपनाते थे, और इसीलिए उनकी भाषा मे अधिक प्रवाह और जीवन है। उनकी भाषा, मालूम होता है, बैसवाडे की धूलि मे खेली है, आज के लेखकों की भाषा, मालूम होता है, मुँह मे क्रीम लगाकर आई है। गद्य मे ही नहीं, उस काल के पद्य मे भी इस सजीवता के चिह्न मिलते हैं। यद्यपि पद्य की भाषा ब्रजभाषा थी, फिर भी जैसे जन-सपर्क के चिह्न उस काल की बहुत-सी कविताओं मे मिलते हैं, वैसे आज की कविता मे कम। उस समय के राजनीतिक वातावरण की कल्पना कीजिए, उस समय की काग्रेस की नीति का विचार कीजिए, और तब प्रतापनारायण मिश्र की ये पक्तियाँ देखिए—

बहुतेरे जन द्वार-द्वार मगन बनि डोलहि।
तनिक नाज हित दीन बचन जेहि तेहि ते बोलहि॥

बहुत लोग परदेस भागि अरु भागि न सकहीं।
चोरी चडाली करि बदीगृह पथ तकहीं॥

पेट अधम अनगिनतिन अकरम करम करावत।
दारिद दुरगन पुज अमित दुख हिय उपजावत॥

यह जिय धरकत यह न होइ कहुँ कोइ सुनि लेई।
कछू दोष दै मारहि अरु रोवन नहि देई॥

भारतेन्दु बाबू की कविता मे भी इसी प्रकार के सजीव वर्णन मिलेगे। उनकी राजनीतिक उग्रता किस सीमा तक पहुँच चुकी थी, यह आप उनकी एक पहेली से जान सकते हैं—

भीतर भीतर सब रस चूसै,
बाहर से तन मन धन मूसै।
जाहिर बातन मे अति तेज,
क्यो सखि साजन, नहि अग्रेज।

देश के लिये भारतेन्दु की मगल कामनाएँ कही-कहीं बड़े सरल ढग से व्यक्त हुई हैं, जैसे उनके—"खल गनन सों सज्जन दुखी नहि होइ, हरिपद मति रहै" छन्द मे। उस परम्परा के कवियो मे ऐसी ही सरलता, परन्तु सरलता के साथ तन्मयता भी, मिलती है। श्रीधर पाठक की ये पंक्तियाँ कितनी सरल हैं—

वंदनीय वह देश, जहाँ के देशी निज अभिमानी हो।
बांधवता मे बँधे परस्पर परता के अज्ञानी हो।
निंदनीय वह देश, जहाँ के देशी निज अज्ञानी हो।
सब प्रकार परतत्र, पराई प्रभुता क अभिमानी हो।

इन कवियों की सरलता ग्रामीणता से मिलती जुलती है, परन्तु अपनी अलकार शून्यता के भीतर वह उतनी ही सबल है। सत्य-नारायण कविरत्न, राय देवीप्रसाद पूर्ण आदि की देश-सम्बन्धी कविताएँ इसी परिपाटी की हैं। देवीप्रसाद पूर्ण कविता मे खड़ी बोली अपनाने के विरोधी थे, परन्तु खडी-बोली मे उन्होंने स्वय कविता की थी। स्वदेशी के आन्दोलन से प्रभावित होकर उन्होंने 'स्वदेशी कुडल' लिखा था। उसे और 'भारत भारती' को एक साथ मिलाकर पढ़ने से इस परिपाटी की सजीवता और उसके अटूट क्रमका पता चल जायगा। पूर्णजी ने गाढ़े पर लिखा था—

गाढ़ा, झीना जो मिलै उसकी हो पोशाक
कीजै अगीकार तौ रहै देश की नाक
रहै देश की नाक स्वदेशी कपड़े पहने
हैं ऐसे ही लोग देश के सच्चे गहने

जिन्हे नहीं दरकार चिकन योरप का काढा
तन ढकने से काम गजी होवै या गाढ़ा

आज के राजनीतिक दृष्टिकोण से उस समय की कविता मे बहुत सी बाते हमे अच्छी न लगेगी, परन्तु भाषा की यह सरलता तो ईर्ष्या की वस्तु है, उसे हमारा आदर्श होना चाहिए। यह भी ध्यान देने योग्य है कि स्वदेशी के समर्थक होते हुए भी पूर्णजी मशीन के विरोधी न थे। उन्होंने लिखा था—

भरतखड ! कल बिना तुझे, हा, कैसे कल है ?

कविता की यह परम्परा श्री मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' मे भली भाँति विकसित हुई है और श्री सोहनलाल द्विवेदी जैसे कवियो मे वह पायी जाती है। इस परपरा की विशेषता यह है कि वह पुस्तको के दर्शनशास्त्र से दूर है। वह बहुधा विशेष अवसरो के लिए विशेष परिस्थितियों से प्रभावित होकर लिखी जाती है। इसलिए उसमे एक नैसर्गिकता है, जो पुस्तको से प्रभावित कविता मे नहीं मिलती।

इसी परम्परा के अन्तर्गत वह कविता आती है, जो पौराणिक कथाओ आदि पर लिखी गई है। श्री मैथिलीशरण गुप्त का 'जयद्रथ वध' इसका एक लोकप्रिय उदाहरण है। पौराणिक कथाओं ने साहित्य और जनता के सम्पर्क को बनाए रखा है। ऐसी ही वे सब रचनाएँ है, जिनका सम्बन्ध ऐतिहासिक विषयो से है। प्रबन्ध-काव्य की परम्परा से छायावादी कवि भी प्रभावित हुए हैं, और छायावादी परम्परा से प्रबन्ध-काव्य के कवि। गुप्तजी के 'साकेत' और 'जयद्रथ वध' को एकसाथ पढने पर दोनों का अन्तर स्पष्ट हो जायगा। 'जयद्रथ वध' तब लिखा गया था जब छायावादी प्रणाली का विकास नही हुआ था। 'साकेत' पर छायावाद की पूरी छाया है, उर्मिला की करुणा छायावाद की उपज है। पुरानी परम्परा का शायद सबसे

विकृत रूप समस्यापूर्ति वाला है। परन्तु आजकल के मासिक-पत्रों में जो नब्बे सैकड़ा रोनी कविताएँ भरी रहती हैं, उनसे 'सुकवि' की समस्या-पूर्तियाँ मेरी समझ मे लाख दर्जे अच्छी हैं। छायावाद का विकृत रूप और पुरानी दरबारी कविता का विकृत रूप दोनों ही बुरे है, परन्तु इसे कौन अस्वीकार करेगा कि समस्यापूर्ति वाली परम्परा जनता के अधिक निकट थी ? समस्या-पूर्ति वाली कविता के लिए कोई यह नहीं कहेगा कि वह कवि हृदय से बरबस फूट निकली है, परन्तु उसमे मनोरञ्जन अवश्य है। साधारण जनों को समस्या पूर्ति मे चमत्कार दिखाई देता है और यह चमत्कार इस प्रकार की कविता को लोकप्रिय बनाता है। हमे समस्यापूर्ति वाली कविता मे विश्व-वेदना की मूक झंकार सुनने के लिए उत्सुक न रहना चाहिए, उसे तो हम किसी भी मासिक-पत्र मे सुन सकते हैं। हमे उसके बारे मे केवल इतना स्वीकार कर लेना चाहिए कि वह बहुत से ऐसे काम कर सकती है जो विश्व-वेदना वाली कविता नहीं कर सकती।

समस्यापूर्ति उसी परम्पराका दूसरा छोर है, जिसके एक छोर पर 'भारत-भारती' है। यह परम्परा व्यक्तिवाद की परम्परा नहीं है, इस कविता मे कवि-हृदय की व्यक्तिगत भावनाओं की प्रधानता नहीं है। कवि की भावधारा का केन्द्र वह स्वय नहीं है, उसकी कविता का केन्द्र जनता है। भारतेन्दु-युग मे लोग विशेष अवसरों के लिये कविता लिखना पसन्द करते थे, जैसे स्वय भारतेन्दु ने मिस्र मे भारतीय सैनिकों की विजय पर कविता लिखी थी और उसे एक भरे हॉल मे पढा था। प्रेमघनजी ने दादाभाई नौरोजी के काले कहे जाने पर कविता लिखी थी। विशेष राजनीतिक अवसरो के लिये कविता लिखने से साहित्य और राजनीति निकट रहते हैं। परन्तु छायावादी परम्परा ने इस परम्परा को बदल दिया है। हम कविता को कवि-

हृदय का नैसर्गिक उद्रेक समझते हैं, इसलिये यह नहीं चाहते कि कवि अपनी सरस्वती को प्रेरित करे। हम धैर्यपूर्वक उस नैसर्गिक उद्रेक की बाट जोहने के लिये तैयार रहते हैं। अधिकारातः जब कवि-हृदय में भावना उमड़ती है तो वह उसके व्यक्तित्व अथवा अहङ्कार को लेकर। राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों से जैसे उसका कवि-हृदय उमड़ता ही नहीं। यदि उमड़ता भी है तो इसलिये कि उनसे उसके अहङ्कार का सम्बन्ध है। सामाजिक परिस्थितियों के प्रति उसका विद्रोह भी करुण-रस में भीगकर निकलता है।

एक ओर सामाजिक परिस्थितियाँ है, दूसरी ओर अपना अहङ्कार लिये मध्यवित्त श्रेणी का नवयुवक कवि है। दोनों के मेल से अतृप्त पिपासा का जन्म होता है और यह अतृप्त पिपासा ही विश्ववेदना बन जाती है। नवयुवक कवि उसे आध्यात्मिक रूप दे देता है। एक आधुनिक कवि ने अपनी कविता-पुस्तक की भूमिका में इस व्यापार का समर्थन किया है। समर्थन के साथ उसने विश्ववेदना के सारे मनोविज्ञान को भी स्पष्ट कर दिया है। कवि ने लिखा है—

"आज यदि सामाजिक बन्धनों के कारण एक नौजवान या नवयुवती अपने स्नेहपात्र को प्राप्त नहीं कर सकते और यदि वे वियोग और बिछोह के हृदयग्राही गीत गा उठते है, तो यह न समझिये कि यह केवल उन्हीं की वेदना है जो यों फैल पड़ी है—यह वेदना तो समूचे संस्कृत हृदयों का चीत्कार है' 'कवियों का प्रत्यक्ष में केवल आधिभौतिक दिखाई देने वाला दुःखवाद वास्तव में आध्यात्मिक है—आज की कविता में रोदन और गायन का समन्वय हो रहा है।"

इस आधुनिक कवि ने रोदन और गायन के समन्वय से हिन्दी कविता के भण्डार को भरने का व्रत ठाना है। जो नवयुवक और नवयुवती अपने स्नेह पात्रों को नहीं पाते, उनकी वेदना कवि के लिये समूचे संस्कृत हृदयों का चीत्कार बन जाती है, मानो इस प्रकार का

चीत्कार करना भ. सस्कृति का एक लक्षण है। इस दुःखवाद को वह आध्यात्मिक भी बताता है, यद्यपि उसका कारण नवयुवक और नवयुवती का न मिल सकना ही है। छायावाद के विकृत रूप मे हमे यह न मिल सकने से पैदा हुआ अध्यात्मवाद ही पढने को मिलता है। कविता के लिये यह कहना कि वह रोदन और गायन का समन्वय है, उसकी पर्याप्त आलोचना है, यदि इस पर भी कोई उसका समर्थन करे तो वह आलोचना से परे हो जाता है।

ऐसे छायावादी कवि के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वह पुरानी परम्परा का विरोध करे। वह अपनी कविता को भीडभाड़ से जैसे बचाना चाहता है। कविता को जनता तक लाने का सहज साधन कवि-सम्मेलन है। कवि-सम्मेलन मे कवि की वाणी सुनकर पाठक के हृदय मे तुरन्त एक प्रतिक्रिया होती है और वह प्रतिक्रिया कवि तक पहुचती है। इसमे सन्देह नहीं कि साधारण श्रोताओं में धैर्य और विचार-शक्ति का अभाव होता है और कविता के चरम उत्कर्ष को ग्रहण करना उनके लिए प्रायः असम्भव होता है। परन्तु इसके साथ ही पुस्तक मे कवि का कंठ-स्वर पाठक तक नही पहुँचता। बहुत-सी बाते कवि अपने स्वर से प्रकट कर सकता है जो श्रोता जान सकता है, पाठक नहीं। यह कहना कि कविता केवल मन मे पढी जाय और कवि के स्वर को उससे दूर रखा जाय, श्रोताओं के साथ अत्याचार करना है। बहुत से लोगो को 'राम की शक्तिपूजा' और 'तुलसीदास' निरालाजी के मुँह से सुनकर बहुत-कुछ आनन्द आ जाता है; वैसे छपी हुई देखकर वे उनसे दूर भागते हैं। हमारे कवि-सम्मेलनो मे एक ओर बच्चनजी के सरल गीत गाये जायँ, और दूसरी ओर 'तुलसीदास' और 'राम की शक्तिपूजा' जैसी कठिन कविताएँ पढी जायँ, और दोनो से ही जनता का न्यूनाधिक मनोरञ्जन हो, इसे हिन्दी कविता के लिये एक शुभ लक्षण ही समझना

चाहिए। शेक्सपियर के समय में नाटको द्वारा कविता जनता के उपर्क मे आती थी, इसलिये उसमे यह सजीवता है, जो बाद के अंग्रेजी साहित्य मे बहुत कम है। यदि शैली, कीट्स या टेनीसन भी किन्ही कवि-सम्मेलनो मे अपनी कविताएँ सुनाते, तो निश्चय उनकी अनेक निर्बलताएँ कम हो जाती।

ऊपर जिस आधुनिक कवि का उल्लेख हो चुका है, उसी की भूमिका से कवि-सम्मेलनो के प्रति छायावादी दृष्टिकोण देखिये। कवि का कहना है—

"हिंदी भाषा की कविता के सम्बन्ध मे विचार व्यक्त करते समय हमारे सामने कवि-सम्मेलनो की सस्था आकर मटकने लगती है . . .. तहसील राजनैतिक कॉन्फरेस होने को हे तो कवि-सम्मेलन भी उसके साथ नत्थी है, जिला राजनैतिक सभा है तो वहाँ भी कवियों का जमाव मौजूद है. . ....स्वामी दयानन्द की निर्वाण-तिथि का उत्सव है तो वहाँ ज्वान लोग हॉक रहे है लतरानी, कृष्णाष्टमी, रामनवमी, दशहरा, दिवाली, होली, हर त्यौहार पर कवि-सम्मेलन की योजना मौजूद है। गोया जनाब, कवि-सम्मेलन क्या है, एक बवाले जान है!"

कवि महोदय ने इन कवि-सम्मेलनो की इस प्रकार भर्त्सना कर के एक अखिल भारतीय हिंदी कवि-सम्मेलन का प्रस्ताव किया है। उनकी दृष्टि मे 'हिन्दी भाषा को विश्व-वेदना की वाणी' बनना है और विश्व-वेदना की वाणी सुनने के लिये यदि एक विश्व-कवि-सम्मेलन स्थापित न हो सके तो अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन तो स्थापित हो ही जाना चाहिए।

कवि सम्मेलनों मे सुरुचि और संस्कृति का अधिक विकास होना चाहिये, परन्तु इसके लिये उनकी सख्या मे कमी करने की आवश्यकता नही। राजनीतिक कॉन्फरेन्सों और त्योहारो मे यदि कवि-सम्मेलन होते हैं तो बुरा क्या है? हमारे सामाजिक जीवन के प्रत्येक अङ्ग से

कविता क्यों न निकट सम्पर्क मे आये ? कवि का कर्त्तव्य है कि वह सामाजिक विकास मे सहायता दे, समाज के विभिन्न अङ्गों को सुरुचि और संस्कृति की ओर विकसित करने के लिए लोगों को प्रभावित करे। हमें यह न भूलना चाहिये कि उच्च कोटि की कविता जन-सपर्क से दूर रहकर नहीं पनप सकती। गुलाब का फूल धरती से अलग हवा मे नही खिलता, उसके लिए मिट्टी, पानी, हवा, सभी कुछ चाहिए। तभी उसमे रूप और गन्ध का विकास होता है।

मेरा तात्पर्य यह नही है कि लोकप्रिय कविता केवल कवि-सम्मेलनों मे होती है अथवा कवि-सम्मेलनों मे होने वाली सभी कविता लोकप्रिय होती है। श्री मैथिलीशरण गुप्त कवि-सम्मेलनों से दूर रहते है, परन्तु वे हमारे लोकप्रिय कवियों मे से हैं। कवि-सम्मेलनों मे ऐसी कविता भी लोकप्रिय हो सकती है जो सामाजिक दृष्टि से हानिकर हो – परन्तु जो स्वर की मिठास के कारण श्रोताओं को मुग्ध कर दे और वे मदक के-से नशे मे आ जायॅ। बच्चनजी के गीत अत्यन्त लोकप्रिय है, परन्तु वे एक पतनोन्मुख परम्परा के अन्तिम गीत है। उन स्वरों का न दुहराया जाना ही समाज के लिये हितकर है। यह नयी परम्परा जो आज पतनोन्मुख दिखाई देती है, प्रसादजी से आरम्भ हुई थी। प्रसादजी का 'ऑसू' हिन्दी की वेदना-धारा का उद्गम है। वैसे तो व्यक्तिवादी कवि के लिये सामाजिक सङ्घर्ष से दूर भागकर एक काल्पनिक स्वर्ग बनाने अथवा विषाद की उपासना करने के अतिरिक्त अन्य मार्ग नही रहता, फिर भी नवयुग के व्यक्तिवादी अथवा छायावादी कवियों ने हमारी संस्कृति तथा दृष्टिकोण को उदार बनाया है। परम्परा के प्रति यदि विद्रोह न हो तो वह स्वच्छ साहित्य की सरस्वती न बने। इन पिछले बीस-तीस वर्षों मे हिन्दी मे नवीन और पुरातन दोनो धाराऍ प्रवाहित रही हैं और उनका एक-दूसरे पर शुभ प्रभाव ही पड़ा है। आधुनिक हिन्दी कविता

में हमे विभिन्न सस्कृतियों का समन्वय मिलता है। गुप्तजी का 'गुरुकुल' देखिये, निरालाजी की सिक्खोपर 'समर मे अमर कर प्राण' वाली कविता देखिये और प्रसादजी के बौद्धकालीन नाटक देखिए और विभिन्न सस्कृतियों का मिलन स्पष्ट हो जायगा। प्रसादजी ने हिन्दी कविता मे पुरानी भारतीय सस्कृति को पुनर्जीवित किया है। प्रसादजी का व्यक्तित्व करुणा और प्रेम के सन्देश मे अधिक व्यक्त हुआ है, 'आँसू' की वेदना मे कम। उनके नाटकों और 'कामायनी' के आगे 'आँसू' बहुत छोटा लगता है, परन्तु जैसे कभी-कभी छोटे तालो से बडी-बड़ी नदियाँ निकलती हैं, वैसे ही 'आँसू' से एक वेदना-धारा उमड पडी। प्रसादजी के बौद्ध तथा आर्य सस्कृति के समन्वय को लोग भूल गये। प्रसादजी की करुणा करुण-रस नही है, उनके नाटको मे प्रेम के सन्देश के साथ सघर्ष भी है।

प्रसादजी से मिलती-जुलती पन्तजी की विश्वबन्धुत्व की भावना है। वे सदा से विश्वमैत्री से पूर्ण एक सुन्दर ससार की कल्पना करते रहे हैं। उन के प्रगतिवाद से भी उनके काल्पनिक ससार के सौन्दर्य मे कमी नही हुई। निरालाजी अद्वैतवादी है और साथ ही पन्त और प्रसाद से बढकर व्यक्ति अथवा व्यक्तित्ववादी। व्यक्तिवाद पन्त और प्रसाद मे भी है, परन्तु उस व्यक्तिवाद मे सबल व्यक्तित्व ने कही जगह नही पायी। निरालाजी का अद्वैतवाद चाहे जितना विशद हो, उसमे उनका व्यक्तित्व अथवा अह नही खो सकता। बहुत पहले 'मतवाला' मे उन्होंने लिखा था—

मेरा अन्तर वज्र कठोर
देना जी भरसक झकझोर

और 'परिमल' की एक कविता मे उनका अद्वैत अहम् का ही एक विकसित-रूप जान पडता है—

तुम हो महान् , तुम सदा हो महान्,

है नश्वर यह दीन भाव,
कायरता, काम्परता,
ब्रह्म हो तुम,
पद-रज-भर भी है नहीं पूरा यह विश्व-भार।

निरालाजी के इसी अहका चित्रण हमे 'राम की शक्ति-पूजा' और 'तुलसीदास' मे भी मिलता है। 'तुलसीदास' का मानसिक संघर्ष और उनके विद्रोही प्राण जो 'ज्ञानोद्धत प्रहार' करते हैं, गोस्वामी तुलसीदास के नहीं हैं, तुलसीदास और राम दोनो ही कवि निराला के दो रूप हैं। ऐसा उद्धत व्यक्तित्व मुझे अन्य किसी साहित्य के व्यक्तिवादी अथवा रोमाण्टिक कवि मे देखने को नही मिला। परन्तु यह व्यक्तित्व एक व्यक्तिवादी का है, और उद्धत है, इसीलिए उसके साथ उसकी छाया की भाँति विषाद भी है।

जिन कवियो मे यह व्यक्तित्व नष्टप्राय है, उनकी कविता मे केवल विषाद है। हिन्दी के अनेक कवियों ने आत्मघात पर बड़ी सुन्दर रचनाएँ की है। जैसे—

अपने पर मैं ही रोता हूँ,
मैं अपनी चिता सँजोता हूँ,
जल जाऊँगा अपने कर से रख अपने ऊपर अगारे!

कवि भी मनुष्य है और मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, अतः समाज को उसके इस कृत्य पर बहुत प्रसन्नता नही हो सकती। यह छायावाद का अति विकृत रूप है, जब व्यक्तिवादी कवि परिस्थितियों से हारकर अपने व्यक्तित्व को ही नष्ट कर लेना चाहता है।

हिन्दी मे प्रगतिशीलता का आन्दोलन नया है। प्रगतिशील कवियो मे बहुत से वेदनावादी और छायावादी भी भर्ती हो गये हैं। पुराना अभ्यास देर से छूटता है, वर्दी बदलने से सिपाही थोडे ही बदल जाता है! कुछ लोगो की मानव सम्बन्धी करुण कविता छाया-

वादी वेदना का रूपान्तर है। छायावाद के आलम्बन और स्थायी-सञ्चारी भाव आदि प्रगतिशील कविता मे भी मिलेगे। इसका एक अति सुन्दर उदाहरण एक प्रगतिशील कहानी मे देखने को मिला था। कहानी मे हँसिया-हथौडे का उल्लेख था, परन्तु हथौडे को चिरन्तन पुरुष कहा गया था और हँसिया को प्रकृति। पन्तजी ने कार्ल मार्क्स पर भी कविता लिखी है और गाँधीजी पर भी। मूलत. दोनो मे कोई अन्तर नही। मार्क्स गाँधीवादी है और गान्धीजी मार्क्सवादी, और दोनो ही छायावादी है।

अभी छायावादी युग का अन्त नही हुआ, नवीन कवियो के दृष्टिकोण मे पूरा परिवर्तन नही हुआ। उनकी सबसे बडी निर्बलता यह है कि उनकी भावनाओ का आधार पुस्तके है, जनता नही है। उनके भीतर अत्यधिक तटस्थता है, प्रेमचन्द की भाँति उन्होने अपने आपको जनता के बीच नही पाया। पन्तजी ने इस बात को 'ग्राम्या' मे स्वीकार किया है। 'ग्राम्या' की रचनाओ के लिए उन्होने कहा है—"इनमे पाठको को ग्रामीणो के प्रति केवल बौद्धिक सहानुभूति ही मिल सकती है। ग्राम-जीवन मे मिल कर उसके भीतर से ये अवश्य नही लिखी गयी है।" ऐसी स्पष्टता अन्य कवियो मे कम देखने को मिलती है, परन्तु पन्तजी ने बौद्धिक सहानुभूति का समर्थन किया है। उन्होने लिखा है—"ग्रामो की वर्तमान दशा मे वैसा करना केवल प्रतिक्रियात्मक साहित्य को जन्म देना होता।" यदि गाँववालो मे घुलने-मिलने का अर्थ उनके कुसस्कारो तथा अंधविश्वास को अपनाना है तो कविता अवश्य प्रतिक्रियात्मक होगी, परन्तु यदि घुलने मिलने का अर्थ उनकी वास्तविक दशा का ज्ञान करना है तो कविता का प्रतिक्रियात्मक होना आवश्यक नही। 'ग्राम्या' की एक कविता मे पन्तजी ने यह भी लिखा है:—

"देख रहा हूँ आज विश्व को मैं ग्रामीण नयन मे।"

पन्तजी के सुन्दर नेत्रों को ग्रामीण मान लेने से इस कविता को प्रतिक्रियात्मक मानना पड़ेगा। कुछ लोग इस प्रगतिशील आन्दोलन से निराश हो गये हैं और समझते है कि शेली और रवीन्द्रनाथ वाली कविता का तो अन्त होगया है। इस मशीन-युग मे कविता के लिए ठौर कहाँ? परन्तु अभी हमारे यहाँ मशीन-युग पूरी तरह आया कहाँ है? अभी भारतवर्ष मे नये उद्योग-धधो का पूरा बोलबाला नहीं हुआ। इन हताश कविता-प्रेमियो को आशा रखनी चाहिए कि आगे अभी बहुत-सी निराशावादी कविता होगी, क्योंकि मशीन-युग की बर्बरता का पूर्ण विकास होने पर अनेक कवि अपने लिए कहीं काल्पनिक स्वर्ग बनायेंगे और वे छायावादी कविता को चिरजीवी नहीं तो पुनर्जीवी अवश्य करेंगे। परन्तु जिन्हे देश और साहित्य से प्रेम है, वे इस नयी बर्बरता की ललकार को स्वीकार करेंगे और उससे युद्ध करके विजयी होंगे।

आजके हिन्दी कवि के लिए विकास-पथ खुला हुआ है। छायावादी कवियो ने भाषा की व्यञ्जना-शक्ति का विस्तार किया है, उन्होंने छन्दों में नये परिवर्तन किये हैं और अपनी कविता मे नये-नये ढङ्ग की गति को जन्म दिया है। नये कवि के लिए पुरानी परम्परा से सीखने को बहुत कुछ है। उसके सामने ऐसे आदर्श हैं, जिनसे वह सीख सकता है, जनता के लिए किस प्रकार का साहित्य लिखना चाहिए। पुस्तकों की विद्या की उसे कमी नहीं। उसमे केवल लगन और सचाई होनी चाहिए। जनता से सच्ची सहानुभूति ही नहीं जनता का निकट से ज्ञान भी होना चाहिए। भारतेन्दु से लेकर आज तक की हिन्दी कविता का विकास अति तीव्र गति से होता रहा है। साहित्य के एक विशद प्रवाह मे काव्य-धाराओं की गति एक-सी अथवा एक ही ओर को नहीं रही। परन्तु उस विशद प्रवाह की दिशा स्पष्ट है। पुरानी तथा नयी, दोनो ही परम्पराओं के कवियों मे दोष रहे हैं, परन्तु उनसे

साहित्य को जो लाभ हुआ है, उसके सामने हानि नगण्य है। नवसन्तति के कवि तब तक हिन्दी कविता को नवीन प्रगति न दे सकेंगे, जबतक उन्हे अपने पूर्ववर्ती काव्य-साहित्य का, अपनी परम्परा का ज्ञान न होगा। अपने पूर्ववर्ती कवियो से हम जितनी बातें ले सके, लेनी चाहिए, उन बातों मे जब हम अपनी नयी बाते जोडेंगे, तभी ठीक-ठीक काव्य-साहित्य का विकास सम्भव होगा।

(दिसम्बर '४०)

छायावाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

छायावाद शब्द की अनेक व्याख्याएँ हो चुकी हैं और छायावाद कविता को परखने के लिये आलोचना के अनेक मापदड बनाये जा चुके है, परन्तु 'ज्यों-ज्यो सुरभि भज्यो चहै' की तरह हिन्दी के विद्यार्थी-मृग को निकलने की राह अब भी नहीं मिली।

छायावाद के जन्म काल मे आचार्यो ने उसे बॅगला और अंग्रेजी की जूठन कहकर उसकी व्याख्या करने के कष्ट से बचना चाहा। फिर शैली-विशेष कहकर उसे टाल दिया। कुछ समर्थकों ने उसे स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह कहा और कुछ ने शिशु-कवि के लिये उसे माँ की गोद बताया। लेकिन छायावादी साहित्य व्याख्याओं की परवाह न करता हुआ फलता-फूलता रहा और हिन्दी के एक सम्पूर्ण युग पर अपनी अमिट छाप डालकर उसने हमारे साहित्य की श्रीवृद्धि भी की।

छायावाद के मुख्य स्तम्भ प्रसाद, पत और निराला रहे हैं; आगे चलकर श्रीमती महादेवी वर्मा उस धारा को पुष्ट करनेवालो मे सब से आगे रही। हमे अपनी व्याख्याओ की चिन्ता न करके इन कवियो के समूचे साहित्य का अध्ययन करना चाहिये और साहित्य के ऐतिहासिक क्रम-विकास को ध्यान मे रखते हुए उसकी विशेषताओं को परखना चाहिये। हमें यह भी देखना है कि छायावादी कविता हिन्दी ही के लिये कोई अनोखी चीज है या उस तरह की धारा दूसरी भाषाओ में भी बही है।

छायावाद के प्राथमिक विरोधियो ने बहुत छिछले ढग से इस समता को देखा था। अग्रेजी की रोमांटिक कविता और बॅगला मे

रवि बाबू के गीतो से उन्होंने नयी हिन्दी कविता की तुलना की और वे इस नतीजे पर पहुँचे कि उसमे मौलिकता नाम को नहीं है, वह भारतवर्ष की पवित्र भूमि के लिये एक विदेशी पौधा है, जो यहाँ पनप नही सकता। यदि वह विदेशी होता, तो विरोध की आंधियो मे कभी का निर्मूल हो कर शून्य मे विलीन हो गया होता। परन्तु वह कोई ऐसा अनुपम और अद्वितीय देशज भी नहीं है, जो भारतवर्ष की धरती मे ही पनपा हो और उसे देखते हुए विदेशी भूमि बञ्जर ही लगती हो।

रवि बाबू को किसी जमाने में बगाल का शेली कहा जाता था और निरालाजी को हिन्दी का रवीन्द्रनाथ तो नही परन्तु यथेष्ट अनादर के साथ उनका अनुवर्ती अवश्य कहा जाता था। शेली, ठाकुर और निराला के युगों की परिस्थितियो मे एक बात समान रूप से विद्यमान है, और वह है पूँजीवाद का प्रारंभिक विकास। तीनों युगों मे ही यान्त्रिक पूँजीवाद से उत्पन्न होनेवाली विषम परिस्थितियो के प्रति घोर असन्तोष है; इसके साथ ही पूँजीवाद ने जो पुरानी वर्ग-शृङ्खलाओ को झकझोर कर आत्मविश्वासी पथिकों के लिये नये सगठन और नयी प्रगति का मार्ग निश्चित किया, उसकी चेतना भी इन कवियों मे विद्यमान है। सामाजिक पृष्ठभूमि मे समानता है, तो समाज को प्रतिबिंबित करनेवाले साहित्य मे भी समानता होनी अनिवार्य है।

मध्यकालीन शृङ्खलाओं के टूटने से मनुष्य को जो नयी स्वाधीनता मिली, उसका एक रूप व्यक्तित्व की साधना, मानव के निर्द्वंद 'अहम्' की प्रतिष्ठा, उसकी निरपेक्ष स्वाधीनता की कल्पना है। यही व्यक्तित्व, 'अहम्' अथवा निरपेक्ष स्वाधीनता उसके साहित्य का उद्गम है। नया कवि अपने अन्त: को अपनी काव्य-सरिता की गंगोत्री मानता है। दरबारी कवि ने 'जय साह के हुकुम' से प्रेरणा पाई थी; भक्त ने इष्ट के 'तरुण अरुण बारिज नयनों' से। परन्तु छायावादी

युग में यह परंपरा टूट गई। कवि अब भक्त नहीं है, न वह किसी नराधीश का चाटुकार। अपनी कविता का स्रोत वह स्वयं है, अथवा किसी रहस्यमयी शक्ति की व्यञ्जना का माध्यम बनकर स्रोत को वह अलौकिक बना देता है। इसीलिये 'आपनाते आपनि विकशि'—यह उक्ति रवीन्द्रनाथ की ही नहीं, सभी रोमांटिक और छायावादी कवियों की प्रतिभा-उर्वशी पर चरितार्थ होती है। निरालाजी ने 'पंत और पल्लव' में 'अपने' शब्द के प्रयोग की ओर इंगित किया है, परन्तु वह पन्तजी या रवि बाबू की विशेषता न होकर सभी रोमांटिक कवियों की सामान्य पूँजी है। स्वयं निरालाजी की कृतियों में—

दूर थी,
खिंचकर समीप ज्यों मैं हुई
अपनी ही दृष्टि में, (प्रेयसी)
अंधकार था हृदय
अपने ही भार से झुका हुआ, विपर्यस्त। (उप०)
देखता मैं प्रकृति चित्र—
अपनी ही भावना की छायाएँ चिर-पोषित। (रेखा)

यह 'स्व' की चर्चा हमें रहस्यवाद की ओर लाती है। छायावाद में रहस्यवाद कितना है, और जितना है, वह असली है कि नकली; छायावादी कवियों को ईश्वर का साक्षात्कार हुआ है, साक्षात्कार की उन्हें उत्कंठा भी है या नहीं,—इस पर काफी विवाद हो चुका है। बहुमत संभवतः इसी पक्ष में है कि न तो साक्षात्कार हुआ है, न है उसकी उत्कंठा। यही बात और देशों के छायावादी अथवा रोमांटिक कवियों पर भी लागू होती है। आंशिक रूप से रहस्यवाद उन सभी में मिलता है, और इसका भी कारण होना चाहिये।

यहाँ पर रहस्यवाद के प्राचीन रूपों की चर्चा न करके रोमांटिक कविता के रहस्यवाद के दो पहलुओं पर ध्यान देना काफी होगा।

एक तो वह रूप, जिसमे वह अहम् का ही असीम विस्तार है—'पदरज भर भी है नही पूरा यह विश्वभार' अर्थात् नये युग मे 'रज' की निरपेक्षता चरम सीमा को पहुँच गयी है। दूसरा रूप वह है जब 'रज' परास्त होकर रहस्य की कल्पना मे पलायन का बहाना ढूँढती है। एक मे विस्तार और अतिरंजित स्वाधीनता है, तो दूसरे मे पराजय का अथाह सागर और आत्मघात। पूँजीवाद से इन दोनों ही रूपों का घनिष्ठ सबध है। सामन्तवादी युग की शृङ्खलाएँ छिन्न होने से जहाँ मुक्ति की अतिशयता का भान होता है, वहाँ नये बन्धनो के दृढ होने पर यही अतिशयता पराजय और पलायन की भावना मे भी बदल जाती है। पूँजीवाद के आरभ काल मे नयी आशाओ से आन्दोलित कवि-हृदय मे पहला रूप जाग्रत होता है : पराजयवादी रहस्यवादी रूप बहुधा आगे का होता है। छायावादी कविता मे विद्रोह और पलायन, ओज और करुणा, ससार को चुनौती और दीनतापूर्ण आत्मनिवेदन—इन विरोधी भावो का कारण पूँजीवादी युग की असगतियाँ हैं, जो स्वाधीनता की भावना को जगाती है परन्तु उन्हे पूर्ण नही कर सकती।

यह पलायन अनेक रूपों मे प्रकट होता है। कवि ऐसे युग की कल्पना करता है जब ससार मे सुख ही सुख था। प्रथम, आदिम जैसे शब्दों की भरमार का यही कारण है, जो सृष्टि के आरभ मे था, वह निष्कलुष और सुन्दर था। 'आदिम बसत प्राते' के अतिरिक्त मध्यकाल का ऐश्वर्यमय जीवन बडा भला लगता है। सामंतशाही के बन्धन भूल जाते हैं, जिनके टूटने से कवि ने ये स्वप्न देखना सीखा है। मध्यकाल न सही तो और कोई युग कवि के लिये न्यूनाधिक रूप मे आदर्श बन जाता है। पुरातन युगो के चितन मे सदा पलायन का ही भाव नही रहता, कवि अपनी सस्कृति की प्रगतिशील परपरा की रक्षा भी करता है। प्रसादजी ने बुद्धकालीन भारत की सास्कृतिक

देन की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। निरालाजी ने अद्वैत मत को अपने चिंतन का आधार बनाया है, परन्तु शंकराचार्य और उनके समर्थकों के साथ प्रतिक्रिया का जो भी अंश रहा है, निरालाजी उसकी ओर सतर्क रहे हैं। 'संस्कृत के द्वारा उन्होंने दिग्विजय ही किया है, अपने मत की प्रतिष्ठामात्र की है, जाति की जीवनीशक्ति का वर्द्धन नहीं।' इतिहास के प्रति जितना सतर्क और जागरूक दृष्टिकोण निरालाजी का है, उतना और किसी कवि का नहीं है। 'प्रभावती' उपन्यास में उन्होंने बार-बार मध्यकालीन सरदारों द्वारा जनता के शोषण का उल्लेख किया है और उसे पराजय का कारण बताया है। यह दृष्टि एक युग आगे की है; छायावाद की मोहाविष्ट कल्पना नहीं है।

विद्रोह और पलायन की असंगति छायावाद के अन्य अंगों में भी मिलेगी। प्रकृति-वर्णन में छायावादी कवि मध्यकालीन कवि-कल्पना की परिधि से बाहर आकर प्रकृति से निकट संपर्क स्थापित करता है। वह प्रकृति को मानवीय संदर्भ में देखता है और मानव-जीवन से उसका नया सम्बन्ध स्थापित करता है। दूसरी ओर वह प्रकृति को रहस्यमयी भी बना देता है, जिससे वह अरूप होकर अपना अस्तित्व ही मिटा देती है, उस अरूप के बाहर और कुछ नहीं रह जाता। जीवन संघर्ष से पलायन करके वह प्रकृति की गोद में सुख की नींद सोना चाहता है। पूँजीवादी युग में विज्ञान का दुरुपयोग देखकर वह उसके सदुपयोग के प्रति भी उदासीन हो जाता है और प्रकृति को ही मानव जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये एकमात्र ज्ञानाम्बुधि मान लेता है। कुछ ऐसी ही बात नारी के सम्बन्ध में भी होती है। छायावादी कवि स्त्री-स्वाधीनता का समर्थक होता है, मध्यकालीन दासता का वह विरोध करता है। वह दो हृदयों के मिलन और बिछोह के गीत गाता है, नारी को विलास-व्यापार की पूँजी मात्र

नही समझता। परतु पूँजीवादी समाज मे नारी पूँजी की वस्तु बनी ही रहती है। उसके व्यक्तित्व के विकास पर पूँजी को पूजनेवाले समाज के कडे बन्धन रहते हैं। विवाह का आधार प्रेम नही होता, वरन पूँजी का आदान-प्रदान होता है। इधर कवि नारी की अप्सरा रूप मे कल्पना करता है, उसकी उपासना के गीत गाता है, भाव और छदो के अर्घ्य चढाता है। परतु यह न भूलना चाहिये कि वही विधवा और पत्थर ताडनेवाली मजदूरिन के प्रति भी समवेदना मे द्रवित हो उठता है। वह सामाजिक रूढियों का प्रेमी नहीं है, उनका विरोध करता है, उनसे बचकर अपनी आशाओ की पूर्ति के लिये एक स्वर्ग भी रच लेता है।

भाव-क्षेत्र के इस ऊहापोह की छाया हम व्यजना के माध्यम में भी देख सकते हैं। रीतिकाल के इने-गिने छन्दों की राह छोड़कर नया कवि बहु गीत-रूपो की प्रशस्त भूमि पर आगे आता है। आत्मनिवेदन के लिये वह सुकोमल पदोवाले गीतो को अपनाता है। उदात्त भावनाओ की व्यंजना के लिये छन्दो के नये नये समन्वय प्रस्तुत करता है। मुक्त छन्द मे वह नयी गति, नयी लय, नये प्रवाह का परिचय देता है, परन्तु यह स्वाधीनता कभी-कभी निरकुश स्वच्छदता में बदल जाती है। नये प्रतीको का प्रयोग दुरूहता का रूप ले लेता है। व्यक्तित्व की व्यजना साधारण पाठकों के प्रति अवज्ञा का रूप धारण कर लेती है। रोमाटिक कविता के पतनकाल में "स्यूर-रिअलिस्ट" (Sur-realist) (परोक्षवादो) कविता की यह गति होती है।

अस्तु, हिन्दी की छायावादी कविता की व्याख्या करने के लिये 'छाया' से लडना आवश्यक नहीं है। "छायावादी कविता स्थूल के प्रति विद्रोह है और जो कवि इस शाश्वत सत्य को चरितार्थ नहीं करना, वह कवि नही है"—इस तरह की व्याख्याओ का आधार

छायावादी कविता नहीं, आलोचक की कल्पना है। इसी प्रकार उसे पलायनवादी, प्रतिक्रियावादी कहकर लांछित करना सरासर अन्याय है। उसमें पराजय और पलायन की भावनाएँ हैं, तो विद्रोह, विजय, मानवमात्र के प्रति सहानुभूति के स्वर भी हैं। उसकी विशेषताएँ न्यूनाधिक वही हैं जो अन्य भाषाओं की रोमांटिक कविता की हैं। रहस्यवाद, प्रकृति-पूजा, नारी की नवीन प्रतिष्ठा, सांस्कृतिक जागरण, नये छंद, नये प्रतीक आदि गुण या दोष बनकर अन्य साहित्यों में भी प्रतिष्ठित हैं। उनकी व्याख्या को जैसा-का-तैसा ही उठाकर अपने साहित्य पर लागू करना भ्रामक होगा। छायावादी कविता का एकांगी अध्ययन छोड़कर उसका सर्वांगीण अध्ययन करें और उसी के बल पर उसकी विशेषताओं को परखें, तो वे देशकाल की परिस्थितियों के अनुकूल थोड़े हेर-फेर से, अन्य देशों की रोमांटिक कविता की विशेषताओं से बहुत भिन्न न होंगी।

(१९४३)

हिन्दी काव्य में व्यक्तिवाद और अतृप्त-वासना

रोमांटिक कविता की मूल-धारा व्यक्तिवाद की ओर झुकी होती है। कवि अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की ओर अधिक ध्यान देता है, समाज की आवश्यकताओं की ओर कम। व्यक्ति और समाज के संघर्ष से रोमांटिक कविता का जन्म होता है। समाज की रूढ़ियों से अपना मेल न कर सकने के कारण कवि कभी अपना स्वप्न-लोक बसाता है, कभी प्रकृति की गोद में शरण लेता है, कभी भविष्य के एक सुनहरे संसार के गीत गाता है। परन्तु रोमांटिक कवि सामाजिक परिस्थितियों से विद्रोह करके उन्हें बदलने का भी प्रयत्न करता है। रोमांटिक कविता की यही सार्थकता है; अपने विद्रोह में वह अपना लक्ष्य व्यक्ति से हटा कर समाज की ओर ले जाती है। फिर भी रोमांटिक कविता में प्रधानता व्यक्तिवाद की होती है, समाज के प्रति विद्रोह में, और एक नये संसार की कल्पना में, अपनी व्यक्तिगत आकांक्षा की पूर्ति अधिक होती है, समाज की हितकामना कम। शेली का 'प्रोमीथ्यूस अनबाउंड' इसी प्रकार की एक व्यक्तिवादी कल्पना है।

आधुनिक हिन्दी कविता में भी, जिसके सर्वश्री प्रसाद, निराला, पंत तथा श्रीमती महादेवी वर्मा प्रतिनिधि हैं, व्यक्तिवाद की भावना काम करती रही है, परन्तु सभी कवियों में वह एक समान नहीं है। सामाजिक हितकामना की दृष्टि से उसके एक छोर पर प्रसादजी हैं तो दूसरे छोर पर श्रीमती वर्मा। व्यक्तिवाद को उकसाने वाली शक्ति अतृप्त-वासना है। वासना की तृप्ति के लिए तरसता हुआ व्यक्ति पहले अपनी ही दाढ़ी की आग बुझाना चाहता है, समाज का हित उसके सामने मुख्य नहीं रहता। अंतर्द्वंद्व के कारण वह अपनी शक्तियों

को मारकर उन्हें एक सामाजिक लक्ष्य की ओर नहीं लगा सकता। अपनी वासना की तृप्ति में बाधाएँ देखकर वह बहुधा समाज से विद्रोह करता है परन्तु वह ऐसा वीर होता है कि समाज को ध्वस्त करने की प्रतिज्ञा के साथ आत्मघात की धमकी भी देता जाता है।

'अतृप्त-वासना' कहते ही यह ध्यान होता है, क्या वासना कभी तृप्त भी हो सकती है? और जब तृप्त नहीं हो सकती तब सारी कविता क्या अतृप्त-वासना के ही कारण नहीं है? अतृप्ति और साधना में अन्तर है, उतना ही जितना विजय और पराजय में। वासना को वश में करके साधना द्वारा विजय पाना और बात है, वासना की तृप्ति के साधन न पाकर लार बहाना और बात। दोनों का ही अन्त बहुधा एक अखंड अनन्त जीवन की कल्पना में होता है परन्तु विजयी वह है जो जीवित रहकर एक महत्तम शक्ति से आत्मीयता का अनुभव करता है, 'तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातु-प्रसादान्महिमानमात्मनः।' पराजित वह है जो जीवन से निराश होकर, मृत-तुल्य होकर, एक अनन्त जीवन में अपने आपको खो देना चाहता है। निराश कवि, शक्ति के ह्रास से जर्जर, अनन्त मृत्यु को अनन्त जीवन समझता है और उसे यह समझाना कठिन होता है कि उसके अनन्त जीवन की कल्पना में व्यक्तिवाद ही प्रधान है।

रोमांटिक कविता के साथ लगा हुआ रहस्यवाद वीतशोक होने का परिणाम नहीं है। निराशा, वेदना, मृत्यु-कामना का संसर्ग अधिक दिखाई देता है, जीवन का कम। निर्झर के स्वप्न-भंग में अध्यात्म-चिंतन से अधिक वासना की उथल-पुथल है:—

'उथलि जखन उठे छे वासना,
जगते तखन किसेर डर?'

इसीलिए निर्झर की रहस्यवादी क्रियाओं के साथ विवशा गोधूलि की कल्पना वर्तमान है जिसकी पूर्व में वेणी खुल गई है और पश्चिम

में सुनहरा आँचल खिसक गया है। इसीलिए लाज से विह्वल कुसुम रमणी का क्रन्दन है। प्रकृति में प्रेयसी की कल्पना और काल्पनिक नारी-सौंदर्य के चित्र इसी अतृप्त-वासना का परिणाम हैं।

प्रसादजी में अतृप्ति और व्यक्तिवाद की भावनाएँ कम हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि प्रसादजी के काव्य-ग्रन्थों में 'कामायनी' एक महाकाव्य है, 'लहर' फुटकर कविताओं का एक छोटा सा संग्रह है और 'आँसू' जिसने उन्हें वास्तव में कवि रूप में प्रसिद्ध किया, अलकारों से इतना लदा है कि 'वेदना' की दम निकल गई है। 'आँसू' की प्रसिद्धि का कारण परवर्ती कवियों का वेदना-प्रेम है। प्रसादजी ने उस पुस्तक में व्यजना को आलकारिक बनाने की इतनी चेष्टा की है कि भावना की झुठाई अपने आप प्रकट हो जाती है। अपनी प्रतिभा और जीवन को उन्होंने नाटक लिखने में अधिक लगाया। यद्यपि उनके नाटक ऐतिहासिक हैं, तो भी उनकी कथावस्तु में व्यक्तिवाद अथवा अतृप्त-वासना की प्रधानता नहीं है। उन्होंने सघर्ष के युग चुने हैं और इस सघर्ष मे त्याग और शौर्य के बल पर उन्होंने मनुष्य को विजयी होता दिखाया है। ऐसी ही कथा-वस्तु बहुत कुछ 'कामायनी' की भी है। प्रसादजी यौवन और सौन्दर्य के कवि हैं; उनमें वासना है परन्तु उसका अन्त निराशा मे कम होता है। उनमें जीवन की कामना है, मरण की नही। अतृप्त वासना के साथ तो मृत्यु-कामना आप ही चल पड़ती है।

निरालाजी के अद्वैतवाद में व्यक्तित्व की प्रधानता है। वह अपने व्यक्तित्व को बनाये रखना चाहते हैं। अन्य रहस्यवादी अपने को अद्वैत में लय कर देते हैं, निरालाजी अद्वैत को ही अपने में लय कर लेना चाहते हैं। 'केवल मैं, केवल मैं, केवल मैं, केवल मैं, केवल ज्ञान।' व्यक्ति और समाज का सघर्ष निरालाजी की रचनाओं को प्रेरणा देता है। समाज का पुनःसगठन भी उनका ध्येय है परन्तु उस

सगठन में व्यक्ति की ही प्रधानता है। 'बादल राग' नाम की कविताएँ इसका प्रमाण हैं। दूसरे नम्बर की कविता मे उन्होंने बादल की उच्छृङ्खलता, अबाध गति, उन्माद आदि पर जोर दिया है; उनका बादल आतकवादी है। छठी कविता में भी बादल का वही आतकवादी रूप है परन्तु यहाँ वह कली का निष्ठुर पीड़क मात्र नही है; उसका सम्बन्ध धनी और निर्धनों से भी है।

'रुद्ध कोष, है क्षुब्ध तोष,
अङ्गना अग से लिपटे भी
आतङ्क-अङ्क पर कॉप रहे हैं
धनी, वज्र-गर्जन से बादल !
त्रस्त नयन-मुख ढाँप रहे हैं।
जीर्ण बाहु, है शीर्ण शरीर,
तुझे बुलाता कृषक अधीर,
ऐ विप्लव के वीर !'

बादल का ध्येय जितना विप्लव है, उतना क्राति नही। कृषक स्वयं विप्लव मे भाग नही लेते—उनका विप्लव एक अकेले वीर का है, वही वीर जो 'तुलसीदास' है, 'राम की शक्ति-पूजा' में 'राम' है तथा अब विपरीत 'विकास' द्वारा 'कुकुरमुत्ता' में सब कुछ है।

जब से प्रगतिशीलता का आन्दोलन चला है, 'बादल-राग' की वह छठी कविता निरालाजी को विशेष प्रिय हो गई है। कवि सम्मेलनों, गोष्ठिया आदि मे वह उसे अनेक बार पढ चुके है। बातचीत मे भी वह कभी अपनी कविताओं में समाजवाद सिद्ध करते हैं, कभी छाया-वाद के समर्थन में कहते हैं, यदि अनन्त न होगा तो तुम अपनी रोटी रक्खोगे कहाँ! इसी से निरालाजी का मानसिक-द्वन्द्व समझा जा सकता है। वह दोनों ही लक्ष्यो की ओर झोका खाते हैं परन्तु उन्हे शाति किसी ओर नही मिलती। अपने इस द्वन्द्व से ही वह अपनी

शक्ति का परिचय देते हैं और इसीलिए उनकी कविता मे छाया-प्रकाश की जैसी चित्रकारी है, वैसो अन्यत्र कम मिलती है। फिर भी शाति तो नही मिलती और न उन दो लक्ष्यों के बीच मिलनी चाहिये। अकेला विप्लवी वीर चाहे वह अद्वैत को ही अपने भीतर क्यो न समेट ले, सामाजिक व्यवस्था मे गहरे परिवर्तन नही कर सकता। दूसरी ओर व्यक्तिवाद का अन्त जिस निराशा और मृत्यु में होता है, उससे शाति न मिलना ही अच्छा है।

निरालाजी साहित्यिक शाक्त है, इसलिए निराशा और वेदना के उनके स्वर सच्चे नही लगते। आँसुओ का सदेश—

'हमे दुःख से मुक्ति मिलेगी,—हम इतने दुर्बल हैं—
तुम कर दो एक प्रहार!'

अथवा 'विफल-वासना'—

'गूँथे तप्त अश्रुओं के मैंने कितने ही हार
बैठी हुई पुरातन स्मृति की मलिन गोद पर प्रियतम!'

ऐसी कविताओ मे निरालाजी की अलकार-प्रियता उभर आयी है। भावना में स्वाभाविकता नही रही। परन्तु ऐसी कविताओ की सख्या नगण्य नही है; उनकी ओर लोगों का ध्यान कम इसीलिए गया है कि उनमे कविता की सचाई कम है और वेदना और रुदन मे श्रीमती वर्मा ने निरालाजी को बहुत पीछे छोड़ दिया है।

पन्तजी अपनी पहली कविताओं मे स्त्री बनकर बोलते हैं—इसका उल्लेख निरालाजी ने भी किया है। निरालाजी स्वय भी इस स्त्रैण भावना से एकदम बरी नही हैं। 'तुम और मैं' के बादवाली कविता मे वह कहते हैं :—

'तृष्णा मुझमे ऐसे ही आई थी,
सूखा था जब कण्ठ बढ़ी थी मैं भी,

बार-बार छाया मे धोखा खाया,
पर हरने पर प्यास पडी थी मैं भी!'

इस कविता की नायिका बिना पानी पिये ही अपनी प्यास बुझा लेती है। बाग मे एक तालाब के पास पहुँचती है परन्तु 'खजोहरा' की प्रगतिशील बुआ की भाँति पानी मे पैठती नही है, वह छाया मे सो जाती है और सोने से ही प्यास दूर हो जाती है। सम्भव है नहाने से भी दिमाग कुछ ठण्डा हो जाता और यह झूठी प्यास न रहती। अतृप्त-वासना के कवि की वासना बहुधा झूठी ही होती है, वह जीवन से इसलिए निराश नही होता कि उसे वासना-तृप्ति के साधन नही मिलते वरन् इसलिए कि साधन होने पर भी तृप्ति मिलना कठिन होता है।

पन्तजी छायावाद के प्रतिनिधि कवि रहे हैं परन्तु उनकी समस्या औरो-जैसी सरल नही है। पहली कविताओं मे वह बालिका बनकर आते हैं और आगे के गीतो मे, बालक बनने पर भी, मधुप-कुमारी से ही गीत सीखना चाहते हैं। 'छाया' कविता में वह अपने को उसी जैसी अभागिन बताते हैं परन्तु रात मे छाया तो तरुवर के गले लगती है, कवि बेचारी वैसी ही रह जाती है!

'और हाय! मैं रोती फिरती
रहती हूँ निशि-दिन बन-बन!'

यह भी अतृप्त-वासना है परन्तु दूसरे ढग की।

पन्तजी जन-सम्पर्क से सदा दूर रहे हैं, आज भी हैं। उनकी सौन्दर्य-साधना ऐसो सलज्ज है कि सूर्य के प्रकाश में वह मुरझा जाती है। जग 'अति दुख' से तो पीड़ित है परन्तु 'अति-सुख' से कहाँ पीड़ित है, सुख-दुख का उनका बँटवारा बहुत कुछ हलुआ के साथ चटनी खाने की भाँति है जिससे हलुआ उबिठ न जाये। सौन्दर्य की कल्पना में आशा होती है; पन्तजी निराशा के कवि नही हैं। संसार जहाँ

और कवियों को रुदन और आत्मघात की ओर ले जाता है, पन्तजी को वह एक और सुन्दर ससार रचने को प्रेरणा देता है। पन्तजी का व्यक्तिवाद पलायनशील है, वह उन्हे कल्पनालोक मे ले जाता है और इस कल्पनालोक का सबसे अच्छा चित्रण ज्योत्स्ना मे हुआ है। पतजी मे विश्व-बन्धुत्व और मानव-मात्र के कल्याण आदि के भावो की कमी नही है परन्तु जो नया ससार पन्तजी बसाना चाहते है, वह मानवमात्र का न होकर उनका अपना है, जिसकी सुन्दरता मे उन्हे वही कोमलता मिलेगी जो बालिकारूप धरके प्रकृति में उन्होने देखी थी। प्रकृति में बालिका जिस भोले सौदर्न्य को देखती थी, उसी की चाह उन्हे आज भी है। उनकी मनःस्थिति ऐसी है कि सुन्दरता को खोजने के अतिरिक्त वह और कुछ कर ही नही सकते। उनका इधर का गीत 'बजी पायल छुम' बताता है, कौन-सी कल्पना उनके प्राणो में अधिक बजती है।

प्रकृति में मधुर सौन्दर्य की यह खोज बताती है कि पन्तजी की कवि-दृष्टि 'पल्लव' के समय की ही है। 'ग्राम्या' का कवि गाँवों को देखता भर है, क्या उसे प्रिय और सुन्दर लगता है और क्या अप्रिय और असुन्दर ! सघर्ष में पैठ न सकने का मूल कारण पन्तजी का व्यक्तिवाद है; व्यक्तिवाद बौद्धिक नही, वह उनकी सौन्दर्य-कामी कवि-चेतना का फल है।

'साँझ,—नदी का सूना तट,
मिलता है नहीं किनारा,
खोज रहा एकाकी जीवन
साथी, स्नेह सहारा !'

(रेखाचित्र-ग्राम्या)

नक्षत्र के बहाने पन्तजी ने अपनी ही बात कही है। और भी—

'वही कहीं, जी करता, मैं जाकर छिप जाऊँ !
मानव जग के क्रन्दन से छुटकारा पाऊँ।

प्रकृति नीड़ में व्योम-खगों के गाने गाऊँ।
अपने चिर स्नेहातुर उर की व्यथा भुलाऊँ!'

इसलिए 'ग्राम्या' पढने पर भी यही कहना पड़ता है कि पन्तजी में अब भी पलायन-प्रिय व्यक्तिवाद का कवि मिटा नही है; उन्हे अब भी अपने आश्रय के लिए नीड़ चाहिये, चाहे वह पेड़ की डाली पर हों चाहे नव-सस्कृति से सारा विश्व ही एक नीड़ बन जाय।

श्रीमती महादेवी वर्मा वेदना और रुदन की अनुपम कवयित्री हैं और उनकी वेदना में 'व्यक्ति' प्रधान है। व्यक्ति का क्रन्दन भुलाकर उन्होंने गीत में विश्व को अवश्य याद किया है।

'विश्व का क्रन्दन भुला देगी मधुप की मधुर गुन-गुन।'

खेद है कि प्रियतम और पीड़ा के खेल मे विश्व का क्रन्दन डूब ही गया है। यह ठीक है कि प्रियतम विश्व में व्याप्त हैं परन्तु इस विश्व का सम्बन्ध क्रन्दन से नहीं है, प्रियतम तो कलियों मे मुसकाते आते हैं और सौरभ बनकर उड़ जाते हैं। श्रीमती वर्मा की साधारण मनोदशा वह है जिसमे प्रियतम से अधिक पीड़ा का महत्त्व हो जाता है, जैसे कोई रोगी अपनी टीस से प्रेम करने लगे और उपचार से दूर भागे। इस पीड़ा के मूल मे अतृत-आकाक्षा अन्य कवियो के समान ही वर्तमान है।

'तुम्हे बॉध पाती सपने मे
तो चिर जीवन प्यास बुझा
लेती उस छोटे क्षण अपने मे!'

अन्य कवियों से भिन्नता इस बात मे है कि श्रीमती वर्मा अतृप्ति में ही सुखी हैं, वह उसी को तृप्ति मानती हैं।

छायावाद के प्रधान कवियों के उपरात नवीन गीतकारो मे अतृप्त-वासना छायामात्र न रह कर एक स्थूल व्यजना पा गई है। नरेन्द्रजी की रचनाओ मे जीवन से ऊब, जीवन मे आनन्द करनेवालो के प्रति

ईर्ष्या आदि के भाव स्पष्ट हैं। 'फागुन की रात' में 'गजनेरी साँड़' का वर्णन इसी ईर्ष्या का द्योतक है। 'पाँवो की हडकल' मे कवि अपनी प्रेम-क्रियाओं का वर्णन करता है—'फागुन की आधीरात' की क्रियाओ से कितनी भिन्न! नरेन्द्रजी की मनोदशा बच्चनजी के समान विकृत नही है। वह मृत्यु-कामना नही करते वरन् भाग्य के सहारे सब कुछ छोडकर ठेलमठेल किसी प्रकार जीते रहने मे विश्वास करते हैं।

'थे आगे भी सुख दुख आए,
उनको रो गा कर भोगा ही!
अब घड़ी, दो घड़ी रोए भी
फिर भी तो जीना होगा ही!'

और भी—

'ऊब गया हूँ जिससे, पूरी होती हाय न जो चलते,
इस खँडहर के बीच भाग्य की रेखा-सो है मेरी राह!'

बच्चनजी में यही ऊब और निराशा मृत्यु-कामना मे परिणत हो जाती है। जिस कविता को morbid कहा जाता है, उसका बच्चनजी में पूर्ण विकास हुआ है।

मृत्यु-कामी कवियो से भिन्न एक दल उनका है जो अपनी वासना को न दबा सकने के कारण समस्त ससार मे प्रलय मचा देना चाहते है। प्रलय-सम्बन्धी कविता इतनी हुई है कि उद्धरण अनावश्यक हैं। श्री सुधीन्द्र, अचलजी, आदि मे अतृप्त-वासना प्रलय बनकर आई है।

बहुत-सी ऐसी कविताएँ भी प्रगतिशील मानी जाती हैं जिनमे घासवाली, सागवाली, चमारिन, भिखारिन आदि को लेकर पाठक की करुणा उकसाई जाती है। ऐसी कविताएँ भी व्यक्तिवादी कहलायेगी क्योंकि इनमे व्यक्ति की करुणा उकसाना प्रधान लक्ष्य होता है। निरालाजी का 'भिक्षुक' इन कविताओं का पुराना आदर्श है।

व्यक्तिगत दया और करुणा पर हमे पहले विश्वास होता है, सामाजिक आन्दोलनों की ओर ध्यान कम जाता है।

इस थोड़ी-सी चर्चा से यह न समझना चाहिये कि आधुनिक हिन्दी कविता मे व्यक्तिवाद और अतृप्त-वासना को छोड़कर और कुछ है ही नही। पहले तो ऐसे अनेक कवि हैं जो इस धारा से अलग अपना काम करते रहे है और जिनकी कविता समाजहित के अधिक निकट है। फिर इस लेख में जिन कवियो की चर्चा है, उनमे भी अनेक स्वस्थ रचना करने मे अक्षम सिद्ध नही हुए। हमारा युग सघर्ष का युग है और लक्ष्य-प्राप्ति की चेष्टा और प्रयत्न की कठिनाई हिन्दी कविता मे भी व्यक्त हुई है। साथ ही सघर्ष से ही ऐसे व्यक्ति भी जन्मते हैं जो पलायन को आदर्श मानकर सघर्ष से जी चुराते हैं। अँग्रेजी रोमाण्टिक कविता की तुलना मे हम अपने यहाँ भी समाज-हित के काफी तत्त्व देखते हैं। और उन्नीसवी सदी के अन्त मे जो पतन Decadence फ्रास और इगलैंड मे दिखाई दिया था, उसका यहाँ शताश भी गोचर नहीं हुआ। लोग चौकन्ने हो गये हैं और कविता को स्वस्थ भाव-धाराओ की ओर ले चल रहे है। जैसे काग्रेस मे पराजयवादी भरे हुए है, वैसे साहित्य मे भी। परतु देश मे विजयकामी और विजय के लिये प्रयत्न करने वाले है, वैसे ही साहित्यिकों मे। निरालाजी के शब्दों मे—

'सिहो की माँद मे आया है आज स्यार'—

और यह व्यक्तिवाद का स्यार शीघ्र ही समाज-सिह की माँद छोड़कर भाग जायगा। भाग तो वास्तव मे वह पहले से ही रहा है, सिह ही अभी पूर्णरूप से अपनी तन्द्रा त्यागकर नही जागा।

(सितम्बर '४१)

नयी हिन्दी कविता पर आक्षेप

विद्वानो का स्वभाव होता है कि वे समालोचना मे कुछ सूत्र बनाकर उनकी सिद्धि किया करते हैं। इससे उनके और पाठक दोनो के ही हृदयो को सन्तोष होता है। इसी प्रकार नयी हिन्दी कविता पर टीका टिप्पणी करते हुए हिन्दी के अनेक विद्वान् आलोचक बहुधा तीन सूत्रों का सहारा लेते हैं। पहला—अश्लीलता, दूसरा—नास्तिकता, तीसरा—रूस की नकल। इन सूत्रों से वे नयी हिन्दी कविता को सिद्ध करके कुछ मिश्रित आशा और निराशा के स्वरों से अपनी आलोचना समाप्त करते है। आलोचना एकागी न हो, इसलिये वे दबी जबान से यह भी कह देते है कि जमाना अब बदल गया है, इसलिये कविता भी जन-साधारण के निकट आयेगी।

एक ध्यान देने की बात यह है कि ये विद्वान् इन तीनों सूत्रों की परिधि के बाहर की नई हिन्दी कविता की सफलता का उल्लेख नही करते। उन्हे यह मनवाने मे कठिनाई न होगी कि इन सूत्रो के बाहर ढेर की ढेर कविता लिखी जाती है और उसके मूल्य को आंकना भी आवश्यक है। फिर नये हिन्दी कवियो के सिवा पुराने कवियों मे उत्तम मध्यम श्रेणी के कलाकार कलम चलाना बन्द नही कर बैठे हैं। उनकी रचनाये इस युग को साहित्यिक प्रगति में क्या स्थान रखती हैं ?

पहले उन तीन सूत्रो को ले जिनका जप करके ये विद्वान् कविता के समुचित अध्ययन से बचना चाहते हैं। पहले अश्लीलता। नयी हिन्दी कविता मे अश्लील पक्तियाँ लिखी गई हैं, यह बिल्कुल सच है। लेकिन किसी महीने की तमाम हिन्दी पत्रिकाए उलट जाइये

और सच बताइये कि कवितायें पढ़कर आपकी यह धारणा होती है कि हिन्दी कविता मे अश्लीलता का रग ही गहरा है ? उन विद्वानों की प्रशसा करनी पड़ती है जो पुस्तकों से अश्लील पक्तियाँ छाँटकर उनसे अपने लेखों की शोभा बढाते हैं। जिन कवियों से वे ऐसी पक्तियाँ छाँट लेते हैं, उनके बारे मे भी वे एकबारगी ऐसा न कह सकेगे कि उनकी रचनाओं मे अश्लीलता और शृङ्गार के सिवा और कुछ है ही नहीं। देव, जयदेव और बिहारी की तरह उनकी कविता का मूलस्रोत रसराज नहीं है, न समूची खड़ी बोली की कविता मे उतनी अश्लील पक्तियाँ मिलेगी जितनी कि सिर्फ इन तीन महाकवियों की रचनाओं मे।

रीतिकालीन शृगार और आधुनिक शृगार की रचनाओ मे अन्तर है। रीतिकालीन कवियो के लिये नारी काम-क्रीड़ा की वस्तु थी—"क्रीड़ाकला-पुत्तली"। इसीलिये नायिका-भेद की भरमार हुई अर्थात् नारी की विशेषता, उसका मूल्य, उसका मनुष्यत्व किंवा देवीत्व उसके नायिकापन मे ही है। राधाकृष्ण का नाम लेने से देव या जयदेव के अदेवत्व का हरण नहीं हो सकता। नारी के प्रति इस दृष्टिकोण का अन्त किया छायावादी कवियों ने, नारी को स्वर्गलोक की परी बनाकर। उसके बाद सामाजिक बन्धनों मे जकडे हुए अतृप्त आकाक्षाओ के कवि आये, नये युग के। इन्होने नारी को नारी कहा और अपनी स्पष्टवादिता मे वे पाठको के सामने ऐसी बाते भी कह गये जिन्हे वे अपने तक ही रखते तो ज्यादा अच्छा था।

यह सब कहने का यह अर्थ नही है कि अश्लीलता क्षम्य है। भले ही हमारे गौरवपूर्ण प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य मे घोर शृगार की कविता हुई हो, हम उसका अनुकरण करने मे अपना गौरव नही मानते; न यह मानते है कि उसके अनुकरण के बिना हमारी सजीव साहित्यिक परपरा टूट जायगी। पहले अश्लीलता ज्यादा

थी, आज कम है, इससे कोई उसका समर्थन नही कर सकता। जो अश्लील कविता के विरोधी हैं, उनसे मेरा कोई विरोध नही है। उनसे मतभेद इस बात मे है कि वे कुछ छुटपुट कविताओ के नाम पर सारी नयी हिन्दी कविता को, विशेषकर प्रगतिशील हिन्दी कविता को बदनाम करते हैं। प्रगतिशीलता और अश्लीलता का कोई भी आध्यात्मिक सम्बन्ध नही है जैसा कि भक्ति और शृगार का मध्य कालीन दरबारी भक्तजनो के लिये था।

दूसरा सूत्र है नास्तिकता का। हिन्दी कवि नास्तिकता का प्रचार करते हैं, यह कोई घोर आस्तिक भी न कहेगा। सारी हिन्दी कविता छानने पर आलोचना की छलनी मे कहीं दस पाच पक्तियॉ आ पायेगी। उनके बहाने नयी हिन्दी कविता को लाछित करना उतना ही सगत होगा जितना यह पूछना कि सूर तुलसी ने रामनाम जपने के सिवा कविता कितनी लिखी है। वास्तव मे ईश्वर का विरोध वहाँ होता है जहॉ यथेष्ट जन-जागरण नही हुआ। आज कोई भी कवि यह नही लिखता—या नेता यह नही कहता—कि ईश्वर का नाम लेने से अन्न-सकट दूर हो जायगा। अन्न-सकट दूर करने के लिये वे राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय सरकार का नारा लगाते है। अधिक निराश हुये तो लार्ड वैवल का मुँह देखते है परन्तु सामाजिक कार्यों में हस्तक्षेप करने के लिये ईश्वर को कष्ट नही देते। तब ईश्वर से असन्तुष्ट होने वाला कोई व्यक्ति यह कह बैठता है कि ईश्वर नहीं है, तो उसे ईश्वर का सबसे बड़ा भक्त समझना चाहिये। नास्तिक वे नहीं है जो ईश्वर का विरोध करते है वरन् वे हैं जो उसका नाम ही नही लेते।

तीसरा सूत्र है—रूस की नक़ल। सूत्र क्या यह मत्र है जिससे विद्वान् आलोचक किसान मजदूरो की कविता को भस्म कर देना चाहते हैं। कविता मे होना चाहिये रस, सो रसराज को छोड़कर

ये कवि किसान-मजदूरो पर कविता लिखने चले हैं; कला का तो इन्होने गला घोंट दिया।

पहले तो निवेदन यह है कि हिन्दी कवियों से मिलकर यह पता लगाइये कि उन्हे कितनी रूसी कवितायें पढने को मिली हैं और अपराध क्षमा हो, यह बताइये कि स्वय आपने कितनी पढी हैं। छायावादी कविता के विरोधी उसे बगला की नकल बताकर दो चार बगला की पक्तियाँ भी उद्धृत कर देते थे। यहाँ तो वह भी नहीं, केवल मन्त्र से मार देने का प्रयास है!

दूसरी बात—जब बाबा तुलसीदास ने "बिन अन्न दुखी सब लोग मरै" और "खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि, बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी" आदि लिखा था तब किन भावी रूसी रचनाओं का उन्होने पारायण किया था? पुनः भारतेन्दु बाबू ने जब "कवि-वचन-सुधा" में राष्ट्रीय विषयों पर ग्रामीण बोलियों मे कविता लिखने की विज्ञप्ति निकाली थी, तब उन पर किस रूसी कवि की छाया पडी थी? राष्ट्रकवि ने जब "बरसा रहा है रवि अनल भूतल तवा सा जल रहा" आदि लिखा था, तब वे किस साहित्य से प्रभावित हुए थे? वास्तव मे ये सब कवि परिस्थिति से प्रभावित हुए थे, सहृदय होने के नाते भूख महामारी से भी उनका हृदय आन्दोलित हुआ था। इससे उनकी कवि-सुलभ सहृदयता में बट्टा नहीं लग गया। परिस्थितियों के प्रभाव से आँख चुराकर जो रूसी कविता का प्रभाव ढूँढने जाते है, वे स्वय किन स्वार्थों से प्रभावित है, यह स्वय देखे। कवि परिस्थिति को बदलना चाहता है तो विद्वान् आलोचक कहते है, तू रूस की नकल करता है! संसार परिवर्तनशील है। छकडे के चढने वाले व्यक्ति भी रेल मे बैठने लगे है। अब हर जगह जमींदारी जिन्दाबाद का नारा नहीं लगाया जा सकता। इन बातो को रूस की नकल बताना अपने मे अविश्वास करना है।

मानव समाज के अग्रसर व्यक्ति हमेशा से अन्याय का विरोध करते आये हैं, करते रहेगे ।

परिस्थिति—न कि रूस—के प्रभाव का एक ज्वलन्त उदाहरण "बगदर्शन" है । इस सकलन मे श्री मैथिलीशरण गुप्त, निरालाजी, श्रीमती महादेवी वर्मा आदि ने बगाल पर कविताये लिखने का ही अपराध नहीं किया है वरन् महादेवीजी ने उसकी बिक्री का रुपया भी बगाल के अकाल-पीड़ितों के लिये भेजा है । लीजिये, कवि किताबे बेचकर भूखों को रोटियाँ बॉटने पर आ गये । भारतीय सस्कृति का पतन हो गया ! साहित्य रसातल चला गया ! "बगदर्शन" का विरोध होगा, यह बात कल्पना से भी परे है, परन्तु हिन्दी मे ऐसे लेखक है जिन्होने श्री महादेवी पर रोष भरी दृष्टि डाली है कि आप भी ...! अब प्रलय के दिन दूर नही है ।

सचमुच प्रलय के दिन दूर नहीं है,—उन विद्वान् आलोचकों के लिये जो दो तीन सूत्रो को जपकर हिन्दी साहित्य की समूची प्रगतिशील परम्परा को असिद्ध कर देना चाहते हैं !

[१६४४]

युद्ध और हिन्दी साहित्य

पिछले चार-पाँच वर्षों मे ससार की कुछ बहुत बड़ी-बडी घटनाएँ हो गई हैं। युद्ध का आरम्भ, सोवियत्-सघ पर जर्मन आक्रमण, नौ अगस्त का दमन और बगाल का अकाल इस युग की ऐसी मुख्य घटनाएँ हैं जिनका प्रभाव इस युग में ही सीमित नहीं है। इन घटनाओं से हमारे देश की जनता आन्दोलित हुई है और उस जनता की आशा-निराशा का चित्रण करनेवाला साहित्य भी घटनाओ से प्रभावित हुआ है। इतिहास की इस पृष्ठभूमि पर नजर रखते हुए हम अपने साहित्य की गतिविधि परखेंगे।

पहले प्रगतिशील साहित्य के आन्दोलन के सम्बन्ध मे एक मोटी बात यह साफ़ दिखाई देती है कि पाँच साल पहले जैसे लोग 'प्रगतिशील' शब्द पर शकाएँ प्रकट करते थे, आज वह बात नहीं है। आज के लेखक मे बडी सतेज साम्राज्यवाद-विरोधी भावना है, वह मानव द्वारा मानव के शोषण को जड़ से मिटा देने के पक्ष मे है, स्पष्ट या अस्पष्ट-सी नये शोषणहीन समाज की भावना सभी लेखकों के सामने घूम रही है। अश्लीलता, नास्तिकता और रूसकी नकल के नाम पर कुछ लोगों ने इस आन्दोलन का विरोध किया है तो बहुत लोगो ने उसे युग की माँग कहकर उसका स्वागत किया है। युग की माँग का अनुभव करके ही नये और पुराने लेखक ज्यादा से ज्यादा सख्या मे ऐसे साहित्य की ओर अग्रसर हुए हैं जो युग के अनुकूल है। कवि या साहित्यकार दूर रहकर अपने एकान्तवास मे सप्राण साहित्य की रचना कर सकता है,—इस बात का दावा करनेवाले लोग अब प्रायः नहीं ही रह गये हैं

जिस समय युद्ध का आरम्भ हुआ, उस समय राष्ट्रीय साहित्य की धारा का प्रवाह मन्द न हुआ था। श्री मैथिलीशरण गुप्त 'साकेत' लिखने के बाद विश्राम करना चाहते थे, परन्तु युग की प्रगति ने उन्हे विश्राम न करने दिया। कुणाल के गीतों मे उन्होंने "बहुजन हिताय बहुजन सुखाय" का सन्देश दिया। 'कर्बला' मे साम्प्रदायिक वैमनस्य से ऊपर उठकर दूसरो की सस्कृति और धर्म के महत्त्व को समझने का सन्देश उन्होने दिया। श्री सुमित्रानन्दन पत ने अनेक प्रगतिशील रचनाएँ की जो 'ग्राम्या' मे प्रकाशित हुई। जनता को समझने और परखने का इस तरह प्रयास किया, जिस तरह पहले उन्होंने कभी न किया था। निरालाजी ने गद्य और पद्य मे नये-नये प्रयोग किये—विशेषकर व्यग्यात्मक प्रयोग। कथा-साहित्य मे प्रेमचद के साथी लेखक विश्वम्भरनाथ शर्म्मा कौशिक ने नयी कहानियाँ लिखी जिनका विषय, पुरानी सामाजिक समस्याएँ न होकर नया आर्थिक सकट था। इसके विपरीत जैनेन्द्रजी की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति और बढी और कुछ दिन बाद वह शून्य मे विलीन होती दिखाई दी। पुराने कथाकारो में बहुतों की कृतियाँ देखने को नही मिली, जैसे सुदर्शन, जनार्दन प्रसाद झा द्विज इत्यादि; साथ ही ठाकुर श्रीनाथ सिह, राजा राधिकारमणप्रसाद सिह आदि लेखक कथा साहित्य की सृष्टि करते रहे। नाटकों के क्षेत्र मे कमी बनी रही। कुल मिलाकर सन् ४२ के पहले के तीन-चार वर्षों का हिन्दी साहित्य यथेष्ट रूप से सजीव और अपने आशापूर्ण संघर्ष का द्योतक है। अभी तक युद्धजनित अर्थ-संकट और दमन ने राष्ट्रीय जीवन मे जड़ता न उत्पन्न कर दी थी।

नये लेखकों का रचनात्मक कार्य और भी तेजी के साथ हुआ। यशपाल ने अपने उपन्यास और अधिकाश कहानियाँ इसी समय में लिखीं। 'देशद्रोही' में उन्होंने युद्धजनित परिस्थितियों का चित्रण

किया। रोमाटिक उपन्यासकार भगवतीप्रसाद वाजपेयी और सर्वदानन्द वर्मा ने अपने 'निमत्रण' और 'अनिकेतन' उपन्यासों में श्रमिक-समस्याओ की ओर ध्यान दिया। नरोत्तमप्रसाद नागर ने राष्ट्रीय आन्दोलन के विभिन्न पहलुओं को लेकर व्यग्य-प्रधान 'दिन के तारे' को रचना की। श्री राहुल साकृत्यायन ने 'वोल्गा से गगा', 'सिह सेनापति' आदि प्रसिद्ध पुस्तकें लिखी।

लेकिन जहाँ राष्ट्रीय जागरूकता का प्रतिनिधित्व करनेवाले लेखक इस कोटि की रचनाएँ कर रहे थे, वहाँ कुछ दूसरे लेखक अपनी अन्तर्मुखी वृत्तियो के कारण बाहर की दुनिया से बराबर मुँह फेरते चले जा रहे थे। ज्यो ज्यो राष्ट्रीय सकट बढता गया, त्यों त्यों उनके अन्तस्तल की समस्याएँ भी उबलकर सतह पर आने लगीं। पहली श्रेणी के लेखको मे व्यक्तिवाद और रोमाटिक भावुकता का अभाव नहीं है। वरन् कभी कभी तो वह उनकी कृतियों के सामाजिक महत्व को दबा लेती है। और उनके उपन्यास प्रेमकथाएँ मात्र रह जाते हैं, जिनके ताने बाने मे कुछ रगीन तार किसान-मजदूर समस्याओं के भी होते है। परन्तु अन्तस्तल मे डुबकी लगाने वाले कलाकार बड़ी दूर की कौडी लाते हैं। उनका कहना है कि जब तक मन की ये समस्याएँ न सुलझेगी, तब तक प्रगति असम्भव है। दमन और अकाल से ज्यो ज्यों निष्क्रियता का रग गहरा होता गया, त्यों त्यो अन्तर्मन की समस्याओ मे इनका विश्वास भी दृढ होता गया। श्री इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास और लेख इस प्रवृत्ति के निदर्शक हैं।

कविताक्षेत्र मे गीतों की एक प्रबल धारा का आविर्भाव हुआ है। नरेन्द्र, दिनकर, सुमन, नेपाली, केदार, गिरजाकुमार, अञ्चल आदि नामों का स्मरण करते ही इस युग की विविध और बहुमुखी गीत-रचना का आभास मिल जाता है। एबीसीनिया पर इटली के फासिस्टों का

आक्रमण होने पर दिनकर ने मेघरभ्र में विद्रोह-रागिनी सुनी। नरेन्द्र ने देवली जेल मे सोवियत्-जर्मन युद्ध की बात सुनकर 'गीत लिखूँ क्या वीरों के जब गला घोटती हो कारा' से आरम्भ करके अनेक कविताएँ लिखी जिन्होंने उनके असमंजस को धक्का दिया। गिरजाकुमार अपनी नव-वयस्क रोमांटिक कल्पना से दूर होते हुए अधिक स्वस्थ चिन्तन की ओर बढे। 'आज अचानक बल आया है, थकी हुई मेरी बाहो मे'—इस नये चिन्तन और चेतना का प्रतीक है।

सोवियत् युद्ध से हिन्दी के अधिकांश नये कवि प्रभावित हुए है। नरेन्द्र ने लोकगीतो की धुन और उन्हीं जैसी सरल शब्दावली लेते हुए लाल फौज, स्तालिनग्राद, फासिस्ट आक्रमण आदि पर अनेक कविताएँ लिखीं। शिवमंगलसिंह सुमन की कविता "मॉस्को अब भी दूर है" उस समय लिखी गई थी, जब मॉस्को घिरा हुआ था और पराजयवादी आये दिन उसके पतन की प्रतीक्षा कर रहे थे। सोवियत् संबन्धी वह सबसे अधिक ओजपूर्ण रचना है। रांगेय राघव ने स्तालिनग्राद पर एक खंडकाव्य लिखा है, जिसमे उन्होने उस युद्ध से भारतीय जन-संग्राम का सम्बन्धसूत्र जोड़ा है। भारतभूषण अग्रवाल, नेमिचन्द्र जैन, प्रभाकर माचवे आदि ने भी सोवियत् युद्ध से प्रभावित होकर कविताएँ लिखी हैं।

गीत-रचना का यह प्रसार सन् ४२ के दमन के बाद क्रमशः क्षीण होता गया है। देश के राजनीतिक गतिरोध का गहरा असर राष्ट्रीय जीवन के सभी अंगों पर पड़ा है। वह असर हमारे साहित्य में भी दिखाई देता है। अगस्त के बाद बहुत से लेखक यह न समझ पाये कि इस उत्पात के लिये उत्तरदायी कौन है और ब्रिटिश-जर्मन युद्ध में सोवियत् के आ जाने से जो नये परिवर्तन हुए, वह भी स्पष्ट रूपरेखा में उनके सामने नही आये। गतिरोध की जड़ता ने देश मे निराशा को जन्म दिया।

फिर भी बगाल के अकाल से नये-पुराने अनेक लेखको का हृदय द्रवित हुआ और उन्होने अकाल-पीड़ितों की सहायता के लिए अपनी लेखनी का उपयोग किया। सुमन, नरेन्द्र, अञ्चल आदि की रचनाएँ साहित्य की वस्तु बन गई है। 'बगदर्शन' ने जो मार्ग प्रदर्शन किया है, वह भी भारतीय साहित्य मे गर्व करने की बात है। भारतीय सस्कृति की जननी की दु.ख-गाथा से श्रीमती महादेवी वर्मा, निरालाजी, श्री मैथिलाशरणजी गुप्त, श्री माखनलालजी चतुर्वेदी आदि का हृदय द्रवित हुआ। महादेवीजी ने बगदर्शन की भूमिका मे मुनाफा खोरी का पर्दाफाश किया और नये कवियो ने अपनी रचनाओं मे उसे आडे हाथो लिया।

फिर भी,—बगाल के अकाल से जो हलचल हिन्दी ससार मे हुई थी, वह कुछ दिन बाद शात-सी हो गई। बिखरे तार जहाँ-तहाँ झकृत हुए, परन्तु कवि-समूह का हृदय किसी राष्ट्र-व्यापी अथवा समाज व्यापी आन्दोलन से नहीं लहराया। राष्ट्र का जीवन उन्हे निस्पद और गतिहीन दिखाई दे रहा था।

यहाँ पर अपने ग्राम कवियो का स्मरण करना उचित है जो जन-जीवन के अधिक निकट होने से उसी भाँति निराशा के शिकार नही हुए। इस समय हमारे दो बहुत सुन्दर कवि पढीस और उनके पुत्र बुद्धिभद्र जीवन-सग्राम में जूझते हुए खेत रहे। आज ये जीवित होते तो अवधी के जन-साहित्य को मजबूत सहारा मिलता। फिर भी चन्द्र-भूषण त्रिवेदी उस परम्परा को आगे ले गये हैं और उनका श्रेष्ठ गीत 'धरती हमारि' किसान की अजेय चेतना का प्रतीक है। राजस्थानी, मैथिली, बुन्देलखण्डी आदि भाषाओं मे इस काल अनेक सुन्दर गीतो की रचना हुई है। बनारस जिले के रामकेर और धर्मराज ने अपने गीतों से सैकड़ों किसानो मे आशा और नवजीवन का सञ्चार किया है।

५

युद्धकालीन हिन्दी साहित्य ने अपनी सजीव और प्रगतिशील परम्परा की रक्षा की है। कविताएँ हमे नये गीत-रूप मे मिली हैं, कवि अपनी भाषा, लय और छन्द मे जनता के अधिक निकट आये हैं। कथा-साहित्य मे राहुलजी और यशपाल ने नया कदम उठाया है; अपनी कथाओं मे उन्होंने अछूते विषयो पर लेखनी उठाई है और अनूठी कथावस्तु का गठन किया है। आलोचना-साहित्य मे इधर दो वर्षों मे कुछ स्थिरता सी आ गई थी। फिर भी कुल मिलाकर युद्ध-काल में नये-पुराने साहित्य के मूल्याङ्कन और सिद्धान्तों को लेकर लेखकों और पाठको मे काफी चर्चा रही है। निराशा और गतिरोध के समय हमारे लेखक हाथ पर हाथ धरे नहीं बैठे रहे।

फिर भी, यह सत्य है कि निराशा की वह अँधेरी रात अभी बीती नही है। 'योगी' (दीपावली विशेषाङ्क) अपने 'हड्डी का चिराग' शीर्षक सम्पादकीय द्वारा आज के राष्ट्रीय जीवन की निस्पदता की ओर ध्यान आकर्षित करता है। राष्ट्रीय नेताओं का कारावास और गान्धी-जिन्ना वार्ता का भग होना इस जड़ता को बनाये रखने मे सहायक होते हैं। सभवतः यह निराशा की अँधेरी रात का अन्तिम प्रहर है, परन्तु जैसी निष्क्रियता के दर्शन हमे इस समय हो रहे हैं, वैसी निष्क्रियता सपूर्ण युद्धकाल में भी नहीं रही। इसीलिये उससे लोहा लेने के लिये आज हमें अपना सपूर्ण मनोबल सञ्चित करना है और इसके लिये सामूहिक प्रयास आवश्यक है।

गतिरोध की तह तक गये बिना जो भी प्रयास किया जायगा, वह सतह का होगा, उससे जीवन की जड़ता न दूर होगी। यह जड़ता दूर होती दिखाई दी थी जब गाँधीजी ने आत्मनिर्णय के अधिकार पर मि० जिन्ना से समझौते की बातचीत शुरू की थी। जड़ता के दूर करने का वही एक मार्ग है। कलाकारो, कवियों और लेखकों को देशव्यापी गतिरोध को दूर करने के उपायों पर विचार करना है, सामाजिक

प्रगति के अनुगामी नेताओं की हैसियत से वह वातावरण उत्पन्न करना है, जिससे आज का मतभेद दूर हो और जो समझौता आज नहीं हुआ, वह कल होकर ही रहे। साहित्य और संस्कृति मे यदि हमे गति-हीनता और जडता का अनुभव होता है, यदि गतिरोध का व्यापक प्रभाव हम अपने सारे समाज पर देखते हैं, तो हम साहित्य मे उसका चित्रण भी कर सकते हैं, उससे लड़ने के लिये अपने पाठको मे मनो-बल भी उत्पन्न कर सकते हैं। इस ओर से पराङ्मुख रहने का परि-णाम होगा अश्लील साहित्य की वृद्धि, अन्तर्मुखी प्रवृत्तियो का उन्मेष और साहित्य मे निराशाजन्य अराजकता का प्रसार।

हमारा साहित्य आज जिस दलदल मे है, उससे उसे उबारने का एक ही मार्ग है,—गतिरोध को भग करने के उद्योग मे हम अपनी लेखनी द्वारा सक्रिय सहयोग दें। हमारे नये और पुराने लेखक जो राष्ट्रीय परम्परा में पले और बढे हैं, यह सहयोग दे सकते हैं। केवल नितान्त अहवादी, स्वरति और विकृत कामभावनाओ के प्रेमी, उच्छृ-ङ्खल और अराजकवादी व्यक्ति ही इस प्रयत्न का विरोध करेगे। शेष सभी स्वस्थ मन के देशभक्त लेखको से हम सक्रिय सहयोग की आशा कर सकते हैं।

(१९४४)

स्वाधीनता आन्दोलन और साहित्य

देश मे नये सास्कृतिक और राजनीतिक जागरण के साथ-साथ आधुनिक हिन्दी का जन्म हुआ और उसका साहित्य क्रमशः विकसित होता गया। उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध मे गद्य के लिये ब्रजभाषा को त्यागना और खड़ी बोली को अपनाना एक सामाजिक आवश्यकता की पूर्त्ति था। १८५७ के पहले और कुछ दिन बाद तक विकसित और पुष्ट गद्य के बिना भी साहित्य अधूरा नही माना जाता था। लेकिन अब परिस्थितियाँ बदल रही थी। समाज मे नये उच्च और मध्यवर्गों का जन्म हो रहा था। ये वर्ग पुराने सामती वर्गो की जगह लेकर साहित्य और समाज दोनो का ही नेतृत्व करने के लिये आगे बढ़ रहे थे। इस परिवर्त्तन के फलस्वरूप जो नयी-नयी सामाजिक आवश्यकताये पैदा हुईं, उनकी पूर्त्ति के लिये गद्य-साहित्य अनिवार्य हो गया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नवीन हिन्दी गद्य की प्रतिष्ठा करके एक ऐतिहासिक कार्य किया।

उस समय के साहित्य को देखकर कुछ लोगो को आश्चर्य होता है कि सन् '५७ के विद्रोह पर कवितायें या कहानियाँ क्यो नही लिखी गयीं। जो कुछ लिखा गया है, वह बहुत ही कम है और उसमें भी विद्रोह का वही रूप नही दिखाई देता जो हमारी कल्पना में है। इसका एक कारण यह है कि उस समय की राजनीतिक चेतना का स्तर विप्लव और विद्रोह की भावना से बहुत दूर था। उच्च और मध्यवर्गों के लिये अँग्रेजी राज एक वरदान के रूप मे था जिसने देश में फैली हुई अराजकता को शान्त कर दिया था। शिक्षित लोग अँग्रेजो से आशा करते थे कि वे सामाजिक कुरीतियो को दूर करेंगे और

अँग्रेजी राज को हटाने से कम क्रान्तिकारी नहीं था। इस प्रश्न को लेकर कई दशकों तक घनघोर युद्ध होता रहा। भारतेन्दु, राधाचरण गोस्वामी आदि ने विधवा-विवाह के साथ बाल-विवाह, स्त्रियों की अशिक्षा, धार्मिक अंध-विश्वास आदि का विरोध किया। यह समाज-सुधार की भावना स्वदेशी और स्वाधीनता की कल्पना से जुड़ी हुई थी। सन् ५७ तक हिन्दी के साहित्यिकों में राष्ट्रीयता की कल्पना उभर कर न आई थी। भारतेन्दु काल में प्रत्येक सजग लेखक राष्ट्रीयता की नई कल्पना से प्रभावित दिखाई पड़ता है। प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, कार्तिकप्रसाद खत्री आदि-आदि की रचनाओं में यह नई भावना बार-बार प्रकट हुई है।

इस राष्ट्रीयता का एक उग्र और क्रांतिकारी पहलू भी था। देश में अकाल पड़ते देखकर और सरकार को तटस्थ ही नहीं, उसके लिये उत्तरदायी मानकर, कई लेखकों में बड़ा क्षोभ उत्पन्न हो रहा था। वे देख रहे थे कि अँग्रेज कूटनीतिज्ञ एशिया और अफ्रीका में अपना राज्यविस्तार करने के लिये भारत के धन-जन का दुरुपयोग कर रहे हैं। अपने जनगीतों, निबंधों और नाटकों में उन्होंने इसका तीव्र विरोध किया। ये लेखक गौरवमय अतीत को जगाकर ही संतुष्ट नहीं थे। वे एक क़दम आगे बढ़कर सामंती अत्याचार का विरोध करते थे और गाँव से हर तरह का दमन खतम करने के लिये हिन्दू-मुसलमान किसानों के संगठन की बात भी कहते थे। भारतेन्दु ने बलिया में दिये हुये अपने एक व्याख्यान में इस एकता पर काफ़ी ज़ोर दिया था। उनके शब्द इस बात के सूचक हैं कि आर्य और म्लेच्छ की भावना से आगे बढ़कर जनता दोनों के साम्राज्य-विरोधी संगठन की ओर बढ़ रही थी। भारतेन्दु ने कहा था—"घर में आग लगे तब जिठानी-दयौरानी को आपस का डाह छोड़कर एक साथ वह आग बुझानी चाहिये। बंगाली, मराठी, पंजाबी, मद्रासी, वैदिक,

जैन, ब्राह्मो, मुसलमान, सब एक का हाथ एक पकड़ो। जैसे हजार धारा होकर गङ्गा समुद्र मे मिली है, वैसे ही तुम्हारा लक्ष्मी हजार तरह से इगलैण्ड, फ्रासीस, जर्मनी, अमेरिका को जाती है। अफसोस, तुम ऐसे हो गये कि अपने निज के काम की वस्तु भी नहीं बना सकते। चारो ओर दरिद्रता की आग लगी है। अपनी खराबियो के मूल कारणो को खोजो। कोई धर्म की आड मे, कोई देश की चाल की आड़ मे, कोई सुख की आड़ मे छिपे है। उन चोरो को वहाँ-यहाँ से पकड-पकड कर लाओ। उनको बाँध-बाँध कर क़ैद करो। जब तक सौ-दो-सौ मनुष्य बदनाम न होंगे, जाति से बाहर न निकाल दिये जायँगे, दरिद्र न हो जायेंगे, कैद न होंगे, वरञ्च जान से न मारे जायँगे तब तक कोई देश भी न सुधरैगा।"

प्रगति की यह अतर्धारा साहित्य की वर्त्तमान प्रगतिशील धारा के अत्यंत निकट है। भारतेन्दु ने "कवि-वचन-सुधा" मे प्रकाशित अपनी घोषणा मे कहा था कि हिन्दी लेखको को साधु-हिन्दी मे रचना करने के साथ-साथ ग्रामीणों और अपढ किसानों और स्त्रियो के लिये भी उन्हीं की बोलियो में गीत आदि लिखना चाहिये—और इनका विषय स्वदेशी तथा समाज-सुधार होना चाहिये।' इस प्रकार साहित्य को सामाजिक उन्नति का साधन मानकर उन्होंने वह आदर्श रक्खा जिस पर चलने से ही भारत के नये साहित्य और समाज का कल्याण हो सकता था।

ये सब बाते तब हुई जब सगठित रूप से देश मे कोई स्वाधीनता आन्दोलन न चला था। सदियो से चली आती हुई सामतशाही के प्रभुत्व को पहली बार धक्का लगा और उच्च और मध्यवर्ग के नेतृत्व मे पहली बार भारत की जनता ने अपने सामाजिक और राजनीतिक स्वत्वों को पहचाना। समाज का ठहराव टूटा और उसकी नयी हलचल से हिन्दी का यह जिन्दादिल साहित्य पैदा हुआ।

पहले महायुद्ध के बाद देश की गरीबी और बढ़ी। महामारी का प्रकोप हुआ। युद्ध में किये हुये वादे एक के बाद एक टूटते गये। यही नहीं, अपने शासन को जमाये रखने के लिये अंग्रेजों का दमन भी बढ़ता गया। राष्ट्रीय आन्दोलन के सुधारवादी नेतृत्व से असंतुष्ट होकर उग्र विचार के कुछ युवकों ने सशस्त्रक्रांति के लिये छुट पुट तैयारी शुरू की। जहाँ-तहाँ षड्यन्त्र पकड़े गये। पंजाब में रौलट-बिल और जलियानवाला बाग के दृश्य दिखाई दिये। डायर ब्रिटिश साम्राज्य-वाद का प्रतीक बन गया। वैसे ही जलियानवाला बाग देश की उग्र साम्राज्य-विरोधी भावना का महामंत्र बन गया। तब से लेकर आज तक न जाने कितने गायकों और कवियों ने जलियानवाला बाग का आह्वान करके अपने राष्ट्रीय सम्मान की भावना को जाग्रत किया है। १९४७ में अंग्रेजी कूटनीति के भुलावे में आकर हिन्दू-मुसलमान और सिखों ने जलियानवाला की पवित्र भूमि को अपने ही रक्त में फिर डुबाने की कोशिश की। लेकिन पंजाब के इतिहास के साथ जलियान-वाला बाग और भगतसिंह के दो नाम ऐसे जुड़े हैं कि यह तमाम रक्त-पात भी उनके गौरव को डुबा नहीं सकता। शांति और एकता के प्रचार के लिये जलियानवाले का नाम आज भी मन्त्र का काम करता है।

१९२० के आन्दोलन में हिंदू-मुसलमान एकता के अभूतपूर्व दृश्य देखे गये। उस एकता से साम्राज्यवादी कितना आतंकित हुये, यह उन्हीं की रिपोर्टों में अंकित है। १९४७ के हिन्दुस्तान के लिये वह सब एक सपना है परन्तु ऐसा सपना है जो कलकत्ता और बम्बई की सड़कों पर अब भी हमारे उज्ज्वल भविष्य की तरह झलक उठता है। सन '२० की एकता, स्वाधीनता के लिये अद्भुत उत्साह, आजादी के आन्दोलन में विद्यार्थियों और स्त्रियों के पहली बार प्रवेश करने का प्रभाव उस समय के साहित्य पर भी पड़ा। नये-नये नाटक और गीत इसी भावना से प्रेरित होकर रचे गये। मूक जनता को अचानक जैसे नई वाणी

मिल गई। सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, त्रिशूल (सनेही), माधवशुक्ल आदि-आदि कवियों की वाणी ने इस नयी चेतना को व्यक्त किया। उपन्यास क्षेत्र मे प्रेमचन्द के रूप मे यह भावना साकार हुई। सन् '२० के आन्दोलन ने प्रेमचन्द की कायापलट कर दी। जिस लक्ष्य की ओर वे धीरे-धीरे पैर उठा रहे थे, उसकी ओर अब एक झटके से दौडते हुये चल दिये। सन् '२० के बाद स्वाधीनता-आन्दोलन की परम्परा से उनका अभिन्न सम्बन्ध जुड गया। तिलस्मी और ऐयारी उपन्यासो की जीर्ण-शीर्ण परम्परा को छोड़कर उन्होंने कथा साहित्य मे पहली बार देश की साधारण जनता को प्रतिष्ठित किया। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि साम्राज्यवाद के विरोध को उन्होंने ज्यादा गहराई से देखा। किसान और जमींदार की समस्या साम्राज्य-विरोध का ही एक अङ्ग थी। अँग्रेजों ने अपने राज्य की जड जमाये रखने के लिये जमींदारों के रूप में उसका सामाजिक आधार कायम किया था। साम्राज्य का पूरा विरोध करने के लिये इस आधार पर भी आक्रमण करना आवश्यक था। प्रेमचन्द ने किसानों की समस्या को स्वाधीनता आन्दोलन का अभिन्न अङ्ग बना दिया। शुरू के उपन्यासों मे वे इस समस्या के सुधारवादी समाधान की ओर बढते हैं परन्तु कुछ दिन बाद उस पर से उनकी आस्था उठ जाती है। जैसे-जैसे आजादी के आन्दोलन में खुद किसान आगे बढ़कर हिस्सा लेते हैं, वैसे-वैसे किसानों की शक्ति पर प्रेमचन्द का विश्वास भी बढता जाता है।

प्रेमचन्द का स्वाभाविक विकास भारत के नये जनतन्त्र की ओर हो रहा था। सन् '३० के आन्दोलन के बाद उनकी यह धारणा पुष्ट हो गई कि अँग्रेजो के जाने के बाद हिन्दुस्तान मे जन साधारण का राज कायम होना चाहिये। उनके जनतन्त्र में देशी राज्यो के बडे-बडे सामतों और ब्रिटिश भारत के बड़े-बड़े ताल्लुकेदारो के लिये कोई स्थान नही था। सन् '२० के बाद उन्होंने जो कुछ लिखा था,

उससे प्रतिक्रियावादियो मे खलबली पड गई थी। सन् '३० के बाद उन्होंने जो कुछ लिखा, उससे सुधारवादी चौकने लगे। समाजवाद के क्रातिकारी मार्ग की ओर बढने वाले प्रेमचन्द की कला मे उन्हे ह्रास दिखाई देने लगा। स्वाधीनता आन्दोलन मे जो एक आत रिक प्रवृत्ति थी कि वह आगे चलकर समाजवादी रूप धारण करे, उस ऐतिहासिक विकास-क्रम का प्रतिबिम्ब पहले प्रेमचन्द मे पड़ा। सन् '३० के बाद हिंदी साहित्य मे समाजवाद की काफी चर्चा होने लगी। सोवियत् रूस का नया साहित्य, जिसे साम्राज्यवादियो ने देश से दूर रखने की भरसक कोशिश की थी, अब हिन्दी लेखकों तक पहुँचने लगा। प्रेमचन्द गोर्की की रचनाओ से विशेष प्रभावित हुए। राजनीतिक सुधारवाद से चलते हुए वे क्रमशः उस मजिल तक पहुँचे, जहाँ से वे नयी प्रगतिशील विचारधारा के प्रवर्त्तक कहे जा सकते थे।

सन् '२० के आन्दोलन के बाद हिन्दी कविता मे एक नये युग का आरम्भ हुआ और यह युग छायावाद का था। छायावादी कविता से अनत और पलायन का विशेष सबन्ध जोडा जाता है। उसकी प्रारभिक अवस्था में उसके विरोधियों ने अनन्त के पक्ष पर विशेष रूप से जोर दिया। वास्तव मे छायावादी कविता रीतिकालीन परम्परा की विरोधी थी। यद्यपि खड़ी बोली को कविता की भाषा मान लिया गया था, फिर भी लक्षण ग्रन्थो के आदर्श अभी साहित्य मर्मज्ञो के लिए बने हुए थे। छायावादी कवियो ने इन पर अचूक प्रहार किया। इसलिये विरोधी तिलमिला कर उनके अनन्तवाद की खिल्ली तो उडाते रहे, परतु उनके विद्रोही पक्ष को जनता की दृष्टि से छिपा गये। यह कोई आकस्मिक घटना नहीं थी कि पंत और निराला ने अपने गद्य-लेखों मे दरबारी कविता की परिपाटी की निन्दा की। देश का स्वाधीनता आन्दोलन हो सामतशाही से विरुद्ध एक दूसरी दिशा मे बढ रहा था। उसकी प्रति-क्रिया साहित्य के क्षेत्र मे भी हुई और नये कवियो और लेखकों ने उस

पुरानी परम्परा की चुनौती दी। इसका यह मतलब नही था कि वे समस्त प्राचीन साहित्य के विरोधी थे। पंत और निराला दोनो ने ही सत साहित्य का समर्थन किया है।

समाजसुधार के पक्ष को इन कवियो ने और गम्भीर बनाया। निरालाजी की 'विधवा' आदि रचनाये, पतजी की बाल विधवा के प्रति सहानुभूति--रँगे कलही हल्दी से हाथ—आदि समाज-सुधार की परिपाटी की ओर इगित करती है। इन कवियों की विशेषता यह थी कि सामाजिक क्षेत्र मे उन्होने नारी की पूर्ण-स्वाधीनता की घोषणा की। जाति और वर्गभेद से परे उन्होंने पूर्ण-मनुष्यता की प्रतिष्ठा की। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के समान उन्होने अपने साहित्य का आधार मानव-वाद को बनाया। जाति, वर्ग और प्रान्तों की ही नहीं, देशों की सीमायें भी पार करक परस्पर सास्कृतिक आदान-प्रदान के लिये उन्होने मार्ग प्रशस्त किया। स्वाधीनता-आन्दोलन सकीर्ण रूढियों को छोड़कर स्वराज्य की जिस व्यापक कल्पना को ओर बढ़ रहा था, उसका विजय-घोष सबसे पहले छायावादी कविता मे सुन पड़ा। द्विवेदी युग के सुधार-वादी कवि क्राति और विप्लव शब्दो से भय खाते थे। समाज मे आमूल परिवर्त्तन करने की भावना छायावादी कवियो की अत्यत प्रिय भावना थी। इसी के अनुरूप भाषा, भाव, छन्द, साहित्य के सभी अगों मे वे मुक्त कल्पना के सहारे नये रग भरना चाहते थे। उन्होने कुछ दुरूहता के साथ हिन्दी कविता का नयी व्यञ्जनाशक्ति भी दी। अनन्त की कल्पना के साथ उनका उदात्त विद्रोही स्वर भी सुनाई देता है, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता। साम्राज्य-विरोध, किसानो की मुक्ति आदि की भावनाये निरालाजी के विप्लवी बादल पर आरूढ होकर साहित्य के आकाश मे आई। उन्होने लिखा—

यह तेरी रण तरी
भरी आकाक्षाओ से,

घन, भेरी गर्जन से सजग सुप्त अकुर
उर मे पृथ्वी के, आशाओ से
नवजीवन की, ऊँचा कर सिर,
ताक रहे हैं, ऐ विप्लव के बादल !
रुद्ध कोष, है क्षुब्ध तोप,
अगना अग से लिपटे भी
आतक अक पर काँप रहे हैं
धनी, वज्र-गर्जन से बादल !
त्रस्त नयन मुख ढाँप रहे हैं।
जीर्णबाहु, है शीर्ण शरीर,
तुझे बुलाता कृषक अधीर,
ऐ विप्लव के वीर !
चूस लिया है उसका सार,
हाड़ मात्र ही है आधार,
ऐ जीवन के पारावार !

यद्यपि यह विप्लव एक व्यक्ति द्वारा होना है, वर्ग-सगठन द्वारा नहीं, फिर भी वह समाज के आमूल परिवर्तन की भावना को व्यक्त करता है। यह बात सूचित करती थी कि आगे चल कर राष्ट्रीय आन्दोलन पर क्रान्तिकारी विचारधारा का गहरा असर पडेगा और हमारे स्वाधीनता-सग्राम का लक्ष्य केवल अँग्रेजो को हटाना न होगा वरन् उनके जाने के बाद एक नये जनतन्त्र की स्थापना भी होगा।

छायावाद काल में लिखी हुई अपनी रचनाओं मे पन्तजी ने प्रकृति के आलम्बनों के सहारे मानव समाज की दुरवस्था का सकेत किया है। उनके गीतों की यह टेक बन गई कि प्रकृति सुन्दर है किन्तु मनुष्य परस्पर भेद और विद्वेष के कारण त्रस्त और व्यथित रहता है। इसी व्यथा से आन्दोलित होकर उन्होंने अपने मन को

सौन्दर्य लोक में खिलमाने की कोशिश की। 'ज्योत्स्ना' नाटिका में एक शान्त और सुखो मानवसमाज का रगीन कल्पना है। नाटक रूप में 'ज्योत्स्ना' सफल नहीं है। नये मानवसमाज की कल्पना जो नाना वर्णों में चित्रित हुई है, वह उस युग के कवियो के मर्म को छूने वाली वस्तु थी। सामाजिक विद्रोह का यह दूसरा पहलू था जो पुरानी रूढियो को नष्ट करने के बाद मनुष्य मात्र की ममता के आधार पर एक नये समाज का निर्माण करना चाहता था। निर्माण की यह कल्पना यथार्थ की भूमि से काफी ऊपर उठी हुई और अस्फुट थी। फिर भी वह इस बात को प्रकट करती थी कि हमारी जनता और साहित्यकार एक स्वाधीन जनतन्त्र के रूप में अपने भविष्य का स्वप्न देख रहे है।

सन् '३३-३४ के लगभग राष्ट्रीय आन्दोलन के सुधारवादी नेतृत्व से आस्थाहीन होकर अनेक लेखक गरम-दली विचारधारा की ओर बढ रहे थे। इस काल के साहित्य मे यह मोड़ दिखाई देता है। साधारण जनता में से चुने हुये पात्रो द्वारा सामाजिक विषमता के प्रति लेखको का असन्तोष प्रकट हुआ है। पहले की छायावादी कविताओं के असन्तोष से यह काफी भिन्न है। वह अब एक गम्भीर सामाजिक रूप ले रहा है और उसकी जड़े यथार्थ भूमि मे और भीतर तक चली गई है। निरालाजी की 'अलका' मे यह परिवर्त्तन स्पष्ट दिखाई देता है। किसानो की समस्या को हल करने के लिये वे पुराने सुधारवादी नेतृत्व को बिल्कुल असमर्थ देखते हैं और एक नये क्रान्तिकारी किसान-नेतृत्व की कल्पना करते है। 'देवी', 'चतुरी चमार' आदि रेखा-चित्रों मे उन्होने एक नई यथार्थवादी व्यग्यपूर्ण शैली के सहारे साहित्य के नये विकास की ओर सकेत किया। उनके पात्र जनसाधारण से लिये गये हैं। अनन्त की उड़ान के बदले उनमे ऐसी मासलता है

कि उस पर कोई भी यथार्थवादी कलाकार गर्व कर सकता है। इन नये रेखा-चित्रों मे छायावाद के अनन्तवादी पलायन पक्ष पर भी तीव्र आघात किये गये है। "मैं विलास का कवि, फिर क्रान्तिकारी", निरालाजी के ये शब्द उस अवस्था के सूचक है जिससे होकर हिन्दी के अनेक साहित्यिक गुजर रहे थे। राष्ट्रीय आन्दोलन के सुधारवादी पक्ष से उनकी आस्था हट रही थी और वे उसे एक वास्तविक-साम्राज्य विरोधी का रूप देना चाह रहे थे जो पुरानी सामाजिक व्यवस्था का आमूल परिवर्त्तन कर दे। राष्ट्रीय आन्दोलन मे भी यह परिवर्त्तन दिखाई दे रहा था। अनेक राजनीतिक कार्यकर्त्ता सुधारवाद से आस्थाहीन होकर उग्र विचारधारा की ओर बढ रहे थे। कॉंग्रेस के भीतर एक अच्छा खासा गरम बन गया था। किसानों और मजदूरों के सगठन की कल्पना यथार्थ रूप धारण करने लगी थी और इस बात की माँग की जाने लगी थी कि यह सगठित वर्ग राष्ट्रीय आन्दोलन मे अधिक से अधिक भाग ले। प्रथम कॉंग्रेसी मन्त्रिमण्डल बनने के बाद उग्र विचारधारा के लोगों में और भी आत्म-विश्वास पैदा हुआ और वे अपने नये समाज की कल्पना की ओर और भी तेजी से कदम उठाने लगे। जो परिवर्त्तन स्वाधीनता आन्दोलन मे हो रहा था, उसकी झलक साहित्य में भी दिखाई देती है और काफी पहले दिखाई देती है, इसलिये कि अपनी मार्मिक सहृदयता के कारण उस परिवर्त्तन के चिह्न लेखकों को सबसे पहले दिखाई दिये थे। इन्ही का संगठित रूप प्रगतिशील साहित्य के आन्दोलन में प्रकट हुआ। इस नये आन्दोलन के विरोधी यह भूल जाते हैं कि साहित्य की यह नई गतिविधि देश मे एक बहुत बडे परिवर्त्तन की सूचक थी। स्वाधीनता आन्दोलन मे जो परिवर्त्तन हुआ था, वह इसी साहित्यिक धारा में प्रतिबिम्बित हुआ। वे लोग देश के स्वाधीनता आन्दोलन और साहित्य की नवीन चेतना के प्रति बहुत

बड़ा अन्याय करते है जो देश की सामाजिक और राजनीतिक पृष्ठ-भूमि को एकदम भुलाकर नये साहित्य को एक आकस्मिक और अनपेक्षित घटना के रूप मे देखते है। पिछले चौदह-पन्द्रह वर्षों मे—यानी सन् '३० का आन्दोलन खत्म होने से लेकर १५ अगस्त के राजनीतिक परिवर्त्तन तक—प्रगतिशील साहित्य ने स्वाधीनता आन्दोलन के साथ-साथ आगे बढकर उसकी चेतना को प्रतिबिम्बित किया है। इन वर्षों मे यह नई विचारधारा एक महान् प्रेरणा और रचनात्मक शक्ति के रूप मे हमारे सामने आती है। निरालाजी के रेखा-चित्र, पन्तजी की 'ग्राम्या', सुमन और दिनकर की ओजस्वी कवितायें, नरेन्द्र की 'मिट्टी और फूल', राहुलजी और यशपाल के उपन्यास आदि आदि उसी भावना के परिणाम हैं जो राजनीतिक सुधारवाद से असन्तुष्ट होकर नई साम्राज्य-विरोधी क्रान्ति और उसके बाद समाज के नये निर्माण को अपना लक्ष्य बना रही थी।

१९३९ मे युद्ध छिड़ने से इस सहज विकास को एक धक्का लगा। देश मे एक राजनीतिक गतिरोध पैदा हो गया। ब्रिटेन से काफी मोल-भाव किया गया लेकिन नतीजा कुछ न निकला। जनता की माँग थी कि नयी राष्ट्रीय सरकार बने परतु साम्राज्यवादी इस माँग को बराबर अनसुनी कर रहे थे। फासिस्टो का आक्रमण यूरुप तक सीमित न रह कर एशिया के भी एक बहुत बडे हिस्से को लपेट चुका था। हिन्द एशिया, वियतनाम, बर्मा आदि दक्षिण पूर्वी एशिया के तमाम भाग जापानियों के अधिकार मे आ गये। जापानी बम भारत के नगरो पर भी गिरने लगे। देश की रक्षा का कोई समुचित उपाय न हो रहा था। जापान आक्रमण करना चाहता था, यह बात निर्विवाद है। चीन, बर्मा और दूसरे देशों मे उसने स्वाधीनता सग्राम नहीं छेड़ रक्खा था, यह भी निर्विवाद है। हिन्दुस्तान मे कोई भी राजनीतिक विचारधारा

या पार्टी खुलकर यह नहीं कहती थी कि जापान का आक्रमण होना चाहिये और उससे हिन्दुस्तान को आजादी मिलेगी, लुकछिप कर कुछ लोग चाहे जो प्रचार करते रहे हों। आजाद हिन्द फौज के मुकदमे और दूसरे बयानों से यह बात जाहिर हुई कि जापानी फासिज्म और आजाद हिन्द फौज की पटरी नहीं बैठती थी। फासिस्टों की कोशिश थी कि इस फौज को अपनी विजय का साधन बनाये। देश की स्वाधीनता चाहनेवाले साधारण सिपाहियों की इच्छा थी कि उनके चंगुल में न फँसकर अपने संगठन को स्वतंत्र रखते हुये ब्रिटिश साम्राज्यवाद से मोर्चा लें। इस साम्राज्य विरोधी भावना के कारण—फासिस्टों से किसी गुप्त-मैत्री के कारण नहीं—आजाद हिन्द फौज का प्रश्न आगे चलकर राष्ट्रीय अन्दोलन का एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न बन गया। लेकिन इसके पहिले, देश में बंगाल के अकाल की भीषण दुर्घटना हो चुकी थी। इस घटना ने हिन्दी के नये-पुराने प्रायः सभी लेखकों को आन्दोलित किया। नये लेखकों में रांगेयराघव ने अकाल पीडित बंगाल की यात्रा की और रिपोर्ताज लिखे। अमृतलाल नागर ने 'महाकाल' उपन्यास लिखा जिसकी घटनायें उन्होंने चित्तप्रसाद आदि ऐसे लोगों से एकत्र की थीं जो अकाल की विभीषिका से बहुत ही निकट से परिचित थे। काव्य-साहित्य में श्रीमती महादेवी वर्मा, बच्चन, दिनकर, सुमन, नरेन्द्र आदि ने स्मरणीय कवितायें लिखीं। जो लोग साहित्य को युगविधायक सामाजिक घटनाओं से अछूता रखना चाहते थे, उन्हें मुँह की खानी पड़ी। छायावाद का विद्रोही सामाजिक पक्ष अधिक पुष्ट हुआ और प्रगतिशील विचारधारा से घुलमिल कर एक हो गया, उसका पलायनवादी पक्ष निस्तेज होकर धराशायी हो गया। छायावाद के समर्थक कुछ असमर्थ आलोचकों को छोड़कर छायावादी कवियों ने स्वयं पहले की काल्पनिक उड़ानों की निन्दा की और साहित्य में सामाजिक यथार्थ

की माँग की। हमारे साहित्य में कौन सा परिवर्तन हो रहा था, यह महादेवीजी की 'अपनी बात' (बग दर्शन) मे बहुत स्पष्ट दिखाई देता है। उन्होंने लिखा था:—"आज ढाई करोड़ दरिद्र किसान और खेतो मे काम करने वाले श्रमिको का वर्ग है भिक्षुक, आजीविका है भिक्षाटन, विनोद है व्याधि और लक्ष्य है मृत्यु। अपने उदर की पूर्ति करने मे भो असमर्थ यह धरती के पुत्र जलने के लिये दौड आनेवाले पतिगो के समान नगरो की ओर दौड़ पडे। यहीं से मानो उनकी श्मशान-यात्रा आरभ हो जाती है। अब इन ग्रामीणो के हृदय में धरती मे मिली स्वर्णराशि का उल्लास था, आँखों मे आत्मविश्वास के चित्र थे, पैरो मे कर्त्तव्य की दृढता थी और हाथो मे वरदान का बल था, तब भी नगरो ने उन्हे कभी हाथ भर छाया नहीं दी। फिर आज तो अट्टालिकाओ ने इन्हे डगमगाते पैरों. काँपते हाथो, सभीत आँखो और टूटे हृदयो के साथ उन भिक्षुको की पक्ति मे बैठते देखा जो अपनी विकलाङ्गता का प्रदर्शन करके ही जीविका प्राप्त करते हुये फुटपाथ के रगमच पर ही जन्म-मृत्यु का अभिनय करते हैं। .

"आज के विराट् मानव की व्यथा का समुद्र आज के लेखक को, जीवन का कोई महान् तथ्य, कोई अमूल्य सत्य न दे सकेगा, ऐसा विश्वास कठिन है। इस दुर्भिक्ष की ज्वाला स्पर्श करके हमारे कलाकारो, लेखको की तूली यदि स्वर्ण न बन सकी तो उसे राख हो जाना पड़ेगा। किंतु ऐसी कल्पना करना भी सच्चे कलाकार का अपमान करना है। यदि वह आधुनिक युगीन हिसा के ज्वार मे स्थिर रह सके, आज की भेद-बुद्धि का बादल उसकी चेतना को न ढँक सके और वर्तमान सामाजिक विकृति तथा साम्प्रदायिक सकीर्णता की धूल उसकी दृष्टि को धुँधला न कर सके, तो वह कल्याण पथ का पथी न भ्रान्त होगा, न विचलित।"

विवेकशील पाठक देखेगे कि ऊपर कही हुई बाते केवल भावुकता

का परिणाम नहीं है। इनमे मनुष्य के प्रति सहानुभूति के साथ-साथ एक दृढ मनोबल भी है जो मनुष्य के ही प्रयत्न से इस दुरवस्था को दूर करके एक नयी व्यवस्था का जन्म देने मे विश्वास करता है। यहाँ पर साहित्य को कल्पना-विलास की वस्तु न मानकर समाज को उन्नति-पथ पर अग्रसर करने वाली एक महान् प्रेरक-शक्ति के रूप मे देखा गया है। साहित्य की पुरान-पन्थी विचारधारा मे इस नई चेतना का अतर स्पष्ट हो जाता है। साहित्य कुछ रसिको और मर्मज्ञो की वस्तु न रहकर लेखक को चुनौती देता है कि मानव-व्यथा के समुद्र से वह जीवन का महान् तथ्य और अमूल्य सत्य निकाले। साम्प्रदायिक सकीर्णता और सामाजिक विकृति से अपने को बचाकर ही वह सिद्ध लेखक बन सकता है। ऊपर के वाक्यो मे दुर्भिक्ष की ज्वाला के बदले यदि १६४७ का जनसहार लिख दे, तो ये पुरानी बाते आज भी हमारे लिये एक चेतावनी का काम करेगी। सामाजिक सकीर्णता की बात पहले से सौ गुनी ज्यादा खरी उतरती है। इस युग मे तो और भी लेखको के लिये आवश्यक है कि वे अपने मानवीय आदर्शो की रक्षा करे और समाज को मध्यकालीन बर्बरता की ओर लौटने से रोके।

बगाल के अकाल के बाद कुछ दिन के लिये साहित्य मे फिर ठहराव आया। साम्राज्य-विरोधी क्रान्ति का पथ धुँधला हो रहा था। देश मे चोर-बाजारी और मुनाफाखोरी नाम की व्याधियाँ फैल रही थी। उच्च और मध्य वर्ग के लोगो का नैतिक धरातल नीचा हो रहा था। देश मे पूँजीवाद दिन पर दिन एक प्रतिक्रियावादी शक्ति के रूप मे सामने आ रहा था। उसके हाथ मे प्रचार और प्रकाशन के साधन थे और वह अपनी स्वार्थ-वृत्ति और असख्य जनता को भूखा और नगा रखने के अपराध को छिपा रहा था। नये मन्त्रि-मण्डल बनने के बाद भी अब तक चोर बाजारी और मुनाफाखोरी

निर्मूल नहीं हो सकी। इससे पता चलता है कि समाज की आर्थिक व्यवस्था और उसकी नैतिकता पर कैसा घातक आक्रमण निहित स्वार्थो ने किया है।

नेताओं के छूटने के बाद जनसाधारण मे नई आशा पैदा हुई। बडे-बडे प्रदर्शन हुये और यह विश्वास दृढ होने लगा कि अब गति-रोध मिट जायगा और वर्षो बाद पुरानी स्वाधीनता की साध पूरी होगी। आजाद हिन्द फौज के बन्दियो को लेकर प्रबल आन्दोलन छेड़ दिया गया। देश के जोशीले नवयुवकों ने फिर पहले की तरह अंग्रेजी फौज और पुलिस की गोलियो का सामना किया। इस आन्दोलन से बहुत से लेखक प्रभावित हुए और आजाद हिन्द फौज पर अनेक कवितायें लेख, कहानियाँ लिखी गयीं। इससे पता चलता है कि जनता की साम्राज्यविरोधी भावना कितनी प्रबल थी। इस भावना से लाभ उठाकर दक्षिण पथी नेताओ ने चुनाव मे वोट लिये और वोट लेने के बाद आजाद हिन्द फौज की समस्या से तटस्थ हो गये। काफी दिन बाद बन्दियो को रिहा किया गया, लेकिन स्वाधीन भारत की फ़ौज मे उन्हे जो उचित स्थान मिलना चाहिये था, वह अभी तक उन्हे नही दिया गया।

इसी समय यूरप और एशिया के अनेक देशो मे युद्धोत्तर काल का उग्र राजनीतिक आन्दोलन सशस्त्र क्रान्ति का रूप ले रहा था। वियत-नाम और हिन्द-एशिया—भारत के प्रान्तो जैसे—देशों ने भी डच, फ्रांसीसी और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ हथियार उठा लिये थे। सुमन की कविता 'नई आग है, नई आग है' मे एशिया की जाग्रत जनता का नया स्वर सुनाई देता है। उधर पूर्वी यूरुप के स्वाधीनता-आन्दोलनो ने ब्रिटिश और अमरीकी पूँजी को निकाल बाहर किया। पोलैण्ड, यूगोस्लाविया, जेकोस्लोवाकिया आदि देशो ने वास्तविक स्वाधीनता प्राप्त की। यूनान का प्राचीन देश पहले

तुर्कों और बाद को अँग्रेजों का उपनिवेश बन गया था। वहाँ की प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ अँग्रेजो से मिलकर जनता के स्वाधीनता आन्दोलन को दबाना चाहती थी। इनके विरुद्ध जनवादी शक्तियो ने अपना नया मोर्चा बनाया और सशस्त्र लडाई छेड़ दी। दिनकर ने लिखा—

"खड़ा हो, कि पच्छिम के कुचले हुये लोग
उठने लगे ले मशाल,
खड़ा हो, कि पूरब की छाती से भी
फूटने को है ज्वाला कराल।"

इस तरह हिन्दी के उग्र-पथी कवियों ने यूरुप और एशिया के स्वाधीनता आन्दोलन के प्रति भारतीय जनता की सहानुभूति प्रकट की। यह इस बात की सूचना देता है कि जो लोग राष्ट्रीयता के नाम पर ब्रिटिश या अमरीकी साम्राज्य से हिन्दुस्तान का गठबन्धन करना चाहते है और सोवियत विरोधी प्रचार करके अपने मन्सूबो को ढँकना चाहते है, उनका विरोध हिन्दी के सभी सचेत लेखक करेंगे।

ब्रिटिश साम्राज्य के युद्धोत्तर कालीन सकट मे हिन्दुस्तान की जनता ने स्वाधीनता के मोर्चे को मजबूत बनाया। फौज, पुलिस डाक-तार आदि के विभागों मे भी यह साम्राज्य विरोधी चेतना आग बनकर फैल गयी। तमाम हिन्दुस्तान को हिला देनेवाली डाकियो की हडताल हुई। किसानों ने जमीदारी प्रथा को मिटाने के लिये खुद कदम उठाया। ब्रिटिश शक्ति के हिन्दुस्तानी अड्डों, देशी राज्यो मे, वहाँ की प्रजा ने नये नये आन्दोलन चलाये। विशेषरूप से शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व मे काश्मीर की जनता ने बड़ी वीरता से युद्ध किया। सबसे बड़ी घटना बम्बई का नाविक-विद्रोह थी। सन् '५७ के बाद पहली बार हिन्दुस्तानी तोपों ने अँग्रेजी फौजो पर गोले उगले। बम्बई की तमाम जनता ने विद्रोहियो का साथ दिया।

नाविकों ने नेताओं के कहने से आत्मसमर्पण किया। लेकिन अँग्रेजो को नहीं, भारत को। इन क्रान्तिकारी घटनाओं का साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा। नये गीत, कवितायें और कहानियाँ इन सब घटनाओं पर लिखी गई। परंतु साहित्य की यह क्रांतिकारी धारा अच्छी तरह पुष्ट न हो पायी। दक्षिण पंथी नेताओं के साथ सुलह की बातचीत करके अँग्रेज बराबर कोशिश कर रहे थे कि इस क्रान्तिकारी उठान को रोक ही न दिया जाय, वरन् हिन्दुस्तान को एक नये गृह युद्ध की आग में झोंक दिया जाय। यह दाँव चलाने के लिये राजसत्ता की बागडोर उन्होंने कांग्रेसी नेताओं को सौंप दी। उसके बाद जो वह चाहते थे वही हुआ। भारत के बँटवारे की जिम्मेदारी उन्होंने हिन्दुस्तान के नेताओं पर डाली। फ़ौज और पुलिस के भीतर घुसे हुये अँग्रेज अफसरों ने अपने सिखाये पढ़ाये पुराने साथियों की मदद से बड़े पैमाने पर नरसंहार कराया। हिन्दू और मुस्लिम राष्ट्रों का प्रचार जोरों से होने लगा। देश की सामन्ती और पूँजीवादी शक्तियाँ अल्पसंख्यकों को राजनीतिक दाँव-घात के लिये मोहरा बनाकर खेलने लगी। उनका यह प्रयत्न अब भी जारी है कि देश में अराजकता पैदा करके वे साम्राज्यविरोधी ताकतों को बिल्कुल निकम्मा कर दें और जिन अँग्रेजों की छत्र-छाया में वे अब तक पलती रही थीं, उन हिन्दुस्तान के दुश्मनों को फिर यहाँ बुला लें। ये प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ आज कितनी मुँहजोर हो गई हैं, इसका पता इसी बात से लगता है कि राष्ट्रीय सरकार में ऐसे-ऐसे लोग घुस गये हैं जिनका स्वाधीनता आन्दोलन से कभी कोई सम्बन्ध नहीं रहा। यही नहीं, अँग्रेजों से मिलकर वे स्वाधीनता आन्दोलन का बराबर विरोध भी करते रहे थे।

आज यह किसी से छिपा नहीं है कि हिन्दुस्तान का स्वाधीनता आन्दोलन एक बहुत बड़े संकट में है। इस संकट को गहरा करने

वाले खुद अँग्रेज, देशीराज्यों में उनकी कठपुतलियाँ राजे-महाराजे, बडे-बडे ताल्लुकेदार और मुनाफेखोर पूँजीपति है। हिन्दुस्तान से अँग्रेजों के जाने पर दूसरी मंजिल यही थी कि इन सब को खत्म करके एक ऐसा जनतंत्र कायम किया जाय जिसमें कोई नंगा या भूखा न रहे, जिसमें जमीन किसानों की हो और बडे-बडे कारखानों पर राज्य का अधिकार हो। इस मंजिल तक पहुँचने से पहले ही जनता के दुश्मनों ने मिल-जुल कर एक गहरी खाई खोद डाली है। अँग्रेजों के तलवे चाटने वाले सामंती पिट्ठू आज अपने को निर्लज्जता से प्रताप और शिवाजी का वंशज कहकर हिन्दू धर्म के रक्षक बनकर सामने आते है। जिन मुनाफाखोरों ने देश की जनता को नङ्गा और भूखा रक्खा था, वे राष्ट्रीय पत्रों के संचालक बने हुए है। वे जमींदार जो अँग्रेजी अफसरों को दावत देते रहे और घूसखोर पुलिस के अफसरों के मित्र बने रहे, वे कांग्रेस के बहुत बडे बनकर हिन्दुत्व को रक्षा करने निकल पडे है। इस संकट काल में प्रगतिशील शक्तियाँ त्रस्त होकर चुपचाप नहीं बैठ गयी। जहाँ-तहाँ उन्होंने शान्ति आन्दोलन आरम्भ किया है। हर रियासत में अल्पसंख्यकों का नर संहार नहीं हो रहा है। मैसूर और त्रावनकोर की प्रजा ने बडे-बड़े आन्दोलनों को जन्म दिया है। सबसे ज्यादा मजदूर आन्दोलन और कम्युनिस्ट पार्टी ने देश के सच्चे कर्णधारों के समान इस अराजकता की अग्नि को बुझाने का ऐतिहासिक प्रयत्न किया है। हिन्दी लेखकों ने अपने आपको साम्प्रदायिकता की धारा में बहने से रोका है। मासिक-पत्रों में पच्चीसों कहानियाँ, कविताएँ आदि इस साम्प्रदायिक विद्वेष के विरुद्ध निकलती रही है। आज देशभक्ति और प्रगतिशीलता की कसौटी यही है कि अँग्रेजों की कूटनीति से छेडे हुए इस गृहयुद्ध की ज्वाला से हम अपने स्वाधीनता आन्दोलन को निकाल पाते है या नहीं। साम्प्रदायिकता का प्रचार करने वाले

पूँजीवादी पत्रों ने नये उत्साह से प्रगतिशील साहित्य के आन्दोलन पर हमला शुरू कर दिया है। वे जानते हैं कि साहित्य में यह नई विचारधारा ही उनके जहरीले प्रचार का खण्डन करती है। वे कभी इस विचार धारा को रूस से आई हुई बताते हैं, कभी उसे कम्युनिस्टों का षड्यन्त्र कहते हैं। कुछ और लोग दूर की कौडी लाकर उसका सम्बन्ध जिन्ना और मुस्लिम लीग से भी जोडते हैं। उनका लक्ष्य बहुत स्पष्ट है। वे शान्ति के आन्दोलन को निष्फल करके गृहयुद्ध को उसकी आखिरी मंजिल तक ले जाना चाहते हैं। प्रगतिशील साहित्य के विरोध में कितनी सचाई है, इसकी कसौटी यह है कि उसके विरोधी शान्ति आन्दोलन को कितना बढ़ाते हैं और साम्प्रदायिक द्वेष को कितना कम करते हैं। वे खुलकर अपनी साम्प्रदायिकता को राष्ट्रीय कहते हैं लेकिन उनकी इस राष्ट्रीयता का हमारे अब तक के स्वाधीनता आन्दोलन से कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ और उनके मुख-पत्र शान्ति और स्वाधीनता के आन्दोलन को जितना कमजोर समझ बैठे हैं, उतना वह नहीं है। उसी के साथ हिन्दी का नया साहित्य जुड़ा हुआ है। उनकी पराजय निश्चित है क्योंकि साम्प्रदायिकता से राष्ट्रीयता बडी है, बर्बरता से मनुष्यता बडी है, अंग्रेजी कूटनीति से स्वाधीनता प्रेम बडा है, कठपुतली राजाओं और मुनाफाखोरों से भारतीय जनता की सम्मिलित शक्ति बडी है। इसीलिये साम्प्रदायिक विद्वेष और गृहयुद्ध का प्रचार करने वाले, हिन्दी भाषा और साहित्य को कलंकित करने वाले इन पूँजीवादी पत्रों के अपप्रचार पर भी साहित्य की प्रगतिशील नयी चेतना विजय पायेगी।

(अक्तूबर '४७)

गोस्वामी तुलसीदास और मध्यकालीन भारत

गोस्वामी तुलसीदास भारतवर्ष के अमर कवि है, इसमे किसी को सन्देह नहीं है, परन्तु वे मध्यकालीन भारत के प्रतिनिधि कवि है, इसके बारे मे लोगो को शकाएँ होती है। देश की सामाजिक प्रगति मे उनका स्थान कहाँ है, उन्हे प्रगति का समर्थक कहा जाय या प्रतिक्रिया का, हिन्दू समाज पर जो उनके धर्म और नीति की गहरी छाप है, उससे देश का कल्याण हुआ है या अकल्याण, इन प्रश्नो को लेकर लोगो मे यथेष्ट मतभेद है। गोस्वामीजी वर्णाश्रम धर्म के समर्थक थे, स्त्रियो को सहज अपावन मानते थे, 'राजा राम' के उपासक और उनके गुणगायक थे, तब प्रगति से उनका सम्बन्ध कैसे जोडा जा सकता है? डा० ताराचन्द ने "भारतीय सस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव" नाम की अपनी पुस्तक मे रामानन्द की शिष्य-परपरा को दो भागों मे बॉटा है, पहली को 'कन्जर्वेटिव' और दूसरी को 'रैडिकल' बताया है। पहली के नेता तुलसीदास है और दूसरी के कबीर। इसके विपरीत प० रामचन्द्र शुक्ल कबीर और दूसरे निर्गुणपथी साधुओ और सुधारको को ढोगी और समाज को बरगलाने वाला समझते है। वह गोस्वामीजी को न रैडिकल कहते है, न कन्जर्वेटिव वरन् उन्हे लोकहित का उन्नायक मानते है। शुक्लजी वर्णाश्रम धर्म के समर्थक है, इसीलिए वह उसके लिए किसी तरह की क्षमा-याचना करने की आवश्यकता का अनुभव नहीं करते। वरन् उनका 'लोकहित' इस धर्म की स्थापना मे ही है जिसे कबीर आदि निर्गुणपथी ढहाये दे रहे थे। क्या तुलसीदास का लोकहित चिन्तन वर्णाश्रम धर्म तक ही सीमित है?

प्रत्येक कवि और महान् लेखक अपने युग से प्रभावित होता है, युगसत्य उसकी रचनाओं मे प्रतिबिम्बित होता है, युगसत्य की व्यजना से कवि अपने युग को भी प्रभावित करता है, उसके परिवर्तन मे, उसकी प्रगति मे उसका हाथ होता है। ऐसा कवि और लेखक ही महान् साहित्यकार हो सकता है। परन्तु युग को परखने मे, परिस्थितियों को आँकने मे और उनसे कवि का सम्बन्ध जोडने मे बडी सावधानी की आवश्यकता है। रूसी लेखक तोल्स्तोय क्रान्ति से पराङ्मुख थे, फिर भी लेनिन ने उन्हे 'रूसी क्रान्ति का दर्पण' कहा था। इसलिये कहा था कि अपने समय की महान् सामाजिक प्रगति के कई पहलुओं की प्रतिच्छवि उनकी रचनाओं मे आई थी। शेक्सपियर राजसत्तावादी था, फिर भी मार्क्स उसके साहित्य का अभिनन्दन और समर्थन करते थे, इसलिये कि सामन्ती संस्कृति के विरुद्ध नवजागरण (रिनैसास) का नेता शेक्सपियर निश्चय ही एक विद्रोही कवि था। फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के अग्रदूत तब के प्रसिद्ध दार्शनिक राजसत्तावादी थे, फिर भी क्रान्ति के लिये उनका जो महत्त्व था, उसे सभी जानते है। यह महत्त्व इसलिये था कि उन्होने विचारशैली मे, चिन्तन-पद्धति मे ही, एक क्रान्ति कर दी थी जिसका व्यापक प्रभाव फ्रान्सीसी राज्यक्रान्ति मे प्रतिफलित हुआ। गोस्वामी तुलसीदास के वर्णाश्रम-धर्म पर विचार करते हुये इन उदाहरणों को मन मे रखना अनुपयोगी न होगा। गोस्वामीजी महान् है, क्योंकि उन्होने ब्राह्मणो को भूसुर कहकर लोकमर्यादा की रक्षा की,—यह तर्क भ्रामक है। वे प्रतिक्रियावादी है, क्योंकि उन्होंने वर्णाश्रम धर्म का समर्थन किया है—यह भी एक कुतर्क है जो सामाजिक सघर्ष और प्रगति को ठीक-ठीक न पहचानने के कारण उत्पन्न होता है।

तुलसी-साहित्य का सामाजिक महत्त्व परखने के पहले उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर एक बार दृष्टि डालना आवश्यक है।

तुलसीदास का काल मुगल-साम्राज्य के वैभव का काल था। अकबर और जहाँगीर उनके सम-सामयिक थे। हुमायूँ और शेरशाह के अस्थायी शासन के बाद अकबर ने मुगल-सिंहासन का पाया जमा लिया था और वह धीरे-धीरे अपना राज्य-विस्तार कर रहा था। अकबर ने धर्मान्धता और कट्टरपन को गहरी ठेस पहुँचाई थी और हिन्दू-मुस्लिम एकता की 'अपनी' नीति से देश में शान्ति स्थापित की थी। जो लोग समझते हैं कि तुलसीदास ने इस्लाम की एकरनित प्रगति को रोकने के लिये रामचरित मानस की रचना की, उन्हें यह न भूलना चाहिये कि कट्टर मुल्ला और मौलवी अकबर पर यह दोष लगाते थे कि उसने इस्लाम से मुँह फेर लिया है। उन्हीं के अनुकरण पर स्मिथ जैसे इतिहासकार अकबर को अपना धर्म त्यागने का दोषी ठहराते हैं। यह दोषारोपण अनुचित है, परन्तु उससे यह भी स्पष्ट है कि अकबर इस्लाम का कट्टर प्रचारक न था। उसने जजिया बन्द करा दिया था और जन-साधारण को एक व्यापक धर्म-सम्बन्धी स्वाधीनता दे दी थी।

अकबर राजपूत सरदारों को अपना सम्बन्धी बनाकर अपने शासन को दृढ़ करना चाहता था। उसका मुख्य ध्येय राजनीतिक था। हिन्दू सामन्तवाद के निखरे हुए विरोध को समेटकर अकबर ने उसे अपना समर्थक बना लिया। उसकी नीति बहुत कुछ विक्टोरिया की सी थी, सामन्त उसके विरोधी न होकर समर्थक बन गये। अकबर का शासन हिन्दू और मुस्लिम सामन्तवाद का संयुक्त शासन था; उसकी हिन्दू-मुस्लिम एकता का क्रियात्मक रूप यही था। फिर भी उसकी धर्म-सम्बन्धी नीति उदार थी। उस समय प्रश्न हिन्दू-धर्म की रक्षा का नहीं था। यह प्रश्न अकबर के पहले का था। उसकी उदार धार्मिक नीति के सामने गोस्वामी तुलसीदास ने यदि हिन्दू-धर्म की रक्षा की तो इसमें उनकी कौन सी बड़ाई हुई। वास्तव में गोस्वामीजी

ने हिन्दू-धर्म की रक्षा की, परन्तु अकबर और इस्लाम से नहीं उन्होंने रक्षा की उसकी अपने आन्तरिक शत्रुओं से, मतमतान्तर, द्वेष, कलह अन्ध-विश्वास से। परन्तु उनकी दृष्टि इस क्षेत्र से बाहर भी गई थी।

मुगल वैभव का यहाँ चित्र देने की आवश्यकता नहीं है। समस्त ससार मे अद्वितीय उनके दरबारो की चकाचौंध की कल्पना मात्र कर लीजिये। उनके वैभव मे योग देनेवाले हिन्दू और मुसल्मान राजा और सरदार थे। (विशेष विवरण के लिये देखिये श्री राम प्रसाद खोसला की पुस्तक 'मुगल किंगशिप एण्ड नोबिलिटी।') राज्य की आमदनी का एक ही उद्गम था—भूमि। जैसा कि अंग्रेज इतिहास-कारो ने लिखा है, भूमि से ही मुख्य आमदनी होने के कारण हिन्दुस्तान मे "रेवेन्यू" कहने से लोगो को "लैंड रेवेन्यू" का ही बोध होता है। इसी भूमि-कर के आधार पर राजदरबारो की शोभा थी और उसी के बल पर अकबर ने गुजरात से लेकर बगाल तक अपना राज्य-विस्तार किया था। इस प्रकार मध्यकालीन भारत मे मुख्य उत्पादक शक्ति किसान थे और उनके उत्पादन से लाभ उठानेवाले हिन्दू और मुगल सामन्त थे, जिनका मुख्य सगठन केन्द्र अकबर का दरबार था।

भूमि-सम्बन्धी कर-व्यवस्था उचित थी या अनुचित, यह प्रश्न बाद का है। मुगल शासन मे जो व्यवस्था थी, उसका पालन कहाँ तक होता है, मुख्य प्रश्न तब यही था। शेर शाह ने कर-सम्बन्धी व्यवस्था मे अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया था। परन्तु उसके शासन का शीघ्र ही अन्त हो गया। अकबर के शासन का आरम्भ होने के पहले देश मे भयानक अकाल पड़ा। दो साल के युद्धो से जनता वैसे ही त्राहि त्राहि कर रही थी। उस पर महामारी का भी प्रकोप हुआ। गोस्वामी तुलसीदास को अपने जीवन के अन्तिम दिनों मे फिर इस महामारी का सामना करना पडा। फतेहपुर सीकरी और

सिकन्दरा के स्मारकों मे लिखे हुए इतिहास का दूसरा पक्ष यह अकाल और महामारी है ।

शासन के आरम्भिक वर्षों मे अकबर ने शेरशाह की बनाई हुई लगान की दर से किसानो से कर वसूल किया । शेरशाह ने अन्न की जो मात्रा निश्चित की थी, उसके दाम लगाकर लगान तै किया जाता था । यह दाम स्वयं अकबर तै करता था और हर जगह एक ही दाम लगाये जाते थे । परन्तु चीजों की कीमत तो जगह-जगह पर अलग होती थीं, इसलिए यह लगान की दर बडी गलत-सलत थी । अकबर के शासन के दसवे साल मे अलग-अलग जगहो मे भाव के अनुसार लगान तै किया गया । पन्द्रहवे साल मे लगान की नयी दरें तैयार हुईं । हर परगने की पैदावार के अनुसार उसके एक तिहाई का दाम लगाकर लगान तै किया गया । दस साल तक यह क्रम चलता रहा । लेकिन किस फसल मे भाव कहाँ पर कितना हो, इस सबका हिसाब करना कठिन था । हर फसल के लिए जगह-जगह के भाव सम्राट् ही तै करता था । युद्ध आदि की आवश्यकताओ के कारण अकबर को बराबर चलते रहना पडता था । इसलिए उसके हुकुमनामे निकलने मे देर हो जाती थी और सारी व्यवस्था की गति बन्द हो जाती थी । स्थानीय भावों की गलत रिपोटें भी उसके पास भेजी जाती थी । इसलिए दस साल के बाद अकबर ने भाव तै करने वाला किस्सा खत्म कर दिया और बीघो के हिसाब से लगान तै कर दिया ।

मालगुजारी की एक दूसरी समस्या उन लोगो की थी, जिन्हे तनखाह के बदले जमीन दे दी जाती थी । जमीन का सरकारी लगान ही उनकी तनखाह होती थी । १५७३ मे अकबर ने इस प्रथा का अन्त कर दिया और सिक्को मे तनखाहे देने का प्रबन्ध किया । परन्तु १५८० मे भूमि देने का फिर चलन हो गया ।

मालगुजारी विभाग को चलाना बड़ी जीवट का काम था। अन्न पैदा करने से ज़्यादा कठिन हर जगह भाव आदि का हिसाब करके लगान तै करना था। घूसखोरी और अत्याचार के लिए द्वार खुला हुआ था और शाह मन्सूर के प्रबन्ध में तो बस हद हो गई थी। जिन लोगों को भूमि मिली हुई थी, वे तो किसानों के भाग्यविधाता थे। जो राजा अकबर को सम्राट् मानकर कर देते थे, उनकी व्यवस्था अलग थी। ऐसे ही राज्य के दूर के सूबों में वही व्यवस्था न थी जो आगरा और अवध में थी, जहाँगीर के शासनकाल में यह व्यवस्था भी टूटने लगी और शाहजहाँ के समय में किसानों की बुरी दशा हो गई। किसान जमीन छोड़-छोड़कर भागने लगे और औरंगजेब को यह आज्ञा निकालना पड़ा कि अगर कहने से किसान जमीन न जोतें तो उन्हें कोड़ों से पिटवाकर खेत जुतवाये जायँ। (मारलैंड-फ्रॉम अकबर टु औरंगजेब , पृ० २५४)

इस नीरस गाथा का तात्पर्य यह है कि मध्यकालीन भारत में मालगुजारी वसूल करने में बड़ी धाँधली होती थी। हमने मध्यकाल के जिन सुनहले स्वप्नों की कल्पना कर रखी है, वे वास्तविकता की भूमि पर चूर हो जाते हैं। उस समय का मुख्य संघर्ष सामंत और किसान के बीच था। ज्यों-ज्यों हम औरंगजेब की ओर बढ़ते हैं, त्यों-त्यों संघर्ष तीव्र होता जाता है। अकबर से पहले विभिन्न युद्धों के कारण उस पर पर्दा पड़ा रहा। विशेष कर हिन्दू मुस्लिम राज्य की समस्या ने मदद की। औरंगजेब की कट्टर धार्मिक नीति के कारण फिर इस संघर्ष पर पर्दा पड़ गया और उस समय पड़ा जब कि यह संघर्ष प्रखर हो रहा था।

इस प्रकार वर्ग-संघर्ष दबा-दबा रहा और दूसरी-दूसरी समस्याओं से लोग उलझे रहे। इसलिए हम किसी मध्यकालीन कवि से यह आशा नहीं कर सकते कि वह वर्ग-संघर्ष का स्पष्ट चित्रण करेगा, कि वह

राजाओं और सामन्तो के विरुद्ध किसानो के राज्य की माँग करेगा। परन्तु बिना अपनी रूप रेखा स्पष्ट किये हुए भी यह सघर्ष विद्यमान था और किसी न किसी रूप मे उस समय के महान् साहित्यिको की रचनाओ मे उसकी छाया मिलेगी ही। अकबर और जहाँगीर के व्यक्तिगत जीवन का, उनके युद्धो को, उनके स्थापत्य-सम्बन्धी निर्माण-कार्य को आधुनिक इतिहास-पुस्तको मे जो एकागी महत्व प्राप्त है, उससे यह नही कहा जा सकता कि य इतिहासकार भी उत्पादन और वर्ग-शोषण की समस्याओ के प्रति सचेत हो पाये है।

"खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी"—इस प्रसिद्ध पक्ति मे तुलसीदास ने अपनी भौतिक जागरूकता का परिचय दिया है। कुछ लोग इस कवित्त को अपवाद कहकर कवि की इस जागरूकता से आँखे चुराना चाहते है। परन्तु यह छन्द अपवाद नही है। जैसा कि प० रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है, गोस्वामीजी ने कलिकाल के वर्णन मे अपने समय का ही चित्रण किया है। "कलि बारहि बार दुकाल परै" आदि पक्तियाँ कल्पनालोक का चित्रण नही करती। उनका तथ्य तुलसी के युग का तथ्य है और इतिहास उसका साक्षी है। बचपन मे उन्होने जो कष्ट पाया था, उसका मार्मिक वर्णन उनके छन्दो मे मिलता है। कुछ विद्वान् उसे भगवान् को फुसलाने का बहाना समझते हैं। उनकी समझ मे महाकवि तुलसीदास के लिए यह कहना कि बचपन मे उन्हे रोटी को तरसना पडा, उनका अपमान करना है। उनकी समझ मे बाहुपीडा का वर्णन भी एक कल्पना है। काशी मे महामारी का वर्णन समस्त काशी-निवासियों को मोक्ष-दिलाने का बहाना है। अपने को पतितो का सिरताज कहना और बात है, अन्नकष्ट, महामारी, बाहुपीड़ा आदि का यथार्थ वर्णन करना बिल्कुल दूसरी बात है। तुलसीदास जन्म भर अपने

कष्टो को नही भूले, इस जन्म मे उनके कष्टों का अन्त हो गया, यह भी निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता। इसी कारण दुखियो और पीडितो के प्रति उन्हे सहज सहानुभूति थी और मध्यकाल से लेकर अब तक मानव-सुलभ सुहृदयता के सबसे बडे कवि तुलसीदास ही है। सहृदयता के अद्वितीय प्रतीक अयोध्याकाड के भरत है।

अपने समय की दुरवस्था के कारण ही उन्होंने रामराज्य की कल्पना की। दुरवस्था के कारण ही उन्होंने कहा कि—"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी।" उत्तरकाड मे एक ओर राम-राज्य की कल्पना, दूसरी ओर कलियुग की यथार्थता द्वारा तुलसीदास ने अपने आदर्श के साथ वास्तविक परिस्थिति का चित्रण कर दिया है। किसी भी दूसरे कवि के चित्रो मे ऐसी तीव्र विषमता नहीं है, किसी के चित्रण मे यह "कट्रास्ट" नही मिलता, परन्तु रामराज्य के सिवा अन्यत्र भी दुष्ट शासको पर उन्होंने अपने वाग्बाण बरसाये है। उन्होंने भविष्य वाणी की है कि रावण और कौरवो के समान इन शासकों का भी अन्त होगा।

"राजकरत बिनु काज ही, करै कुचालि कुसाज।
तुलसी ते दसकंध ज्यों, जइहै सहित समाज॥
राज करत बिनु काज ही, करहि जो कूर कुठाट।
तुलसी ते कुरुराज ज्यो, जइहै बारह बाट॥"

ये साधारण दोहे नही है, वे कवि का शाप है। कुठाट करने वाले राजाओं को उन्होंने कुरुराज कहा है और उनके बारहबाट होने की कामना की है। अन्यत्र कहते है कि शोषण करने वाले बहुत है परन्तु जनता का हित करनेवाले कम है। पाठक "जगजीवन" और "सोषक" शब्दो पर भी ध्यान दे।

"तुलसी जगजीवन अहित, कतहूँ कोउ हित जानि।
सोषक भानु कृसानु महि, पवन एक घन दानि॥"

स्वार्थ-साधक देवताओं और राजाओं को एक ही श्रेणी मे खड़ा करके कवि ने उन पर एक साथ प्रहार किया है। देवता बलि चाहते है, राजा कर , और बातों से उन्हे काम नही है।

'बलि मिस देखे देवता, कर मिस यादव देव।
मुए मार सुविचार-हत, स्वारथ साधन एव॥"

एक अन्य दोहे मे उन्होने कहा है कि पृथ्वी गाय के समान है जो बच्छे जैसी प्रजा के लिए पन्हाती (अपना दूध उतारती) है, उसके पैर बॉध देने से अर्थात् भूमि सम्बन्धी नियत्रण से राजा के हाथ कुछ भी न लगेगा।

"धरनि-धेनु चारितु चरत, प्रजा सुबच्छ पन्हाइ।
हाथ कछू नहि लागिहै, किए गोडकी गाइ॥"

यह सही है कि कलियुग के वर्णन मे तुलसीदास ने वर्णाश्रम धर्म के नष्ट होने पर क्षोभ प्रकट किया है, परन्तु इसके साथ वे समाज की और व्यापक समस्याओं के प्रति भी सतर्क है। अन्नकष्ट, महामारी आदि का उन्होने जो वर्णन किया है, उससे सिद्ध होता है कि वे अगद की भॉति अपने युग की सामयिकता मे पॉव रोपे हुए थे। तुलसीदास मे आदर्श और यथार्थ का विचित्र सम्मिश्रण है। उनके सामाजिक वर्णन मे, उपमाओं मे, शब्द-चयन आदि मे एक ऐसे व्यक्ति की छाप है, जिसमे अपनी भौतिक पृष्ठभूमि के प्रति असाधारण जागरूकता है।

उस जागरूकता की सीमाएँ अवश्य है। यह स्पष्ट है कि वे अपने युग की समस्याओं से परिचित थे, परन्तु उन समस्याओं की रूपरेखा अभी बिल्कुल स्पष्ट न हुई थी। किसान दुखी है, प्रजा पीड़ित है, राजा उत्तरदायित्व-शून्य हैं, परन्तु इस व्यूह से निकलने का मार्ग क्या है ? उन्होने रामराज्य की कल्पना द्वारा मार्ग दिखाया। उन्होने अभी यह अनुभव न किया था सामन्तवाद और राजसत्तावाद

का अन्त होने पर ही इस उत्पीडन का अन्त हो सकता था। सामन्त-वाद के साथ जातिप्रथा और वर्णाश्रम धर्म बॅधा है। बिना एक का अन्त हुए दूसरे का अन्त असम्भव है। जहॉ सामन्तवाद होगा, वहॉ किसी न किसी रूप मे यह जाति-धर्म भी होगा। अन्याय और शोषण का अन्त करने के लिए उन्होंने पुरानी व्यवस्था का ही सहारा लिया, राजा हो, परन्तु न्यायी और प्रजापालक हो, वर्णाश्रम धर्म हो परन्तु व्यवस्थित, रामभक्तों के लिए यथेष्ट अपवादोवाला हो। ये युग की सीमाऍ थी जिन्होंने गोस्वामीजी के चारो ओर एक लोहे की दीवार खडी कर दी थी। उसे तोड़ना ऐसे सहृदय कवि के लिए भी कठिन था।

इन सीमाओ को अतिरजित करके देखना भूल होगी। तुलसी-दास की सहृदयता और तार्किकता मे सदा सामञ्जस्य नही रहता था। तर्क-बुद्धि से जिस वर्णाश्रम-धर्म को वे श्रेय समझते है, उसी के विरुद्ध उनकी सहृदयता विद्रोह करती थी। जहॉ-जहॉ उन्होने इस सम्बन्ध मे कुछ कहा है, वहॉ-वहॉ उनकी वाणी मे एक तर्कशास्त्री की कठोरता है, कवि तुलसी का चिर-परिचित कोमल स्वर नही है। और इसमे कोई सन्देह नही कि उनका मूल सन्देश यही है कि मनुष्य बडा होता है अपनी मनुष्यता से, न कि जाति और पद से। और भी, ब्राह्मणो की पुरोहिताई की वे निन्दा करते हैं। सस्कृत की तुलना मे भाषा का समर्थन करके उन्होने सस्कृत द्वारा पुरोहिती-शोषण पर सीधा कुठाराघात किया था। एक पद मे अपने दोष गिनाते हुए उन्होने यह भी कहा है—

> "विप्रद्रोह जनु बॉट परयो, हठि सबसो बैर बढावौ।
> ताहू पर निज मति विलास सब सन्तन मॉझ गनावौ।"

यदि कट्टर ब्राह्मण उन्हे विप्रद्रोही समझते रहे हों, तो कोई आश्चर्य नही।

वर्णाश्रम धर्म और राजसत्तावाद के साथ नारी की पराधीनता जुडी हुई है। विरक्त होने के नाते वे उसे 'सहज अपावन' समझते हैं, पति-भक्ति को पराधीनता का रूप समझकर वे उस पर आँसू भी बहाते हैं। जिस तुलसी ने 'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी' लिखा था, उसी ने यह भी लिखा था—

'कत विधि सृजी नारि जग माहीं।
पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।'

और किसी भी चौपाई म उनका हृदय ऐसा द्रवित नहीं हुआ जैसा यहाँ। यह पराधीनता सामन्तवाद क साथ ही समाप्त हो सकती थी। तुलसीदास की सामाजिक व्यवस्था में स्त्रियों के लिए पति-सेवा छोड़कर और गति नहीं है। परन्तु इसे वे पराधीनता समझते थे, यही क्या कम है। पतिसेवा का उपदेश देते हुए ही मेना ने पार्वती स यह बात कही था।

सबस महत्त्वपूर्ण प्रश्न उनकी भक्ति का है। व पराधीन जाति को भक्ति की बूटी दकर मोह-निद्रा मे सुला रहे थे या उसे जगा रह थे? क्या भक्ति मनुष्य को क्रियाशील भी बना सकती है?

विनयपत्रिका के पदो म उच्चतम भक्ति-काव्य हमे मिलता है। कोई भी मध्यकालीन कवि इस तरह स्पष्टता से अपने उपास्यदेव से नहीं बोला, किसी ने राम या कृष्ण को या अपना हृदय चीरकर नहीं दिखा दिया। उनके आत्म-निवेदन मे अपार वेदना है और यह वेदना उस व्यक्ति को है जिसे अपार कष्ट सहने पडे हैं। यह उत्कट आत्म-निवेदन कल्पना-विलास से भिन्न है, जिसे भक्ति का नाम दिया जाता है। माँगकर खाने और मौज करनेवालों की भक्ति दूसरे ढग की होती है। यह आत्मनिवेदन उस कवि का है जो अपने और दूसरों के कष्टों से पीड़ित है। उसके स्वर मे आश्रयदाताओं और उनके

चाटुकारों के प्रति अवज्ञा है। स्वय वह अपनी भक्ति के भरोसे सारी दुनिया का विरोध सहने को तैयार है।

'धूत कहौ, अवधूत कहौ,
रजपूत कहौ, जुलहा कहौ कोई।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब,
काहू की जाति बिगार न सोई॥'

और,

'जागै भोगी भोगही, बियोगी रोगी सोग बस
सोवै सुख तुलसी भरोसे एक राम के।'

यह नीरस भक्ति नहीं, एक उद्दंड व्यक्तित्व का प्रदर्शन है। राम मे भक्ति होते हुए भी तुलसीदास भक्त को ही बडा मानते थे। भरत को राम से बडा करके दिखाया था। अयोध्याकांड मे भरत के आत्मत्याग के आगे राम का त्याग भी हलका पड़ जाता है।

भक्ति को प्रतिक्रियावाद के अन्तर्गत इसलिये समझा जाता है कि वह ससार की कठोर समस्याओं से मनुष्य का ध्यान दूसरी ओर खीच ले जाती है। भक्त उन्हे सासारिक ढग से नहीं सुलझाना चाहता। तुलसीदास ससार और उसकी समस्याओं के प्रति जागरूक है, अपने ढग से उन समस्याओं का समाधान भी करते हैं। वे राम के उपासक है, राम के जो आदर्श पति, पुत्र और भाई हैं। तुलसीदास की नैतिकता उनकी भक्ति से मिली हुई है और दोनों को अलग करना कठिन है। इसी नैतिकता अथवा सामाजिकता के कारण एक जगह उन्होने दरिद्रता को ही रावण बना डाला है और राम को पेट की आग बुझानेवाला कहा है।

'दारिद-दसानन दबाई दुनी दीनबन्धु, दुरित-दहन देखि तुलसी हहाकरी।'

और,

'तुलसी बुझाइ एक राम घनस्याम ही ते, आगि बड़वागि ते बडी है आगि पेट की।'

जिस भक्ति मे पेट की आग को बडवाग्नि से भी बडा बताया गया हो, और दरिद्रता का दशानन कहा गया हो, उससे आत्म-सतोष की भावना नहीं उत्पन्न हो सकती। तुलसी लोकधर्म के समर्थक हैं, उससे विरक्त नहीं है। उनसे मतभेद तभी होगा जब उनकी भक्ति लोकधर्म से विमुख हो जायगी।

तुलसीदास ने राम को इष्टदेव के रूप मे माना है। परन्तु इससे अन्य देवताओं की उपासना का विरोध नहीं किया। वैसे तो देवताओं मे सभी मानवीय दुर्गुण हैं, फिर भी उपास्य देवता इनसे परे हैं। शैवों और वैष्णवो मे सुहृद्भाव उत्पन्न करने का उन्होंने जो प्रयास किया, वह सुविदित है। परन्तु उपासना मे जो व्यापक सुधार उन्होंने किया, उसका महत्व भरत की शपथो का स्मरण करके ही हम समझ सकते हैं।

'जे परिहरि हरिहर चरन, भजहि भूतगन घोर।
तिन्हकी गति मोहि देउ बिधि, जौ जननी मत मोर॥'

आज भी ये अन्धविश्वास निर्मूल नही हुए, मध्यकालीन भारत मे तो उनका घटाटोप अन्धकार छाया हुआ था। जहाँ राम का सन्देश पहुँचा, वहाँ कुछ अन्धकार तो अवश्य छँट गया।

अन्त मे उनकी भाषा-सम्बन्धी नीति महत्वपूर्ण ही नहीं, उनकी प्रगतिशीलता का मुख्य प्रमाण है। संस्कृत-साहित्य से सुपरिचित होते हुए भी उन्होने 'खल-उपहास' की चिन्ता न करते हुए भाषा मे कविता की। रामचरितमानस के लिए अवधी को अपनाया, उसकी भाषा को ग्रामीण प्रयोगों का दृढ आधार दिया। संस्कृत शब्दावली

उनकी आधारशिला नहीं है, उसका काम झरोखे और महराब बनाना है। आधारशिला अवधी के अति-साधारण 'भदेस' शब्द हैं जिन्हे तुलसीदास ने बडे स्नेह से सजाकर अपनी कविता मे रखा है। यह तभी सभव हुआ, जब उन शब्दो का प्रयोग करनेवालों के लिए उनके हृदय मे स्थान था। उन्होंने अपना काव्य इन्ही लोगों के लिए लिखा, उन्हीं की बोली मे लिखा। किसी कवि ने ऐसे उद्धत और उद्दड भाव से धूल भरे शब्दो को उठाकर अनुपम चतुराई से सस्कृत शब्दावली के साथ नहीं बिठा दिया। वैसे ही उनका छन्दों का प्रयोग रीति-कालीन परम्परा से भिन्न है। उसमे व्यर्थ के चमत्कारों का प्राय अभाव है, उसमे सुचारु प्रवाह और ध्वनि-सौन्दर्य है। आलकारिकता उनका लक्ष्य नहीं बन पाई, प्रभाव उत्पन्न करने के लिए ही उन्होंने अलकारों का प्रयोग किया है। रीतिकाल की साहित्यिक परम्परा को देखते हुए उनकी भाषा, छन्द और अलकार-सम्बन्धी नीति सचमुच क्रातिकारी ठहरती है।

इस प्रकार तुलसीदास भारतवर्ष के अमर कवि ही नहीं, मध्य-कालीन भारत के प्रतिनिधि कवि भी हैं और हम आज भी उनसे बहुत कुछ सीख सकते है।

[१९४४]

भूषण का वीर-रस

आज से दो-तीन सौ वर्ष पहले हिंदी-साहित्यिकों की वीर-रस के प्रति जो भावना थी, उसमे अब तक बहुत कुछ परिवर्तन हो चुका है। उस समय मोटे तौर पर दो प्रकार के वीर-काव्य होते थे, एक तो खुमान रासो, बीसलदेव रासो, आल्हा प्रभृति के, जिनमे वर्णित युद्धों का मूल-कारण प्रणय होता था, दूसरे सूदन, लाल, श्रीधर आदि के ग्रथों की भाँति, जिनका सबध केवल युद्ध तथा वीर-रस से रहता था। दोनो ही प्रकार के ग्रथो की वृत्ति प्रशसात्मिका होती थी। कवि का लक्ष्य होता था, अपने नायक की वीरता का वर्णन करके उसे प्रसन्न करना। स्वभावत. कवि बात को बहुत बढ़ाकर, तिल का ताड़ बनाकर, कहता था, साथ ही यह भी ध्यान रखता था कि कहने के ढग मे चमत्कार हो, कविता सुनते ही स्वामी का हृदय गुदगुदा उठे। आधुनिक धारणाएँ इसके विपरीत हैं। हम वीर-कविता में अतिशयोक्ति-पूर्ण किसी राजा-महाराजा के शौर्य का वर्णन नहीं चाहते, जिसे सुनने से उसकी सचाई पर विश्वास भी न हो, धन पाने के लिए किये गये उसके यश और दान के वर्णना की भी हम आवश्यकता नही। हम वीर-काव्य के मूल मे ऐसी सद्भावना चाहते है, जिसने किसी सुन्दरी के लिए नही, धन-प्राप्ति तथा राज्य-विस्तार के लिए भी नही, वरन् सत्य के लिए, स्वदेश तथा स्वजाति की रक्षा के लिए, अपने तथा पूर्वजों के स्वाभिमान के लिए मनुष्य को प्रेरित किया हो। हम ऐसी वीर-कविता चाहते हैं, जिसे पढ़कर अत्याचार और अन्याय से दबे हुए मनुष्य को अपनी पतित से पतित अवस्था में भी अपनी मनुष्यता का ज्ञान हो

सके तथा वह उसे पुनः प्राप्त करने के लिए सचेष्ट हो। पुरानी कविता का इस कसौटी पर पूरी तरह खरा उतरना असंभव है। उस समय के कवि देश व काल के किन्हीं विशेष नियमों में बँधे भी थे। वह प्रजातन्त्रवाद का जमाना न था, देश पर शासन करनेवाले छोटे-बड़े राजे और सरदार थे। कवि उन्हीं के आश्रय में रहकर काव्य के साथ-साथ उदर-पूर्ति कर सकते थे। स्वामी की रुचि का कवि के ऊपर प्रभाव पड़ना निश्चित था। वह यदि आलंकारिक चमत्कारों तथा अतिशयोक्तियों से पूर्ण वर्णन पसन्द करता, तो कवि भी वैसी कविता करने में अपना सौभाग्य समझता। एक बार एक प्रथा के चल निकलने पर किसी सत्कवि द्वारा एकाएक उसका बहिष्कार भी संभव न था। आज जब हम उस काल के किसी कवि की कविता की परख करें, तो तत्कालीन बंधनों का ध्यान रखते हुए हमें अपने आलोचना के नियमों को लागू करना होगा।

भूषण ने अपने आश्रय-दाताओं के संबंध में जो कविता लिखी है, वह उनकी जातीयता, वीरता तथा आत्मत्याग से प्रेरित होकर नहीं लिखी, उसके मूल में एक महती प्रेरणा धन की भी है। स्थल-स्थल पर उनकी कविता में स्पष्ट हो जाता है कि वह अपने नायक की वीरता में उतने ही प्रसन्न है, जितने उसके दान से। दान की प्रशंसा करने में उन्होंने धरती-आकाश के कुलाबे मिला दिये हैं—

> "भूषन भनत महाराज सिवराज देत,
> कंचन को ढेरु जो सुमेरु सो लखात है।
>
> "भूषन भिच्छुक भूप भये भलि,
> भीख ले केवल भौंसिला ही की।"

कहीं-कहीं पर यह मांगने की प्रवृत्ति अत्यंत हीन रूप में प्रकट हुई है, यथा—

"तुम सिवराज ब्रजराज अवतार आज,
तुमही जगत काज पोखत भरत हौ।
तुम्है, छोडि याते काहि बिनती सुनाऊँ मै
तुम्हारे गुन गाऊँ तुम ढोले क्यों परत हो ?"

यहाँ पर वीरता की नही, धन की उपासना की गई है। ऐसे भाव भूषण को उनके उच्च स्थान से बहुत कुछ नीचे खीच लाते है।

भूषण ने अपने किसी भी नायक पर उसकी जीवन-घटनाओं के तारतम्य को ध्यान मे रखते हुए कविता नही लिखी। समय-समय पर सुनाने के लिए उन्होने जो छद बनाये, उनमे एक या अधिक ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन किया है।

किसी वीर पुरुष पर कोई महाकाव्य लिखकर ही महाकवि हो सके, ऐसी बात नही, एक या अनेक घटनाओं को लेकर सुन्दर मुक्तक लिखे जा सकते हैं। परतु भूषण घटनाओं की ओर सकेत-मात्र करके आगे बढ जाते है, अधिकाशत. किसी घटना का वह सागोपाग वर्णन नही करते। किन्ही निश्चित घटनाओं का बार-बार दोहराना खटकता है। उदाहरण के लिए शिवाजी का औरगजेब के दर्बार मे जाना, निम्न-श्रेणी के सर्दारों मे उनका खडा किया जाना तथा क्रुद्ध होने पर औरगजेब का गुसलखाने मे पनाह लेना—

"भूषन तबहुँ ठठकत ही गुसलखाने,
सिह लौ झपट गुनि साहि महाराज की।"

"कम्मर की न कटारी दई इसलाम ने गोसलखाना बचाया।"
"ह्याँते गयो चकतै सुख देन को गोसलखाने गयो दुख दीनो।"

इसी भाँति अन्य स्थलों मे भी इसी घटना के वर्णन हैं। शाइस्ता खाँ, अफजल खाँ आदि के वध, सूरत, बीजापुर आदि के युद्ध भी अनेक बार वर्णित है।

भूषण के बहुत-से वर्णन ऐसे हैं, जिनमें कोई नया तथ्य नही, केवल पुरानी रूढियों की लकीर पीटी गई है, जैसे रायगढ का अधिकाश वर्णन—

"भूषन सुबास फल फूल युत,
छहुँ ऋतु बसत बसत जहँ।"

बारहों मास वसत का होना उस काल के किसी भी महाकवि के लिए असभव नही। इसी प्रकार सेना के चलने पर धूलि से आसमान का ढक जाना, पर्वतों का हिल उठना, दिग्गजों आदि का डोलना, युद्ध मे कालिका और भूत-प्रेतो का प्रसन्न होकर नृत्य करना, नाम की धाक से, नगाडों का शब्द सुनकर ही शत्रुओ का भाग खडा होना; किसी के यश मे तीनों लोको का डूब जाना तथा उसमे कैलाश पर्वत, क्षीरसागर आदि का न मिलना; किसी के दान से कुबेर व अन्य देवो का मान भग—इस प्रकार के वर्णन पुरानी रूढियो के अनुसरण-मात्र है। शिवाजी की सेना चलने पर—

"दल के दरारेन ते कमठ करारे फूटे,
केरा के से पात बिहराने फन सेस के।"

एक दूसरी सेना चलने पर—

"काँच से कचरि जात सेस के असेस फन,
कमठ की पीठि पै पिठी सी बाँटियतु है।"

दोनों मे कोई विशेष अतर नही है।

भूषण के कुछ बँधे अलकार, कुछ बँधे वर्णन और विचार है, जिन्हे उन्होंने अनेक बार दोहराया है। शत्रुओं की स्त्रियों का घर छोडकर भागना, अपने स्वामियों को सधि की सीख देना तथा अनभ्यस्त होने के कारण अनेक प्रकार के कष्ट सहना। इस पुनरावृत्ति का एक उदाहरण है—

"तेरे त्रास बैरी-बधू पीवत न पानी कोऊ,
पीवत अघाय धाय उठे अकुलाई है।
कोऊ रही बाल कोऊ कामिनी रसाल,
सो तो भई बेहवाल भागी फिरै बनराई है।"
"भूषन भनत सिह साहि के सपूत सिवा,
तेरी धाक सुने अरिनारी बिललाती है।"
"हवा हू न लागती ते हवाते बिहाल भई,
लाखन की भीर मे सँभारती न छाती है।"
'सुनत नगारन अगार तजि अरिन की,
दारगन भाजत न बार परखत हे।"

ऐसे वर्णनो की अत्यधिक सख्या तथा उनकी भावव्यजना के ढग को देखकर ऐसा भान होने लगता है, मानो भूषण को उनमे कोई विशेष आनद आता हो तथा शत्रु-नारियो की ऐसी दशा होने से वह अपने नायक मे विशेष वीरता पाते हो।

भूषण के वर्णन अधिकाशतः इतने अतिशयोक्तिपूर्ण होते हैं कि किन्ही स्थलो पर किये गये यथार्थ वर्णन भी असत्य से लगते हैं। शत्रुओ की स्त्रियाँ जब रोती है तो—

"कज्जल कलित अँसुवान के उमग सग,
दूनो होत रोज रग जमुना के जल मे।"

यह पढकर निम्न पक्तियाँ भी तिल का ताड भासित होने लगती हैं—

"आगरे अगारन ह्वै फाँदती कगारन छ्वै,
बाँधती न बारन मुखन कुम्हलानियाँ।
कीबी कहैं कहा औ गरीबी गहे भागी जायँ,
बीबी गहे सूथनी सु नीबी गहे रानियाँ।"

न लगेंगे, पर वे केवल गालियाँ हो, ऐसी बात नही, उनमे साहित्यिक चमत्कार है।

दक्षिण के सूबेदार बदलने पर भूषण की उक्ति है—

"चचल सरस एक काहू पै न रहै दारी,
गनिका समान सूबेदारी दिली दल की।"

इसी प्रकार—

"नाव भरि बेगम उतारै बाँदी डोगा भरि,
मक्का मिस साह उतरत दरियाव हैं।"

तथा—

"चौकि चौकि चकता कहत चहुँधा ते यारो,
लेत रहौ खबरि कहाँ ली सिवराज है।"

इसी कोटि के और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं।

भूषण यदि चेष्टा करते तो सुदर यथार्थ वर्णन करते। जहाँ कहीं इस प्रकार के वर्णन किये है, वहाँ वे खूब ही बन पडे हैं।

मराठों के आक्रमण का कितना वास्तविक चित्रण है—

"ताव दै दै मूछन कँगूरन पै पाँव दै दै,
अरिमुख घाव दै दै कूदे परैं कोट मे।

इसी भाँति रणभूमि का दृश्य—

"रनभूमि लेटे अधलेटे अरसेटे परे,
रुधिर लपेटे पठनेटे फरकत हैं।'

भूषण की इस प्रकार की स्वाभाविक चित्रणवाली कविता, उनके व्यग्य-छद तथा उनका वीर-रस, वह कितनी ही परिमित मात्रा मे क्यों न हों, अमर हैं।

[जुलाई '३५]

कवि निराला

जिन लोगो का साहित्य से कुछ भी सबध नही, केवल दूर से, या व्यक्तिगत रूप से निराला को जानते है, उनको भी कहते सुना है, निराला की बात ही निराली है। जो थोड़ा बहुत उसके साहित्य को जानते हैं, हृदय मे सहानुभूति रखते हैं, सरासर ही उसकी कृतियों को ऊटपटाग नही कहना चाहते, वे भी कहते हैं, निराला निराला ही है। निराला कवि का उपनाम है परतु इतना उसके जीवन और उसकी कृतियो पर लागू होता है कि बहुत सोचने समझने के बाद एक शब्द मे ही उसके साहित्य का परिचय देना हो तो हम निराला से अधिक व्यापक दूसरा शब्द नही चुन सकते। निराला वह जो युग की साधारणता के विपरीत विचित्र लगे, और सार्वभौम सार्वकालिक निराला वह जो किसी भी देश, किसी भी काल के नितांत अनुकूल न हो सके। ब्रजभाषा काल मे निराला की कल्पना कठिन हे, आधुनिक युग के वह कितना विपरीत रहा हैं, यह उसका तीव्र विरोध देखकर कुछ समझा जा सकता है। और आने वाले युग मे, राजनीति को लिए हुए साहित्य के अन्तरग घोर सघर्ष मे, निराला को कोई साहित्य सिहासन पर बिठाएगा, यह भी कल्पना मे नही आता। फिर भी उसके लिए हर युग मे गुजाइश है, हर युग उसमे कुछ समानता पा सकता है क्योंकि निराला एक विरोधाभास, पैराडाक्स है, उसमे विरोधी धाराएँ दूर-दूर से आकर टकराई है, वह नया भी है पुराना भी, भूतकाल का है, और भविष्य का भी, उसी के शब्दो मे 'है है, नही नही'। उसके साहित्य मे इतने सवादी और विवादी स्वर लगते है कि उनका प्रभाव हमारे ऊपर विचित्र पडता है, वे एक मे बँधे हुए

हैं, उसकी साहित्यिकता के बल पर, कोमल और कर्कश सभी स्वर एक ऐसे संगीत मे बँधे हैं जो राग विशेष कहकर निर्धारित नही किया जा सकता।

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने किसी लेख में लिखा था, निराला सभी क्षेत्रों में चैलेंज देता है। उसकी प्राथमिक कविताओं मे चैलेंज स्पष्ट है, और अत्यन्त स्थूल रूप से छदो मे। वर्णिक और मात्रिक, गेय और पाठ्यवृत्तों में उसने अनेक कविताएँ लिखी परन्तु हिन्दी पाठकों ने यह चैलेंज स्वीकार न किया; प्रत्युत् यही कहा, उसे छद लिखना न आता था। निराला का दावा था, मुक्त कविता के लिये मुक्त छद की आवश्यकता है, तर्क कुछ इस रूप में दिया गया जैसे छद की मुक्ति से ही कविता मुक्त हो जायगी। 'शिवाजी का पत्र' मुक्त ही नहीं उच्छृङ्खल भी है, गति के साथ विचारों का भी प्रधान उसमे नही है। केवल अपने धारावाहिक वक्तृत्व के ओज पर ही बढता चला जाता है; और कुछ लोगों को, जिन्हे 'परिमल' मे अन्यत्र कुछ भी रस नही मिलता, अवश्य प्रभावित करता है। 'जागो फिर एक बार' के दूसरे भाग में यह ओज सुसगठित हो गया है, प्रवाह जारी है। उसी कविता के पहले खण्ड मे माधुर्य के साथ छद को मद गति सहज बँध गई है। और 'जुही की कली' और 'शेफाली' मे वही छद इतने प्रशात भावावेश का परिचायक जान पड़ता है कि छद के नियम-भग का सवाल ही नही उठता। मुक्त होते हुए भी छद गति के इतने सुकोमल प्रायः अस्पृश्य ततुओ से बँधा हुआ है कि उसे मुक्त कहना अन्याय जान पडता है। मुक्त छद के भी अपने नियम होते हैं, साधारण छदों के नियमों स कठिनतर क्योंकि उनकी व्याख्या सहज नही,—यह इन कविताओं से सिद्ध है। और ये कविताएँ वर्णिक हैं। मात्रिक मुक्त छद मे लिखी हुई कविताएँ गाई जा सकती हैं, विदेशी सगीत का आभास

देते हुए कवि उन्हे गाता भी है। इसके बाद वे कविताएँ है जो छद के साधारण नियमो के अनुसार लिखी गई हैं; 'देख चुका जो जो आये थे, चले गए' इत्यादि परिमल के वे मुक्तक जिनकी सरल भाव-व्यजना कवि की बाद की कृतियों में बहुत कम आ पाई। उछृङ्खलता, मुक्ति मे बधन, और बधन में मुक्ति,—'परिमल' के छदो का यही इद्रजाल हैं। यह छद-वैचित्र्य कवि के निराला-तत्व का परिचायक है।

यही हाल भावना मे है। आलोक और अन्धकार दोनो तक कवि की कल्पना पेंगे भरती हैं। अचल का चचल क्षुद्र 'प्रपात' अन्धकार से निकलता और प्रकाश को ओर जाता रवीद्रनाथ के 'निर्झर स्वप्नभग' को याद दिलाता है। इसकी गति अधिक नम्र है, जहाँ रवींद्रनाथ के पर्वतचय ढह जाते हैं, वहाँ निराला का प्रपात केवल पत्थर से टकराता है, मुस्कराता है और अजान की ओर इशारा कर आगे बढ जाता है। और दूसरी ओर बादल है, जिसके लिए, 'अधकार—घन अधकार ही क्रीड़ा का आगार' है। इसी शून्य मे बादल की सारी क्रियाएँ समाप्त हो जाती है, न कहीं आना है न जाना है। इन दो चरम स्वरो के बीच 'परिमल' का सगीत निहित है। प्रार्थना के करुण रोदन से लेकर विद्रोह की उदात्त चीत्कार तक सभी कुछ यहाँ सुनने को मिलता है। और अपने पौरुष से कवि ने इन स्वरो के झझावात पर विजय पाई है। अपने बादल की ही तरह,

> मुक्त ! तुम्हारे मुक्तकठ मे
> स्वरारोह, अवरोह, विधान,
> मधुर मद्र, उठ पुन. पुनः ध्वनि
> छा लेती है गगन, श्याम कानन,
> सुरभित उद्यान।'

'गीतिका' के अनेक गीतों मे इस अधकार तत्व का निदर्शन हुआ है। 'कौन तम के पार' गीतिका का शायद सबसे जटिल गीत है, जटिलता का एक कारण हो सकता है, कवि थोडे में बहुत ज्यादा कहना चाहता हे, यह भी हो सकता है कि उसके मानसिक द्वद में यह भाव स्वय कवि के लिए बहुत स्पष्ट न हो पाया हो। किन्तु इस गीत के भीतर एक ऐसी शक्ति का परिचय मिलता है जो अस्पष्ट होने पर भी अपनी तरफ पाठक को बरबस खींचती है। हिरैक्लिटस, बुद्ध या बर्गसन की भाँति सभी तत्व यहाँ चल रूप में देखे गए है। विश्व एक स्रोत कहा गया है जिसका प्रवाह यह आकाश ही है। इसी प्रवाह मे चर अचर, जल और जग, दोनों आ जाते है। समस्या यही है, किसे चर कहा जाय, किसे अचर। और इसी प्रवाह मे प्रवाहित मनुष्य है, एक सरोवर के समान, जहाँ लहरे बाल हैं, कमल मुख है, किरण से वह खुलता है, आनन्द का भौरा उस पर गूँजता है, किन्तु सध्या होते इस कमल को खिलाने वाला सूर्य निशा के हृदय पर विश्राम करता है, तब सार उसका उदय था, या उसका अस्त? प्रकाश सार है या अन्धकार? तमोगुण से सत्य का विरोध है किन्तु बिना तम के सतोगुण की कल्पना भी असभव है। इसीलिए कवि पूछता है 'कौन तम के पार!' शून्य मे ही विश्व का आदि है और अवसान! 'डूबा रवि अस्ताचल' गीत मे वह अधकार की देवी का आह्वान करता है। चारो ओर स्तब्ध अधकार छाया हुआ है, उसी मे 'तारक शत-लोक-हार' और विश्व का 'कारुणिक मगल' भी डूब गए हैं। तभी तमसावृता मृत्यु की देवी को वह जीवन-फल दर्शन करने के लिए बुलाता है।

'वही नील-ज्योति-वसन
पहन, नील नयन-हसन,

आओ छवि, मृत्यु-दशन
करो दश जीवन-फल।'

ऐसे गीतो मे एक प्रकार की जीवन से विरक्ति है; एक ऐसी निराशा है जो जितना ही शब्दों के नीचे मुँदी हुई है, उतनी ही गंभीर है। इस निराशा मे रोमांटिक निराशा की, सासारिक सुख से अनिच्छा आदि की, झलक नही है। निराला की निराशा दार्शनिक और युक्ति-पूर्ण है, इसे तर्क से आशा-वाद मे परिणत नही किया जा सकता। केवल कवि की आत्मा के सोते हुए शक्ति-केन्द्रो मे जब स्फुरण होता है, तब वह इस अधकार को छिन्न भिन्न करने के लिए आतुर हो जाता है। तम और आलोक, अस्ति और नास्ति मे तुमुल सघर्ष मच जाता है और वह अपने क्लेश की एक झलक हमे किसी गीत मे दे देता है।

'प्रात तव द्वार पर,
आया जननि, नैश अध पथ पार कर।'

रात्रि भर वह अधकारमय पथ मे चला है; प्रातःकाल इष्ट की देहरी पर पहुँचा है, उसकी वाणी मे थकान है परंतु विजयोल्लास भी।

"लगे जो उपल पद, हुए उत्पल ज्ञात,
कंटक चुभे जागरण बने अवदात,
स्मृति मे रहा पार करता हुआ रात,
अवसन्न भी हूँ प्रसन्न मै प्राप्तवर—
प्रात तव द्वार पर।'

पैरो मे पत्थर लगे, वे कमल से जान पडे, उपल ही साधना के बल से जैसे खिलकर उत्पल बन गए हो। काँटे चुभे, वे नींद को दूर करते रहे। इस प्रकार वह स्मृति में सस्कारो के कटकित मार्ग को,

पार करता रहा है। इस समय जर्जर, उसका शरीर अवसन्न हो गया है, फिर भी वह प्रसन्न है। यहाँ हम एक सघर्ष का चित्र देखते हैं, और इसमें कवि अपनी पूरी शक्ति मे एक विरोधी तत्व को परास्त करने मे लगा है। हम यहाँ इस अद्‌भुत क्रियाशीलता की झलक भर पाते है, किंतु यही द्वद निराला की इस युग की दो महत्तम कृतियो का कारण है, 'तुलसीदास' और 'राम की शक्तिपूजा' का।

'तुलसीदास' कविता पहले लिखी गई थी, उसमे कवि ने अपना पूरा द्वद तुलसीदास पर आरोपित करके उसका विशद चित्रण किया है। भक्त कवि तुलसीदास के लिए यह सघर्ष, विजय पराजय, तत्वों की क्रियाशीलता सत्य हो या न हो निराला के लिए अवश्य है। तुलसीदास मे निराला ने अपनी प्रतिच्छाया देखी है, पुरातन कवि की मनोभूमि को उसने अपने सघर्ष का रंगमच बनाया है। तुलसीदास भारत की सभ्यता के सूत्रधार है, और जो कुछ है वह विरोधी तमोगुणपूर्ण है। तुलसीदास इसी विरोधी तत्व से युद्ध करते अत मे 'अस्ति' को लिए विजयी होते है। अनेक मानसिक भूमियों पर वे विचरते हैं, विचित्र समस्याओ से उलझते और उन्हे सुलझाते हैं और अत मे अपनी पूरी शक्ति के साथ वह बधनो को तोड़ देते हैं। उनकी मुक्ति ही, भारत की, विश्व की मुक्ति है।

तुलसीदास के बाद तुलसी के चरित नायक राम में वह इसी द्वंद को आरोपित करता है। राम रावण का सग्राम छिड़ा हुआ है, कई दिन बीत गए हैं परतु विजय निश्चित नही हुई। एक दिन की घटना का वर्णन है; राम युद्ध से थके हुए अपनी सेना के साथ अपने ख़ेमे की ओर चलते हैं। संशय से वह विकल हो गए हैं और रावण-विजय अब पूर्व की भाँति एक निर्धारित वस्तु नहीं जान पड़ती। गरजता सागर, अमावस की काली रात और पर्वत के सानु की प्राकृतिक सेटिंग में राम को चितामग्न हम देखते हैं।

यहाँ पुरुष और प्रकृति सभी अपने तत्वों के अनुकूल एक भयानक युद्ध मे लगे हुए हैं। रावण तमोगुण का प्रतीक है; आकाश तत्व से उसकी मैत्री है। आकाश मे शिव का वास होने से शिव उसके इष्टदेव हैं। शिव की सगिनी शक्ति भी स्वभावतः रावण के साथ है। इसी कारण राम की पराजय होती है। 'लाछन को ले जैसे शशाक नभ मे अशक',—यह देवी रावण को गोद मे लिए राम के सभी ज्योतिःपुज अस्त्रो को अपने ऊपर ले लेती है। जाबवान के कहने से राम शक्ति की नवीन कल्पना करके उसकी पूजा मे तल्लीन होते है और अत मे योग द्वारा शक्ति उनके वश मे होती है। निराला की परुषता, उसका ओज यहाँ विरोधी तत्वों के पारस्परिक सघर्ष में खूब स्पष्ट देखने को मिलता है। निराला मे जो अश शक्ति का उपासक है, उसने यहाँ अपनी पूर्ण व्यजना पाई है। आकाश का उल्लास, रावण का अट्टहास, समुद्र का आदोलन, अमानिशा का अधकार उगलना और इन सब पर राम की अर्चना महावीर का विजयी होकर, आकाशवासी शकर को भी त्रस्त करना आदि वर्णन हिंदी ही नही, कविता के लिए नवीन है। शेक्सपियर मे 'किग लियर' के तीसरे अक मे झन्झा का प्रचड कोप और लियर की विकलता, 'पैराडाइज लॉस्ट' मे सैटन का पहली बार नरक के अधकार-आलोक को देखना, दाँते के इनफर्नो के पीडित जन समुदाय, वहाँ के तूफान, वहाँ का रुदन,—सभी अपनी विशेषताएँ लिए हुए हैं, परतु 'राम की शक्ति पूजा' की प्राकृतिक सेटिग इन सब से भिन्न है, वेदनापूर्ण नहीं परतु सर्वाधिक ओजपूर्ण। इस ओज का रहस्य निराला की प्रतीक-व्यजना है। रावण, अधकार, आकाश, सभी एक साथ क्रियाशील हैं, रहस्यवादियों ने एक ही आलोकमय जीवन में विश्व को डूबा हुआ देखा था, परंतु तमोगुण को इस प्रकार प्रकृति और मानव मे फैला हुआ युद्धोन्मुख, शक्तिपूर्ण और क्रियाशील

उन्होंने नही देखा। 'राम की शक्ति पूजा' हिन्दी की श्रेष्ठ 'हीरोइक पोएम' है।

'तुलसीदास' मे सतोगुणी तत्व का वर्णन अधिक ओजपूर्ण हुआ है; 'राम की शक्ति पूजा' मे अधकार का। विषय दोनो का प्रायः एक होते हुए भी चित्रण मे भिन्नता है। 'शक्तिपूजा' मे अधकार और अन्य तामसी तत्वो की क्रिया से अधिक आकर्षक हमें कुछ नही दिखाई देता। राम के विजयी होने पर भी रावण और उसकी शक्ति अधिक नाटकीय है। और यही कवि का निराला-पन है; कभी आलोक कभी अधकार, वह दोनों को चित्रित करता है, कभी किसी को घटाकर कभी बढा कर।

निराला एक नए युग की भावना लेकर आया है, ब्रजभाषा के स्कूल से बहुत सी बातो मे वह भिन्न है। 'गीतिका' की भूमिका मे उसने पुराने गीतो से असतोष प्रकट किया है। फिर भी आलकारिकता मे वह अपनी 'वन-बेला' या 'सम्राट् अष्टम एडवर्ड के प्रति' कविताओ द्वारा ब्रजभाषा की अलकारप्रियता को मात देता है। शब्दों के आवर्त रखने का उसे मर्ज सा है; अधिकाश वे सुदर होते है, कभी-कभी भोंडे भी। रोमाटिक कवियों के बे सिर पैर के भावावेश मे वह विश्वास नही करता, फिर भी 'राम की शक्तिपूजा,' 'जागो फिर एक बार' आदि मे उसकी कविता स्वतः प्रवाहित जान पड़ती है। केवल मेदान मे सर् सर् करती गगा की भाँति नहीं वरन् पहाड़ों के बीच टकराती, घनी अँधेरी घाटियो मे पत्थरो को काटती, बहाती, वह तुमुल शब्द करती चलती है। शक्ति की एक अजस्र धारा सी, विरोधों का नाश करती, वह बहाई हुई नदी नही लगती। यह सब भी उसी पैराडॉक्स का एक अग है।

भाषा में वह सरल से सरल और कठिन से कठिन शब्दो का

प्रयोग करता है। कभी माधुर्य की पुरानी कल्पना से प्रभावित जान पड़ता है,

'चलो मंजु गुंजर धर
नूपुर शिंजित चरण'

—लिखता है, कभी सीधे शब्दो के प्रयोग द्वारा वह एक कर्कश आधुनिकता का आभास देता है। कभी उसके स्वर लंबे खिंचे हुए प्राफेट के से आते है—

'बुझे तृष्णाशा, विषानल, झरे भाषा अमृत निर्झर।' कभी वह छोटे छोटे स्वर भग कर पढना मुश्किल कर देता है,—

'मैं लिखती, सब कहते,
तुम सहते प्रिय सहते।'

उसके भीतर परुषता है, मृदुलता भी, पुरुषत्व भी, स्त्रीत्व भी, व्यग्य भी, गभीर उपासना भी, आस्तिक भी, नास्तिक भी ...

हिंदी आलोचक कभी हाथी की टाँग देख कर उसी को हाथी कहने लगते है, कभी उसकी पूँछ को ही, कोई कोई गोबर पर ही पैर पडने से त्राहि त्राहि करने लगते है। उसके सघर्षपूर्ण ड्रैमेटिक व्यक्तित्व पर लोगों की कम नजर जाती है। बिना इस आतरिक सघर्ष के कोई महती साहित्यिक कृति क्या देगा? जो एक का होकर रहेगा, वह विश्व का व्यापक चित्रण क्या करेगा? भावुक कवि छोटी-छोटी 'लिरिक्स' लिख सकते हैं, वे निराला की 'हीरोइक पोएम्स' नही लिख सकते। उसकी 'लिरिक्स' के घात प्रतिघातो को भी वे नहीं पा सकते। पो आदि ने सौंदर्य मे मनुष्य को आश्चर्य मे डाल देने वाली कोई वस्तु देखी है; इस 'सर्प्राइज' को हम निरालापन कह सकते हैं। सभी कवि निराले होते हैं, क्योकि अपनी मौलिक प्रतिभा से वे विश्व को कुछ नया देते है। कवि निराला खान-पान, रहन-सहन की बातों से

लेकर अपनी सूक्ष्मतम स्पष्ट अस्पष्ट विचार भावना धाराओं में निराला है। निरालापन उसके व्यक्तित्व के अणु-अणु मे व्याप्त है; इसीलिए उसके काव्य-साहित्य का एक शब्द मे निराला कह कर परिचय दे सकते है। निराला कह कर मुँह मटकाने के लिए नही, वरन् उसकी श्रेष्ठ कवि-प्रतिभा को स्वीकार करने के लिए।

[नवबर '१६३८]

निराला और मुक्तछंद

'मुक्तछद' मे एक विरोधाभास है। यदि वह मुक्त है, तो फिर छंद क्यों? वास्तव मे छद का अर्थ ही बन्धन है—'बन्धनमय छन्दों की छोटी राह'। परन्तु जैसे छन्द की सीमाओं मे भी कवि गति-लय मे स्वेच्छाचारी होता है, वैसे ही मुक्तछद की 'मुक्ति' भी निरपेक्ष नही है, वरन् गति-लय की सीमाओं से बँधी है। मुक्त छद मे लिखी हुई कविता 'कविता' है या नही, यह अब विवाद का विषय नही रह गया। परन्तु मुक्तछद और साधारण छदो मे किसका प्रयोग अधिक वाछनीय है और क्तछद [illegible] द.' को सापेक्षता की सीमा मे बाँधनेवाले कौन से नियम हैं, यह विषय विवादास्पद है और उस पर अभी यथेष्ट चर्चा भी नही हुई।

छायावादी युग के आरम्भ से मुक्तछद का प्रचार हुआ है। उस समय से लेकर लगभग दस-पन्द्रह साल तक इस विषय पर जो विवाद चला, वह विवाद न होकर वितडावाद बन गया। विरोधी अधिक थे और वे इस विषय पर गभीरता से कुछ सोचने और कहने के लिए तैयार न थे। इसकी नकल करना आसान था और हास्यरस के लिए बहुत से जोकरों को यह बहुत सस्ता बाजा मिल गया था। एक ध्यान देने की बात है कि कवित्त-सवैया और समस्या-पूर्ति वाला सम्प्रदाय इसका सब से कट्टर विरोधी था। वह छाया-वादियों पर जहाँ यह दोष लगाता था कि वे अलकार-शास्त्र को नही जानते, वहाँ पिङ्गल-सम्बन्धी 'अज्ञान' भी उसे एक अच्छा अस्त्र मिल जाता था। उस समय मुक्त छद ने कवित्त-सवैया और समस्यापूर्ति के मोर्चे को तोड़ने मे अग्रदल का काम किया, यह

उसका ऐतिहासिक महत्त्व है और इसके लिए हमें उसका कृतज्ञ होना चाहिए।

यह स्वाभाविक था कि उस समय उसकी सापेक्ष मुक्ति के नियमों की ओर लोगों का ध्यान न जाय। वरन् इसके आचार्य निरालाजी की अनेक उक्तियों से किसी हद तक एक भ्रान्त धारणा की भी पुष्टि हुई। निरालाजी ने रीतिकालीन साहित्य की विचार-भूमि से जो स्वाधीनता प्राप्त की, उसे उन्होंने 'छन्द' मात्र के साथ जोड़ दिया। उनका कहना था कि मुक्त भावना का वाहक छद भी मुक्त होना चाहिए। जैसे सन् '२४ की इस कविता मे—

> 'आज नहीं है मुझे और कुछ चाह,
> अर्धविकच इस हृदयकमल में आ तू
> प्रिये, छोड़कर बन्धनमय छन्दों की छोटी राह !'

''छदों की छोटी राह' में तिरस्कारवाला भाव स्पष्ट है। इसके दस-बारह साल बाद 'माधुरी' में अपने गीतों की चर्चा करते हुए उन्होने लिखा था—'भावों की मुक्ति छन्द की भी मुक्ति चाहती है। यहाँ भाषा, भाव और छन्द तीनों स्वतत्र हैं।' और 'परिमल' की भूमिका में भी—'मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बन्धन से छुटकारा पाना है, और कविता की मुक्ति छन्दो के शासन से अलग हो जाना।' तब क्या 'तुलसीदास' और 'राम की शक्ति-पूजा' के भाव-बन्धन में हैं अथवा स्वयं बन्धनहीन होने पर भी वे छन्द की सीमाओं के भीतर मुक्ति के लिए छटपटा रहे है ?

> 'खिंच गये दृगों में सीता के राममय नयन'

या

> 'माता कहती थी मुझे सदा राजीवनयन'

इन पक्तियों के भाव किस प्रकार पराधीन हैं ? यदि स्वाधीन हैं तो वे छंद को तोड़ने की विकलता किस प्रकार विज्ञापित कर रहे हैं ?

प्रवाह में स्वाधीनता हो सकती है परन्तु उसका भावों की स्वाधीनता से कोई अगोचर सम्बन्ध नही है। निरालाजी ने 'पत और पल्लव' में श्री मैथिलीशरणजी गुप्त के 'वरागना काव्य' के अतुकात छद का जिक्र करते हुए लिखा था—'गुप्तजी के छद मे नियम थे। मैंने देखा, उन नियमो के कारण, उस अनुवाद मे बहाव कम था—उनके बाँध को तोडकर स्वच्छन्द गति से चलने का प्रयास कर रहा हो—वे नियम मेरी आत्मा को असह्य हो रहे थे—कुछ अक्षरो के उच्चारण से जिह्वा नाराज हो रही थी।' पन्द्रह वर्णों की पक्ति में प्रवाह अचानक रुक जाता है, परन्तु सोलह वर्णों की पक्ति मे यह बात नही होती। सदोष छद को छोड़ने का अर्थ यह नही है कि मुक्त छद के बिना प्रवाह की रक्षा ही नहीं हो सकती।

निरालाजी ने मुक्त छद से ओजगुण की विशेष मैत्री कल्पित की है।

'बद हो जाएँगे ये सारे कोमल छन्द,
सिन्धुराग का होगा तब आलाप,'—

और 'पत और पल्लव' मे—'वह कविता की स्त्री-सुकुमारता नही, कवित्व का पुरुष-गर्व है।' मुक्त छद और पुरुषत्व का कोई भी प्राकृतिक सम्बन्ध नही हैं, न निर्यमित छन्दों और स्त्री सुकुमारता का। 'राम की शक्ति-पूजा' का स्मरण करते ही (और 'जुही की कली' का भी!) इस उक्ति का कल्पित आधार स्पष्ट हो जाता है।

यह कहा जा सकता है कि गति और प्रवाह के लिए जितना विस्तार मुक्तछन्द मे सम्भव है, उतना साधारण छन्दो मे नही है। यह बात सिद्धान्तरूप मे भले ही मान ली जाय, परन्तु व्यवहार मे इसका उलटा ही दिखाई देता है। मुक्तछन्द की गति अधिक सीमित, उसका प्रवाह अधिक सकुचित होता है। निरालाजी के

मुक्तछन्द की किन्हीं भी पक्तियों का स्मरण कीजिए और इन पक्तियो से उनकी तुलना कीजिए—

'बहती जाती साथ तुम्हारे स्मृतियाँ कितनी,
दग्ध-चिता के कितने हाहाकार !
नश्वरता की—थी सजीव जो—कृतियाँ कितनी,
अबलाओं की कितनी करुण पुकार ।'

और भी—

'गरज-गरज घन अन्धकार में गा अपने सगीत,
बन्धु, वे बाधा बन्ध-विहीन ।
आँखो में नवजीवन की तू अञ्जन लगा पुनीत,
बिखर झर जाने दे प्राचीन ।'

इन पक्तियों का प्रसार दर्शनीय . परन्तु प्रवाह की गम्भीरता, नाद-सौन्दर्य, भाव की 'मुक्ति' औ छन्द की 'मुक्ति' इन पक्तियों से अधिक मुक्तछन्द मे नही प्रकट हुई,—

'है अमानिशा; उगलता गगन घन अन्धकार ;
खो रहा दिशा का ज्ञान , स्तब्ध है पवनचार ;
अप्रतिहत गरज रहा पीछे अम्बुधि विशाल ,
भूधर ज्यों ध्यान-मग्न ; केवल जलती मशाल ।'

इसका यह अर्थ नहीं है कि नियमित छन्दों मे ही कोई ऐसा गुण है जिससे यह ध्वनि-सौन्दर्य उत्पन्न होता है । सारी बात तो कवि-कौशल की है ।

मुक्तछन्द को नियमों से परे मानते हुए भी निरालाजी उसके "प्रवाह" को स्वीकार ही नहीं करते, वरन् उसे मुक्तछन्द की सफलता के लिए आवश्यक भी समझते हैं । मुक्तछन्द मे लिखी हुई कविताओं की चर्चा करते हुए 'परिमल' की भूमिका मे उन्होंने लिखा था—'उनमें नियम कोई नही । केवल प्रवाह कवित्तछन्द का-सा जान

पड़ता है। मुक्तछन्द का समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे छन्द सिद्ध करता है, और उसका नियम-राहित्य उसकी मुक्ति।' उसी भूमिका मे 'जुही की कली' से पहली पॉच पक्तियो का उद्धरण देकर कहते है—'तमाम लड़ियो की गति कवित्तछन्द की है' और 'हिंदी मे मुक्तकाव्य कवित्तछन्द की बुनियाद पर सफल हो सकता है।' यह एक काफी बड़ा बन्धन है, उसके पाश ढीले ही क्यो न हो। कवित्त की भूमि निश्चित कर देने के बाद उसके प्रवाह पर यह बन्धन लग जाता है कि वह उस गति से विद्रोह नही कर सकता। 'जिस तरह ब्रह्म मुक्त स्वभाव है, वैसे ही यह छन्द भी'—यह कहना इस नियमित प्रवाह से मेल नही खाता। 'पन्त और पल्लव' में उन्होंने कवित्त और मुक्तछन्द के सम्बन्ध पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

मुक्तछन्द की पक्तियो को सुगठित बनाने के लिए ध्वनिसाम्य का आधार लिया जाता है। निरालाजी ने इसका विशेष उपयोग किया है।

'जागो फिर एक बार !
प्यारे जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हे
अरुण-पख तरुण-किरण
खडी खेल रही द्वार !'

'प्यारे, हारे, तारे' और 'अरुण, तरुण' शब्द पक्तियों के सुगठित होने मे सहायक होते है।

ऐसे ही—

समर मे अमर कर प्राण,
गान गाये महासिन्धु से;
सिन्धुनद तीरवासी,
सैन्धव तुरङ्गों पर,
चतुरंग चमूसंग ;

सवा-सवा लाख पर,
एक को चढ़ाऊँगा,
गोविन्दसिह निज
नाम जब कहाऊँगा।'
किसने सुनाया यह,
वीरजन मोहन अति,
दुर्जय सग्राम राग,
फाग का खेला रण बारहों महीनों मे?—
शेरो की माद मे,
आया है आज स्यार—
जागो फिर एक बार!'

इस बन्द मे ध्वनि के सहज सानुप्रास आवर्त दर्शनीय हैं। उनके साथ निरालाजी ने 'चढाऊँगा,' 'कहाऊँगा' के बीच मे तुकान्त कड़ियाँ भी मिला दी हैं। अन्त मे 'स्यार' और 'बार' की तुकान्त पक्तियों से बन्द समाप्त होता है। तमाम पक्तियो मे आन्तरिक सगठन के साथ पूरे बन्द मे तारतम्य और सम्बद्धता है। बन्द के पश्चात् पूरी कविता मे यह तारतम्य विद्यमान है। हर बन्द के बाद 'जागो फिर एक बार' की ध्वनि नवयुग के वैतालिक के स्वर की तरह हृदय पर एक विचित्र मोहक प्रभाव डालती है। निरालाजी जिस पुरुषत्व के उपासक हैं, उसकी अभिव्यक्ति अनूठी हुई है।

मुक्तछन्दो मे भावो के कितने प्रकार, शब्दो की कितनी वृत्तियाँ, कितने गुण प्रकट हो सकते हैं, यह कवि के कौशल पर निर्भर है। निरालाजी ने कहा है कि मुक्तछन्द का प्रयोग ओजगुण के लिए होता है परन्तु इन पंक्तियों की कोमलता की तुलना के लिए अन्य पक्तियाँ ढूँढ़ने पर ही मिलेगी—

पिउ रव पपीहे प्रिय बोल रहे,
सेज पर विरह-विदग्धा वधू ;
याद कर बीती बाते, राते मन-मिलन की,
मूँद रही पलके चारु,
नयन जल ढल गये,
लघुतर कर व्यथा-भार—
जागो फिर एक बार !'

पहली पक्ति मे 'प,' 'र' की आवृत्ति, 'बाते,' 'राते' का ध्वनिसाम्य, 'जल-ढल' की सजल ध्वनि, 'पलके चारु' का चित्र-सौष्ठव—सब कुछ कितना स्वाभाविक है, परन्तु इसके पीछे किस कोटि का कौशल छिपा है ! क्या गद्य के टुकडे मुक्तछद पढ़ने से यही आनन्द उत्पन्न हो सकता है ? निरालाजी ने अनुप्रासो का भोड़ा प्रयोग नहीं किया, परन्तु अनुप्रासो से जितना प्रेम उन्हे है, उतना और किसी छायावादी कवि को नही है । चतुर कलाकार की भाँति उन्होने उनका उपयोग पक्तियो के सुगठन और सम्बद्धता के लिए किया है । 'शेफालिका' मे 'पल्लव-पर्यङ्क पर', 'व्याकुल विकास', 'नक्षत्रदीप कक्ष', 'सुरभिमय समीर लोक' आदि और इस तरह के सैकड़ो उदाहरण उनकी रचनाओ से दिये जा सकते हैं । पुनः, ध्वनि के आवर्त, जैसे लोक के बाद शोक, 'आली शेफाली' आदि उनके बाये हाथ का खेल है । इस कला के निरालाजी अद्वितीय आचार्य हैं । उनके अनुकरण पर जिन नये कवियों ने मुक्त छद की रचनाएँ की हैं, उनमे से कुछ ने निरालाजी के कौशल को नही अपनाया , वे मुक्ति-सिद्धान्त से ऐसे प्रभावित हुए कि ध्वनि-चमत्कार और श्रवण-सुखद प्रवाह से ही हाथ धो बैठे हैं ।

निरालाजी जिसे मुक्त छद कहते हैं, वह वर्णिक ही होता है ; मात्रिक छदों के आधार पर जिस मुक्त छद की सृष्टि हुई है, उसे वे

गीति-काव्य की सज्ञा देते है। परन्तु आज कल 'मुक्त छद' का प्रयोग वर्णिक और मात्रिक—दोनो ही प्रकार के मुक्त छद के लिए होता है। अन्तर केवल इतना है कि यह गेय भी होता है। निरालाजी एक विशेष प्रकार के सगीत मे उसकी बदिश करते है। वर्णिक मुक्त छद मे अनुप्रासों और ध्वनि के आवर्तो का प्रयोग कुछ कम होता है, परन्तु होता अवश्य है। निरालाजी के मात्रिक मुक्त छद का आधार १६ मात्रावाला छद रहता है। मात्राओ की कमी को थोडा-बहुत स्वर के विस्तार से पूरा कर लेने पर उसे तिताले मे बाँधा जा सकता है। शायद इसीलिए निरालाजी उसे पूर्ण मुक्त छद नही मानते।

मुक्तछद मे कविता करना चाहिए या नही, इस प्रश्न का हाँ, ना मे उत्तर नही दिया जा सकता। यदि कहा जाय कि छदबद्ध पक्तियाँ याद हो जाती हैं तो मुक्त छद के प्रेमी अपने अनुभव से यह तर्क काटने के लिए तैयार हो जायँगे। एक बात निश्चित है कि मुक्तछद मे सफलता पाना प्रतिभाशाली कवि के लिए ही सभव है। श्री सोहनलाल द्विवेदी ने मुक्तछद को सुगठित बनाने के लिए जिन तरकीबो से काम लिया है, वे इतनी सस्ती हैं कि वे मुक्तछद की पैरोडी मालूम होती है। अनधिकार चेष्टा से मुक्तछद बहुत जल्दी बकवास मे बदल जाता है। उसमे गति और प्रवाह का आनन्द नही रहता। यदि कोई तुकों की कठिनाई से मुक्तछन्द को अपनाये तो उसे बाज़ आना चाहिए। आज कल मुक्त छद मे जो रचनाएँ होती हैं, उनमें प्रवाह की धीरता-गभीरता के स्थान मे पगुता, गतिहीनता अधिक रहती है। श्री प्रभाकर माचवे के मुक्तछद में गद्यात्मकता सीमा को लाँघ गई है।

परन्तु जिसे भी शब्दों के माधुर्य की पहचान होगी, कड़ियो को मिलाकर प्रवाह पैदा करने का कौशल आता होगा, वह अवश्य मुक्तछंद में सफलता प्राप्त करेगा। उसकी कविताएँ गायी न जायँ,

यह दूसरी बात है ; उनके पढनेवालों की कमी न होगी। श्री केदार-नाथ अग्रवाल की कविताओ मे शब्दों की यह पहचान मिलती है। ध्वनि की गभीरता नही है परन्तु तरलता और प्रवाह अवश्य है। श्री गिरिजाकुमार माथुर ने मात्रिक मुक्तछद में उच्च कोटि का ध्वनि-सौन्दर्य उत्पन्न किया है। यह सब स्वीकार करते हुए कहना पड़ता है कि छदो मे लिखी हुई कविताओं को और गीतो को जनता जिस तरह अपनाती है, उस तरह मुक्तछन्द को नही अपनाती। यदि हम कविता को एक सामाजिक क्रिया समझे—कविता लिखने को, और उसे एक साथ मिलकर पढ़ने को भी, तो हमे मुक्तछन्द का मोह कम करना होगा। मुक्तछन्द को दस-पाँच आदमी एक साथ मिलकर नही पढ सकते। वह एक आदमी के पढने की चीज है, चाहे उसे सुननेवाले सैकड़ो हों। नाट्य होने पर मुक्तछन्द का यह अकेलापन दूर हो जाता है। अकेलेपन के इस अभियोग के अलावा उस पर और कोई अभियोग नहीं लगाया जा सकता। निरालाजी की सामाजिकता का यह पुष्ट प्रमाण है कि उन्होने मुक्तछन्द की सृष्टि रगमच के लिए की थी और वहाँ उसका उपयोग भी किया था।

(१६४४)

स्वर्गीय बलभद्र दीक्षित "पढ़ीस"

श्री बलभद्र दीक्षित अवधी मे 'पढीस' उपनाम से कविता करते थे और इसी नाम से वह अधिक प्रसिद्ध थे। उनकी कविताओ का एक ही सग्रह 'चकल्लस' नाम से निकल पाया था। अवधी मे कविता लिखना उन्होने बन्द नही किया और एक छोटे सग्रह भर को उनकी कविताएँ और है। इनके अतिरिक्त "माधुरी" मे उन्होने बचो के सम्बन्ध मे कुछ अत्यन्त रोचक निबन्ध लिखे थे। इनमे बच्चो की शिक्षा, उनके साथ बडे-बूढ़ो के व्यवहार आदि विषयो पर उन्होने प्रकाश डाला था। हिन्दी मे दीक्षितजी पहले लेखक थे, जिन्होंने इन समस्याओं की ओर ध्यान दिया था और उन पर क्रातिकारी ढग से लिखा था। इन लेखों का जितना सम्बन्ध बच्चो के माता-पिता तथा अभिभावको से है, उतना बच्चों से नही। आये दिन हमारे समाज मे—क्या घर मे और क्या स्कूल मे—बच्चो के साथ जो निर्दयता-पूर्ण असभ्य व्यवहार किया जाता है, उससे दीक्षितजी के हृदय को चोट लगी थी। इन लेखों मे उसी निर्दयता के विरुद्ध एक जोरदार आवाज उठाई गई है। लेखो से भी अधिक महत्त्वपूर्ण उनकी कहानियॉ हैं, जिनका एक सग्रह 'लामजहब' नाम से उनके जीवनकाल मे निकला था। शेष जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं मे—हस, सघर्ष, माधुरी, विप्लवी ट्रैक्ट, चकल्लस आदि मे—प्रकाशित हो चुकी है, उनकी सख्या कम नहीं है और आगे उनके दो सग्रह प्रकाशित हो सकेंगे। अपनी कहानियो में उन्होने समाज के निम्न-वर्ग के लोगो का चित्रण किया है और उन लोगों का भी, जिन्हे परिस्थितियों ने ठोंक-पीटकर आधा पागल बना दिया है। एक उनका अधूरा

उपन्यास है, जिसका कुछ अश "माधुरी" के इसी अक मे प्रकाशित होगा ।

दीक्षितजी का साहित्य बिखरा हुआ था, वह सजिल्द पुस्तको मे साहित्य-प्रेमियो के लिए सुलभ नहीं था। फिर भी उनके कविता सग्रह "चकल्लस" ने ही उन्हे काफी ख्याति प्रदान की थी। जो लोग उनके साहित्य के अन्य अगो को भी जानते थे, वे उनकी बहुमुखी प्रतिभा के कायल थे। जो उनके साहित्य से कम परिचित थे, वे उनके व्यक्तित्व से अत्यधिक प्रभावित थे। दीक्षितजी का व्यक्तित्व उनके साहित्य से भी महान् था और इसका कारण यह था कि वह एक अनत निर्झर-सा था, जो महान् साहित्य की सृष्टि करने मे समर्थ था। उनमे देवता-जैसी सरलता थी, यदि देवता भी वैसे सरल होते हों। उनकी सादगी से बहुधा लोगों को भ्रम हो जाता था और अपने असभ्य नागरिक सस्कारों के कारण वे दीक्षितजी को एक अशिक्षित गॅवार समझ बैठते थे। परन्तु ऐसे लोग कम थे। सौभाग्य से अधिक लोग वे थे, जो उनकी सादगी से धोखा न खाते थे और उनकी महत्ता को न्यूनाधिक पहचान ही जाते थे।

दीक्षितजी पहले कसमडा राज्य मे नौकर थे। एक विशेष घटना के कारण उन्हे राज्य से सम्बन्ध-बिच्छेद करना पड़ा था। कुछ दिन बाद उन्होने वहाँ पुनः नौकरी की, लेकिन फिर छोड दी। सुना है कि कसमडा के युवराज साहब का व्यवहार सहृदयता-पूर्ण रहा है। वह दीक्षितजी के साहित्यिक जीवन मे दिलचस्पी लेते थे और 'पढीस' की 'चकल्लस' भी उन्हीं को समर्पित की गई है। उनके बच्चो से भी युवराज का व्यवहार सहृदयतापूर्ण था।

दीक्षितजी एक कर्मठ व्यक्ति थे, खेत मे हल चलाना अपनी पैतृक सस्कृति के विपरीत होते हुए भी बुरा न समझते थे। उनकी मृत्यु अचानक हो गई। हल का फाल उनके पैर मे लग गया था

और उसी से विष पैदा होकर सारे शरीर मे फैल गया। पैर मे चोट लगने पर उन्होंने अपने बडे लड़के को जो पत्र लिखा था, उससे मालूम होता है कि वह स्वय उसे घातक न समझते थे। परन्तु भावी कुछ और ही थी।

यहाँ पर मैं दीक्षितजी तथा उनकी रचनाओं का सक्षिप्त परिचय देना चाहता हूँ। वह मेरे लिए, अपने मित्रों और परिवार के लिए तथा हिन्दी-भाषा और साहित्य के लिए जो कुछ थे, उसे शब्दों मे प्रकट करना कठिन है। सहृदय पाठक उसका अनुमानमात्र कर सकेगे।

दीक्षितजी ने कुछ पीले कागज की स्लिपों पर अपने जीवन की घटनाओं का जिक्र किया है। एक पारिवारिक समस्या को सुलझाने के लिए उन्होंने अपने जीवन के कुछ पहलुओ पर उसमें प्रकाश डाला था। उस लेख को प्रकाशित करने का अभी समय नहीं आया। परन्तु उससे उनके जीवन के एक ऐसे पहलू पर तीव्र प्रकाश पड़ता है, जिसे उन्होंने अपने मित्रों से गुप्त रक्खा था। जो हँसी उनके ओठों पर खेला करती थी, उसके नीचे वह जीवन के बहुत-से तिक्त अनुभवों को छिपाये हुए थे। अब समझ मे आता है, उनकी वह हँसी एक ऐसे सिपाही की थी, जो क्षत-विक्षत होकर भी केवल युद्ध की चिन्ता करता है और अपनी पीडा से दूसरों को पीडित करना अपराध समझता है।

इस लेख मे उन्होंने अपने जन्म के विषय मे लिखा है—"भादो, स० १६५५ विक्रम मे यह श्रीदीनबन्धु का भइया यहीं इसी घर मे पैदा हुआ था।" श्रीदीनबन्धु उनके सबसे बडे भाई का नाम था और उनके लिए दीक्षितजी के हृदय मे अगाध स्नेह था। उनके नि स्वार्थ जीवन की वह सदा प्रशंसा किया करते थे। उनके अन्य दो छोटे भाई उनसे बडे थे, परन्तु उनका चरित्र-विकास दूसरी दिशा मे

हुआ था। अपने कहानी-संग्रह "लामजहब" को उन्होंने अपने सबसे बड़े भाई श्रीदीनबन्धु को ही समर्पित किया है। "दद्दू" को संबोधित करते हुए उन्होंने स्नेह में डूबे हुए ये शब्द लिखे थे—"जीवन के प्रभात में ही तुमने मुझे यह सुझा दिया था कि गरीबी-अमीरी, श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता मूर्खों के दिमाग की चीज है। उधर तुम्हारी पेंशन के गठरी भर रुपये आते थे, इधर तुम गोमती-किनारे अपने चमार और धोबी मित्रों के साथ नित्यप्रति एक बड़ा गट्ठर घास छीलते थे। तुम आठ बरस के थे, तब दो पैसे दिन-भर की निरवाही के लाकर बड़े गर्व से मा को देते थे। अम्बरपुर के कुली और किसान तुम्हें अपना सलाहकार मानते थे। 'लामजहब' मैं तुम्हारी स्मृति को देता हूँ।

"तुम्हारा भद्दर"

भद्र से 'भद्दर' नाम उन्हे अधिक प्यारा था, क्योंकि इससे उन्हे अपने भाई के स्नेह की सुध हो आती थी। 'लामजहब' की जो प्रति उन्होंने मुझे दी थी, उसमे उन्होंने अपना नाम "बलभद्दर" ही लिखा था। बड़े भाई से उन्होंने जो कुछ सीखा था, मानो उसी को वह अपने जीवन में चरितार्थ करने की कोशिश करते थे। दीनबन्धुजी भी कसमंडा राज्य में नौकर थे। जब राजकुमारी का विवाह विजयानगरम् में हुआ, तब वह भी राजकुमारी के साथ वहाँ गये। बाद में वहीं रहने लगे और राजकुमारी के अभिभावक का कार्य करने लगे। सन् '३५ की गर्मियों में दीनबन्धुजी का स्वर्गवास हुआ।

दीक्षितजी की शिक्षा राजकुमार के साथ ही कसमंडा में हुई। पढ़ने का खर्च और कुछ वजीफा वहाँ से मिलता था। सन् '१८ में उनका विवाह हुआ। सन् '२० में उन्होंने हाई स्कूल पास किया और कालेज में भर्ती हुए परन्तु छः महीने बाद कालेज छोड़ देना पड़ा।

दीक्षितजी साधारण लोगो की अपेक्षा विशुद्ध उच्चारण से अँगरेजी बोलते थे। इसका कारण उनकी शिक्षा से अधिक उनका उच्च वर्गो से ससर्ग था। कालेज छोडकर वह कसमडा राज्य मे नौकर हो गये। सन '२७ मे उन्होंने नौकरी छोड दी और दो साल तक वहाँ से अलग रहे। परन्तु इसके बाद फिर नौकर हो गये और सन् '३५ तक वहाँ रहे। इस वर्ष उनका बडा लडका श्रीबुद्धिभद्र बॉबे टाकीज मे नौकर हो गया था और उसी के साथ वह भी बम्बई चले गये। अगस्त से नवम्बर तक वह बम्बई रहे, फिर गॉव चले आये। सन् '३८ तक वह गॉव मे ही रहे। रीवान के राजकुमारो को भी इसी समय पढाते रहे। सन् '३८ मे कुछ विशेष कारणों से वह गॉव छोड़कर लखनऊ चले आये। अगस्त सन् '३८ मे शायद वह पहली बार रेडियो मे—सलोनों पर—बोले। नवम्बर मे वह लखनऊ रेडियो स्टेशन मे नौकर हो गये। रेडियो स्टेशन मे वह जिस तरह काम करते थे, उसकी एक तेज झलक प्रसिद्ध कहानी-लेखक "पहाडी" के रेखाचित्र में मिलेगी। कुछ समय तक वह और दीक्षितजी रेडियो मे साथ-साथ काम करते रहे थे।

रेडियो स्टेशन मे काम करते समय उनका स्वास्थ्य बहुत गिर गया था। उनके मित्रो को इससे विशेष चिन्ता रहती थी। उधर जिन परिस्थितियो के कारण उन्हे गॉव छोड़ना पडा, उनमे भी अब कुछ परिवर्तन हो चुका था। जब उन्होने गॉव जाकर रहने को कहा, तब मित्रों ने उनकी बात का समर्थन किया। लखनऊ मे रहते हुए उन्होने मई सन् '४० मे अपनी एकमात्र लडकी का विवाह भी कर दिया था। सन् '४० का अन्त होते-होते उन्होंने रेडियो की नौकरी छोड दी। दूसरे वर्ष उन्होने अपने सबसे बडे लडके श्रीबुद्धिभद्र का विवाह किया। सन् '४१ भर वह गॉव मे रहे और वहाँ किसानो—विशेषकर अछूतो के लड़कों की शिक्षा के लिए एक पाठशाला

खोली। २७ जून, सन् '४२ को उनके पैर में घातक चोट लगी। इसके एक महीना पहले ही वह लखनऊ आये थे और मुझसे गले मिलकर विदा हुए थे। उसके बाद बलरामपुर अस्पताल मे मैंने उन्हे फिर देखा, लेकिन तब से अब मे बहुत अन्तर था। प्रेमचन्द के उस चित्र का स्मरण कीजिए, जो उनकी रोगशय्या पर लिया गया था। मुझे एक भयानक आघात के साथ इस बात का अनुभव हुआ कि अब वह अपनी जीवन-लीला समाप्त कर रहे है। १४ जुलाई, सन् १९४२ को उन्होने इस ससार से महायात्रा की। उनकी मृत्यु पर श्रीअमृतलाल नागर ने लिखा था, "मुझे उनकी मौत का दुःख नहीं। जिदगी भर पलँग पर पड़े-पड़े हाय-हाय करते हुए उनकी साँसे नही निकली। एक सच्चे भारतीय और खरे साहित्यिक की तरह जीवन मे लडकर उन्होने वीरगति प्राप्त की है।"

जिस लेख का ऊपर जिक्र हो चुका है, उसमे दीक्षितजी ने अपनी युवावस्था के बारे मे लिखा है—"मुझे दिखावट बहुत पसन्द थी। इसलिए सबके काम का बहुत-सा सामान मैं खरीद कर घर ले जाता था। रोजमर्रा खर्च के कपडे मैंने १००) तक के एक बार मे खरीद कर दिये है।" गाय भैंसे खरीदने का भी उन्हे शौक था। राजपरिवार मे लालन-पालन होने से उनकी आदते भी वैसी ही पड गई थी। उनका एक चित्र साफा बाँधे रियासती वेश मे—उस समय की याद दिलाता है। मेरा उनसे परिचय पहली बार सन् '३४ मे निरालाजी के यहाँ हुआ। वह कसमडा मे तब भी नौकर थे, परन्तु वेश दूसरा था, वही जिससे उनके बाद के मित्र भली भाँति परिचित हैं। निराला-जी ने उनका लम्बा-चौडा परिचय दिया जिसका मुझ पर उल्टा प्रभाव पडा। कुछ दिन बाद मैंने उनका कविता सग्रह देखा और उसने मुझे उनका भक्त बना दिया। दूसरी बार भेंट होने पर हम मित्र हो गये और दिन पर दिन वह मित्रता गाढी होकर बन्धुत्व मे

परिणत होती गई। दीक्षित जी का हृदय विशाल था, उनकी सहृदयता अपार थी। उनके अनेक मित्र भी थे जिन पर उनका समान ह स्नेह था।

परिचय होने के चार वर्ष बाद मैंने उन पर एक लेख लिखा था उसका कुछ भाग यहाँ उद्धृत करने के लिए क्षमा चाहता हूँ। वह मेरे लिए अब भी वैसे ही जीवित है, जैसे तब थे। लेकिन श्रीनरोत्तम नागर के शब्द बार-बार याद आते हैं—"पढ़ीसजी पर लिखने बैठता हूँ तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह मरकर भी जीवित हैं और मैं जीवित भी मृत हूँ।"

"दीक्षितजी ठमके से साधारण कद के आदमी हैं। खद्दर का कुर्त्ता, धोती, कभी कभी उस पर सदरी, सिर पर गान्धीटोपी, निराले फैशन मे रक्खी हुई, देह मासलता से हीन, गालो की हड्डियाँ चेहरे मे अपना अलग महत्त्व रखती हुई, मोटी भौहे, आँखो के नीचे भी हल्के रोये और बडी नुकीली झब्बरझैया मूछे—बडे आदमी के बड़प्पन की पास मे कोई बात न होने से लोगो का आत्मविश्वास उन्हे देखकर सहज जाग्रत् हो जाता है। इसीलिए मैंने देखा है, जो लोग औरो के सामने कोई बात कहते झेपते है, वे दीक्षितजी के आगे व्याख्यान देने मे नहीं हिचकते। लोगो के साथ व्यवहार करने मे दीक्षितजी की वही नीति है, जिसे वह बच्चो के साथ काम मे लाते हैं। बच्चे की आत्म गौरव की भावना जगाये बिना वह अपने से बडे पर विश्वास नहीं करता और इसलिए खुलकर वह हृदय की बात भी नहीं कर पाता। दीक्षितजी को देखकर बच्चो और बूढो का आत्मगौरव समान रूप से जाग्रत् हो जाता है।

"बहुत कम लोग उनकी आखो की तरफ ध्यान देते हैं। घनी भौहों के नीचे छोटी-छोटी आँखे एक अजीब धुँधलेपन मे खोई-सी रहती हैं। किसी अनोखी-सी बात को सुनकर वे चमक उठती है...

विस्मय से खुली रह जाती हैं, लेकिन वह धुँधलापन भेदकर नीचे के भाव को जानना फिर भी सम्भव नहीं होता। दीक्षितजी मित्रों-परिचितों मे गऊ की तरह सीधे प्रसिद्ध है। उनकी धुँधली आँखों मे बिरले ही देखने की चेष्टा करते हैं, क्योंकि अपने भावों को छिपाने की उनमे अदभुत क्षमता है। वह लोगों को जान या अनजान मे बच्चा ही समझते हैं और लोगो का व्यवहार भी ऐसा होता है कि दीक्षित जी को दोषी नही ठहराया जा सकता। धुधलेपन के पर्दे के नीचे जीवन का एक तुमुल सघर्ष, सघर्ष के ऊपर एक भावुक कवि की कल्पना की चादर और अलग, कोने मे एक मनोवैज्ञानिक की झलकती हुई चतुरता और चुहल, इनका पता लगाना उनकी कृतियों को पढकर कुछ सभव होता है।"

एक बार लखनऊ-प्रदर्शिनी मे वह अपना एक गीत गा रहे थे। प्रदर्शिनी अमीनाबाद मे और मेरा मकान सुन्दरबाग के इस छोर पर। मैं कमरे मे बैठा कुछ काम कर रहा था। रात के साढे दस बजे होंगे। अचानक हवा मे मुझे कुछ परिचित से स्वर मँडराते जान पडे। मै सबसे ऊपर की छत पर चला गया और वहाँ से अत्यन्त स्पष्ट स्वर सुनाई पड़ रहा था—"पपीहा बोलि जा रे, हाली डोलि जा रे!" जब तक वह गीत समाप्त न हो गया, मैं तन्मय उसे सुनता रहा। वैसी मिठास मानों उनके स्वर मे पहले मिली ही न थी। आकाश मे तैरती हुई स्वरलहरी जैसे और परिष्कृत हो गई थी। वैसे ही मीठे और दूर जीवन के वे अनेक स्वप्न है, जिनमे उनका चित्र दिखाई देता है। परन्तु उन सब पर विषाद की एक गहरी छाया पड गई है। उन्हे जगाने का साहस नहीं होता।

कविता के लिए उन्होंने अपना नाम 'पढीस' रक्खा था और उसे किसान का पर्यायवाची मानते थे। किसानों को लक्ष्य करके उन्होंने लिखा था—

"च्यातउ-च्यातउ स्वाचउ-स्वाचउ
ओ ! बडे पढ़ीसउ दुनिया के।"

उन्होंने अपनी कविताएँ किसान बनकर ही लिखी हैं। किसान तो वह थे ही, कविताओ मे अपने किसान के स्वर को उन्होंने स्पष्ट रक्खा है। किसानो के प्रति शिक्षितजनो की अवज्ञा को जैसे उन्होंने अपने किसानपन से ललकारा था। 'चकल्लस' कविता सग्रह सवत् १९९० वि० मे छपा था। कविताएँ उसके पहले लिखी गई थी। तब यह अवज्ञा और भी बढी-चढी थी। इसी को लक्ष्य करके उन्होंने भूमिका मे लिखा था—"शहरो मे रहनेवाला शिक्षित समाज अपने को दिहाती और उनकी भाषा से अपने को उतना ही अलग समझता है, जितना कि किसी और देश का रहनेवाला हिन्दुस्तानियों और हिन्दुस्तानी को।" जैसे इस उपेक्षा की प्रतिक्रिया अवधी भाषा मे कविता करने मे प्रकट हुई। उन्होंने मुझे बताया था कि जब उन्होंने किसानो की ही भाषा मे कविता लिखना शुरू किया था, तब उनके अनेक मित्रो ने उन्हे उपेक्षित अवधी मे अपनी प्रतिभा नष्ट न करने की सलाह दी थी। यदि दीक्षितजी को मानप्रतिष्ठा की वैसी चाह होती तो वह खड़ीबोली मे एक महाकवि बनने का विचार अवश्य करते। परन्तु किसानो के लिए उनके हृदय मे जो सहानुभूति उमड रही थी, वह उन्ही की भाषा मे काव्यगत रूढियो के बन्धन तोडकर प्रवाहित हो चली। उनकी कविताओ को पढकर बरबस बर्न्स की याद हो आती है। ठीक उसी तरह इनकी कविताएँ भी जैसे खेतो मे फली-फूली हों।

ग्राम-भाषाओ मे साहित्य लिखना जितना मौलिक आजकल मालूम होता है, उतना १९वी शताब्दी मे न था। भारतेन्दु ने "कवि-वचन-सुधा" मे इस आशय की विशेष विज्ञप्ति छपाई थी कि हिन्दी कवि ग्रामीण भाषाओं मे स्वदेशी, स्वदेश-प्रेम, सामाजिक कुरीतियो

आदि पर गीत और कविताएँ लिखे। उनके युग मे इस प्रकार का बहुत-सा लोकसाहित्य रचा भी गया था। द्विवेदी-युग मे ये बाते पीछे पड गई, जो स्वाभाविक था। उस समय प्रमुख कवियो को आधुनिक हिन्दी मे नवीन कविता की सृष्टि करने की चिन्ता थी। अब खड़ी बोली मे बहुत-सी और उच्च कोटि की कविता रची जा चुकी है। हम लोग उस ओर से निश्चित हो रहे हैं। श्रीराहुल साकृत्यायन तथा अन्य विद्वान् भारतेन्दु की तरह ग्राम भाषाओ मे भी जन-साहित्य रचने के लिए जोर दे रहे हैं। दीक्षितजी इस नई विचारधारा के अग्रदूत थे, उन्होने वर्तमान युग मे सबसे पहले इस बात के महत्त्व को समझा था और जैसा कि उनका स्वभाव था, एक बात को तय करके वह उसे कार्यरूप मे परिणत भी करने लगे थे। उनके चरणचिह्नो पर अवधी से अन्य कवि भी अब लोकोपकारी साहित्य रच रहे हैं।

पढीसजी की अवधी सीतापुर की अवधी है, जो उस अवधी (बैसवाडी) से कुछ भिन्न है, जिसमे प्रतापनारायण मिश्र तथा आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने कविता की थी। परन्तु भारतवर्ष की सभी प्रातीय बोलियो मे एक मधुर देसीपन है, जो हिन्दुस्तान की अपनी चीज है, जिस पर बाहर का प्रभाव प्रायः नहीं पडा है, और जहाँ पडा है, वहाँ उस देसीपन मे घुल-मिलकर एक हो गया है। गाँव मे जाकर न तो कोट-पैंट की शान रह सकती है, न शेरवानी और चूडीदार पायजामे की। यही हाल विदेशी शब्दो का ग्रामीण बोलियो मे होता है।

दीक्षितजी को अवधी के शब्दमाधुर्य की वैसी ही परख थी, जैसी किसी महान् कवि को हो सकती है। उनकी रचना "तुलसीदास" का एक-एक शब्द मधुर है, सम्पूर्ण कविता मानो रामचरितमानस मे डूबकर निखर उठी है। प्रकृति-वर्णन मे वह ताजगी है, जो अवध की

घनी अमराइयों मे पपीहा और कोयल की बोली मे होती है और जो पिंजडे मे बन्द मैना की बोली मे नहीं होती है। उनकी कविताओं मे वही आनन्द है, जो खेत-खलिहानों मे घूमनेवाले को खुली हवा से प्राप्त होता है। बर्न्स की तरह 'पढ़ीस' जी ने भी आये दिन की घटनाओं पर कविताएँ लिखी है। गाँव मे एक बार बढ़िया आई थी, उसी का आँखो देखा वर्णन उन्होने "हमार राम" नाम की कविता मे किया है। केवल किसान-कवि ही लिख सकता है—

"तीखि धार ते कटयि कगारा
धरती धँसयि पनालु।
लखि-लखि बिधना की लीला हम
रोयी हाल ब्यहाल।
मडैया के रखवार हमार राम।"

ऐसी तन्मयता बहुत कम कवियो मे देखी जाती है। वह किसान ही क्षुब्ध होकर गा रहा है, जिसकी मडैया पर राम ने कोप किया है।

दीक्षितजी की बहुत-सी रचनाएँ हास्यरस की है। व्यग्य और हास्य के वह सिद्ध कवि थे। एक तो अवधी भाषा ही इस प्रकार की रचनाओं के लिए सर्वथा उपयुक्त है, तिस पर उसका उपयोग किया था दीक्षितजी ने, जिनकी तीक्ष्ण दृष्टि से कोई भी व्यग्यपूर्ण परिस्थिति अपने को कभी छिपा न पाती थी। वह किसानो के जीवन मे ही हास्य ढूँढ निकालते थे, नई सस्कृति से प्रभावित अन्य वर्गो पर भी वह व्यग्यबाण बरसाने से न चूकते थे। 'किहानी' कविता उनकी व्यग्यपूर्ण रचनाओं का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। इस 'किहानी के 'काका' वह स्वय हैं। उन्हीं से एक किसान-युवक प्रार्थना करता है कि जब वह राम के घर जायँ, तब उनसे यह 'फिरयाद' जरूर करे कि हमे अँगरेज का ही बच्चा बनावे। अगर अँगरेज के बच्चे

न हो सके तो जमीदार के घर मे ही पैदा करे। इसमे भी कुछ मीन-मेख हो तो पटवारगीरी तो कही गई नही है। पटवारगीरी न मिले तो चौकीदार तो बना ही देगे। किसान से वह फिर भी अच्छे ही रहेगे। शोषण-यन्त्र मे कितने कलपुर्जे हैं। इन सबके बीच मे है किसान, जो चौकीदारी के आशा-स्वप्न को छोडकर अपने खेत की ओर यह कहकर चलता है—

"दुइ पहर दिनउना चढि आवा
जायित हयि रामु क कामु करयि।
बडकये ख्यात ते का जानी
क्यतने कँगलन का पेटु भरयि।"

'पढीस' जी की कुछ अन्य अप्रकाशित रचनाएँ माधुरी के पढीस अक मे मिलेगी। वह अनेक छन्दों का प्रयोग करते थे और उन्हे सबमे समान सफलता मिली है। उनकी व्यग्यपूर्ण कविता मे बोल-चाल की चपलता है। शान्त और गम्भीर कविताओं मे सगीतमय धीमा प्रवाह है।

उनकी ग्राम जीवन-सम्बन्धी कहानियों मे वैसा ही सजीव वर्णन है, जैसा उनकी कविताओं मे। उनकी सबसे पहली कहानी शायद "क्या से क्या" है, जिसका कथासूत्र कुछ उलझा हुआ है। वह वास्तव मे कई कहानियो से मिलकर बनी है और उसके ये विभिन्न कथाश अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। प्रकाशित कहानियो मे सबसे पहली "पाँखी" है, जो "माधुरी" मे छपी थी। उसके पहले पैराग्राफ मे ही ढाक के जगल का वर्णन अद्भुत है। "क ख ग घ" मे उन्होने गाँवों मे अनिवार्य शिक्षा के दुष्परिणामो का चित्र खीचा है। इसके "मुशीजी" का जिक्र उन्होने अपने एक लेख मे भी किया है। "ढाई अच्छर" उन कहानियो मे है, जिनमे उन्होने विकृत मस्तिष्क के लोगो का चित्रण किया है।

"फक्कड" "कँगले" आदि कहानियाँ उस कोटि की हैं, जिनमें उन्होंने समाज के निम्नतम वर्ग के लोगों का चित्रण किया है। इन लोगो पर इतने निकट से उन्हे देख-सुनकर किसी ने नहीं लिखा। इधर उन्होंने कुछ छोटे-छोटे अत्यन्त सुन्दर स्केच लिखे थे—"चमार भाई" "काजी भाई" "पाठक भाई" इत्यादि। इनमे "पडितजी" वह स्वय है। "काजी भाई" स्केच "हस" मे छपा था। श्रीशिवदान-सिह चौहान ने लिखा था—पडितजी बहुत उदार है। काजी भाई की तरह उन्हे भी अनुदार होना चाहिए था!

इन कहानियो को पढनेवाले समझ सकेंगे कि दीक्षितजी मानव-मनोविज्ञान मे कितनी गहराई तक पैठे थे। उनमे ऐसी ही सहृदयता थी। जिसे लोग देखकर घृणा से अपनी आँख फेर लेते थे, उसी के वह और निकट खिचते थे। वह हिन्दू, मुसलमान और ब्राह्मण, शूद्र का भेदभाव न मानते थे। केवल विचार-भूमि पर नहीं, व्यवहार-जगत् मे उन्हे अपने आदर्शवाद के कारण कट्टरपथियों से अपमानित होना पडता था। वह गॉव मे पासी-चमारो से मिलने और गॉव के बडे-बूढो के चिढने की बहुत-सी बाते बताया करते थे।

बच्चों से उन्हे बडा प्रेम था। जिस घर मे भी जाते, बडो से ज्यादा उनकी दोस्ती छोटो से हो जाती। उनके कुछ दिन तक न आने पर अचानक बच्चे पूछने लगते—कब आयेगे कक्कू ?

बच्चो की शिक्षा मे उन्हे बड़ी दिलचस्पी थी। वह बच्चों को भी स्वय पढाते थे। अन्यत्र प्रकाशित उनकी "आत्मकथा" पढने से उनके इस शिक्षक-जीवन का परिचय मिलेगा। उन्होंने हिन्दी मे पहले-पहल बच्चों को सजा देने का तीव्र विरोध किया था। बचपन मे जो दोष बच्चों मे आ जाते हैं, उनके लिए वे माता-पिता को ही दोषी ठहराते थे। बच्चो और सेक्स के बारे मे उनके विचार अवश्य ही स्वतन्त्र

और क्रातिकारी थे। अब हिन्दी मे और भी इस प्रकार के विचारों का पोषक साहित्य रचा जाने लगा है। दीक्षितजी ने अँगरेजी मे इस सम्बन्ध का कुछ साहित्य पढा था, परन्तु उनके अधिकाश विचार मौलिक थे और उनके निजी प्रयोगों के परिणाम थे। बच्चो मे चचलपन उन्हे पसन्द था। हाथ जोडकर नमस्ते की कवायद करने वाले बच्चों के माता-पिता को वह खरी-खोटी सुनाये बिना न रहते थे। बचपन मे धर्म और पुण्य-पाप की कहानियाँ सुनाकर बच्चों मे जो भीरुता भर दी जाती है, उसकी उन्होंने कटु शब्दों मे निन्दा की है। छोटे-से परिवार मे माता-पिता और पुत्र के बीच प्रेम और घृणा का जो द्वद चला करता है, वह उनकी दृष्टि से छिपा न था। बच्चे मे जिस बात की ओर सहज रुझान हो, उसी की ओर उसे प्रोत्साहित करना वह अपना कर्तव्य समझते थे। इनाम और बखशीश देकर बच्चों मे स्पर्द्धा भाव जगाना भी वह अनुचित समझते थे। मतमतातरों के प्रचार से बच्चो मे कुसस्कार उत्पन्न करना वह पाप समझते थे। सन् '३६, '३७ और '३८ की "माधुरी" मे उनके इस विषय के अनेक लेख प्रकाशित हुए थे। उनमे सबसे रोचक उनके निजी प्रयोगों और बच्चो के शिक्षा-सम्बन्धी अनुभवो का वर्णन है। वह अपने आदर्शों के अनुसार ही अपने बच्चा को शिक्षा देते थे और उनसे भाईचारे का व्यवहार रखते थे। इसीलिए उनके बच्चे साधारण परिवारों के बच्चों से भिन्न कोटि के और तीक्ष्णबुद्धि है।

आधुनिक शिक्षा-प्रणाली की निन्दा करते हुए उन्होने लिखा था कि अकाल ही माता-पिता अपने पुत्रो को धार्मिक और सत्यवादी बनाना चाहते है। "नही तो चार-चार बालिश्त के पीले मुँह, पिचके गाल, आँखे धँसी, नसे निकली, किताबो के गट्ठर से झुकते हुए हीरालाल, जो अस्वस्थ हो अकाल ही कालकवलित हो जाते है, स्कूल की सड़कों और गलियो मे अहित रेगते न दिखाई पडते।" उनके

शिक्षण-प्रयोगों के मूल में यही वेदना थी, मानों उसी की पूर्ति वह अपनी सहृदयता से करना चाहते थे।

जीवन के अंतिम दिनों में भी वह अपने यहाँ एक पाठशाला चला रहे थे। ३० जून, सन् '४२ को उन्होंने श्रीबुद्धिभद्र के नाम अपना अंतिम पत्र लिखा—

"प्रिय वत्स,

मेरे पैर में चोट आ गई है। चुन्नी से सब हाल जानोगे। चोट घातक नहीं है, परन्तु कष्टदायक अवश्य है। तुम सौभाग्यवती बहू को लेकर, सुविधानुसार चले आओ। चि० परशुराम अभी आये ही थे, न आये तो अच्छा है।

अधिक प्यार

कक्कू

मैं चिब साहब को लिखे भी दे रहा हूँ"

× × ×

वही सुडौल सुन्दर अक्षर हैं; आसन्न मृत्यु की छाया कहीं भी दिखाई नहीं देती। इसके ठीक दो सप्ताह बाद ही उनका देहान्त हुआ। चोट कितनी घातक थी, साबित हो गया।

उन्होंने अपने एक अधूरे लेख में लिखा था—"हमें जो कुछ करना है वह उनसे, जो नित्यप्रति के जीवन में आँख खोलकर चलने वाले आज के हिन्दुस्तानी हैं, जिन्हें केवल सच्ची-सीधी बात सोचने और कहने के कारण अपनों से ठोकर लेनी पड़ती है, फिर भी वे आँख मूँद या स्वप्नलोक में विचरकर कोई काम नहीं करना चाहते, जिनका यह मत है कि धर्म और समाज की अच्छाइयों का प्रयोग अधिक-से-अधिक ऐहिक जीवन में हो जाना चाहिए।" ऐसे लोगों के लिए, मुझे विश्वास है, स्वर्गीय दीक्षितजी का साहित्य उनका एक दृढ़ और जीवित स्मारक रहेगा।

जनवरी '४३

शेली और रवीन्द्रनाथ

उन्नीसवी शताब्दी के आरम्भ मे शेली ने जिस नवीन सौन्दर्य को जिस नये सङ्गीत का स्वर-परिधान पहनाकर अपनी कविता मे जन्म दिया था, उसी का आभास रवीन्द्रनाथ की युवाकाल की कविताओ मे बङ्ग-भाषा-भाषियों को मिला। इसीलिए वह बङ्गाल के शेली कहलाये। उनकी कविता का मूल स्रोत रोमाण्टिसिज्म (Romanticism) है। ससार से उचाट, अतीत मे सहानुभूति एव सच्चे सौन्दर्य की खोज, प्रकृति मे किसी रहस्यमयी महाशक्ति के दर्शन, किसी दूर अज्ञात कल्पना-लोक की अपने ही भीतर सृष्टि आदि बातें दोनों कवियो मे समान रूप से पायी जाती है। दोनो ने भाषा को बहुत-कुछ नवीन रूप दिया, नये-नये छन्दों की सृष्टि की। शेली की कविता और साधारणतः तत्कालीन रोमाण्टिक कविता अपने वाह्य आकार-प्रकार से सुगठित न होने के लिए बदनाम है। कवि के भाव-प्रवाह ने अधिकाशतः एक ऐसी उच्छृङ्खल गति धारण की कि कलाकारो को उसमे बहुत-कुछ असस्कृत, दुरूह तथा कला-हीन मिला। कविता का बाध तोडते समय कवि स्वय उस निर्बाध धारा मे बहुत दूर तक दिशा-ज्ञान हीन हो बहता चला गया। रवीन्द्रनाथ मे आकार-प्रकार-सम्बन्धी कलात्मक भ्रान्तिया शेली से बहुत कम है। कविता की वाह्य निर्माण-कला को ध्यान मे रखते हुए वह एक क्लासिकल कवि कहे जा सकते हैं।

(१) प्रकृतिः—रोमाण्टिक कविता का एक विशेष भाग प्रकृति से सम्बन्धित है। दोनों कवियो ने क्रमशः बङ्गाल तथा इटली के नदी, तालाब, बन, पर्वत, समुद्र, आकाश, सन्ध्या, प्रभात, ऋतु आदि का

वर्णन किया है। कभी वे प्रकृति से तटस्थ रहकर उसे एक भिन्न दर्शक-मात्र बनकर देखते है, एक वैज्ञानिक की भाँति उसके रूप का चित्रण करते हैं। कभी उसको चेतन मानकर उसे अपनी सुख-दु:ख की बाते सुनाते है किंवा वही अपने परिवर्तित दृश्यो द्वारा उन पर नाना भाव प्रकट करती है। किन्तु उनकी प्रकृति इस लोक की क्षुद्र सीमाओ से बँधी नहीं है। उनकी कल्पना समस्त सृष्टि मे विचरण करने के लिए स्वतन्त्र है। रवीन्द्रनाथ देखते है—

"महाकाश-भरा
ए असीम जगत् जनता,
ए निबिड़ आलो अन्धकार,
कोटि छायापथ, मायापथ,
दुर्गम उदय-अस्ताचल।"

इसी भाति शेली पृथ्वी, आकाश, नक्षत्र, जन्म और मरण के गीत गाता है—

I sang of the dancing stars,
I sang of the daedal Earth,
And of Heaven—and the giant wars,
And Love, and Death, and Birth,—"

प्रकृति से उनके घनिष्ट सम्बन्ध का एक मुख्य कारण यह है कि उसके द्वारा ही पहले वे ससार के रहस्य को भेद सके। यद्यपि वर्ड्स्वर्थ की भाँति उनका कहना यह नहीं है कि प्रकृति को छोड अन्यत्र ज्ञान प्राप्ति दुर्लभ है, प्रत्युत् रवीन्द्रनाथ अपने ही भीतर आत्म-दर्शन पर बार-बार जोर देते है, तो भी पहले-पहल ज्ञानालोक मनुष्य से दूर उन्हे प्रकृति के सम्मुख मिला।

शेलो को प्रकृति मे इस अमर सौन्दर्य के अनेक बार दर्शन होते है। रवीन्द्रनाथ की उपास्य देवी नाना वेश धारण करके उन्हे प्रकृति

Of thine own joy, and
heaven's smile divine!"

नारी के सौन्दर्य का रहस्य उसे और भी सुन्दर बना देता है। वृन्तहीन पुष्प के समान अपने रूप मे जैसे वह आप विकसित हो उठी हो। आकाश और पवन तक इस रहस्यमयी की पूजा करते हैं, उसे प्यार करते है। "एशिया" से उसकी सखी पूछती है—

"Feelest thou not
The inanimate winds enamoured of thee?'

"उर्वशी" की तन-गन्ध-वहन करनेवाली अन्ध वायु चारों ओर घूमती है। अन्यत्र जब "विजयिनी" सरोवर से नहाकर निकलती है तो आकाश और पवन सेवक की भाँति उसकी परिचर्या करते हैं—

"घिरि तार चारिपाश
निखिल बातास आर अनन्त आकाश
जेनो एक ठाँइ एसे आग्रहे सन्नत
सर्वाङ्ग चुम्बिल तार,—"

यह नारी स्वय भी प्रकृति के नाना वेशो में दर्शन देती है।

(३) प्रेमः—जिस तरह ये कवि पार्थिव से अपार्थिव सौन्दर्य पाना चाहते हैं, वैसे ही मानो वासना से प्रेम। रवीन्द्रनाथ की प्राथमिक कविताओं मे प्रेम से अधिक वासना ही मिलती है। "निर्झरेर स्वप्न-भङ्ग" मे जब रहस्य-अवगुण्ठन छिन्न होता है, उस काल—

"प्राणेर बासना प्राणेर आवेग
रुधिया राखिते नारि।"

प्राणों की वासना, प्राणो के आवेग को वह रोक नही सकते। इसी वासना के आकर्षण से प्राण-पक्षी रोने लगता है।

"प्राण पाखी काँदे एइ
बासनार टाने।"

शेली अपने आवेग को सभाल नहीं पाता; वह उसे मृत-तुल्य बना देता है—

"My heart in its thirst is a dying flower,"
तथा "I faint, I perish with my love !"

क्या पुरुष, क्या स्त्री, क्या प्रकृति, सभी अपना आवेग संभाल नही पाते। बकुल फूल "विवश" होकर जल में गिरते हैं—

"बिबश होये बकुल फूल
खसिया पडे नीरे।"

मध्याह्न की ज्योति वन की गोद मे मूर्छित पडी है—

"मध्यान्हेर ज्योति
मूर्च्छित बनेर कोले,"

पुष्प-गन्ध से विह्वल वायु सारसी के वक्ष पर सुदीर्घ निःश्वास छोड़ती गिर पड़तो है—

"बहु बन गन्ध बहे
अकस्मात् श्रान्त वायु उत्तप्त आग्रहे
लुटाये पड़ितेछिल सुदीर्घ निश्वासे
मुग्ध सरसीर बक्षे स्निग्ध बाहुपाशे।"

इसी भाँति पुरुष का अङ्ग-प्रत्यङ्ग प्रिया के अङ्गों से मिलने के लिए विकल है। यद्यपि प्राणों का मिलन हो चुका है, तथापि अभी देह का मिलन बाकी है। "प्रति अङ्ग काँदे तब प्रति अङ्ग तरे, प्राणेर मिलन मागे देहेर मिलन। हृदये आच्छन्न देह हृदयेर भरे, मुरछि पड़िते चाय तब देह परे।"

अब शेली के आवेग की विवशता, मिठास और उसकी मूर्च्छना को देखिये। दैहिक मिलन उसके अस्तित्व को प्रिया के अस्तित्व मे मिला देगा।

"And I will recline on thy marble neck
Till I mingle into thee."

आनन्द इतना अधिक हो सकता है कि हृदय उसे सहन न कर वेदना से कराह उठे,—

"So sweet that joy is almost pain."

आँखे अपने इस आनन्द को स्वयं न देखे—

"Let eyes not see their own delight."

इसी भाँति हवाये अपने सङ्गीत पर मुग्ध होकर जान देती हैं—

"Winds that die
On the bosom of their own harmony."

वसन्त के दिनो मे उनके पङ्ख फूलो की सुगन्ध से भर गये है—

"The noontide plumes of summer winds
Satiate with sweet flowers."

और भी

"The wandering airs they faint
On the dark, the silent stream—"

फूलो पर मूर्च्छित मध्याह्न ज्योति—

"And noon lay heavy on flower and tree,"

यही वासना कवि को प्रेम-तत्व की ओर ले आती है। वह पार्थिव मे अपार्थिव, देह मे विदेह के दर्शन करता है। रवीन्द्रनाथ को प्रेयसी की आँखो मे काँपते हुए उसके प्राण दिखाई देते है—

"आमा-पाने चाहिए तोमार आँखिते कापित प्राण खानि।"

इसी भाँति शेली की प्रिया के अधर वह बात नही कह सकते, जिसे उसकी आत्म-प्रकाश-दीप्त आँखे कह देती है—

"And the tremulous lips dare not speak
What is told by the soul-felt eye."

जब मिलन होता है तो ससार जैसे लुप्त हो जाता है, मिलनेवालों की एक ही सत्ता रह जाती है—

"बिजन बिश्वेर माझे, मिलन श्मशाने,
निब्बापित सूर्ज्यालोक लुप्त चराचर,
लाज-मुक्त बास-मुक्त दुटि नग्न प्राणे,
तोमाते आमाते होइ असीम सुन्दर।"

(पूर्ण मिलन—कडि ओ' कोमल)।

इसी तरह शेली मे मिलन होने पर दोनो की एक आशा, एक जीवन, एक मरण होता है।

(४) विषादः—रोमाण्टिक कवि की एक अन्य विशेषता है, उसका दर्द। ससार के दुःख उसे दुखी करते है। यहाँ स्थिरता किसे है? जिसे हम प्यार करते हैं, जिसकी सुन्दरता हमे मुग्ध करती है, दो दिन बाद उसका भी सभी के समान मरण होता है। शेली ने मृत्यु से उत्पन्न दुःख को बडे ही करुण शब्दों मे व्यक्त किया है। मनुष्य को मृत्यु से कुछ भी नही बचा सकता।

"What can hide man from mutability?"

ससार मे जो कुछ भी सुन्दर है, जो कुछ भो कल्याणकर है, कब्र उसे अपने भीतर छिपा लेती है—

"The grave hides all things beautiful and good."

रवीन्द्रनाथ भी इस मृत्यु का स्मरण करके एक बार कह उठते हैं—

"तुइ जाबि, गान जाबे, एक साथे भेसे जाबे
तुइ, आर तोर गान गुलि!"

तू जायगा और तेरे ये गीत जायँगे, दोनों एक साथ काल-स्रोत में बह जायँगे। इस मायामय ससार में चिरदिन कुछ भी न रहेगा।

"एइ मायामय भबे चिरदिन किछु र'बे ना।"

जब तक मनुष्य जीता है, आशा-निराशा का हृदय मे तुमुल युद्ध मचा रहता है—

"We look before and after
And pine for what is not."

मृत्यु मे ही हृदय की इस उथल-पुथल का अन्त होगा—

"Doubtless there is a place of peace
Where my weak heart and all its throbs will cease."

रवीन्द्रनाथ कहते है, यह जलती वासना, यह रोना धोना व्यर्थ है—

"वृथा ए क्रन्दन !
वृथा ए अनल-भरा दुरन्त बासना !"

वह कभी शान्त न होगी, अपनी आँखों के पानी मे उसे डुबा दो।

"निबाओ बासनावह्नि नयनेर नीरे।"

(६) अतीतः—उनके विषाद का एक और कारण है, उनका वर्तमान से असन्तोष। शेली ने अपने समय के सामाजिक और राजनीतिक नियमों का एव प्रचलित धार्मिक रूढियो का कठोर से कठोर भाषा मे खण्डन किया है। राजाओं और पुजारियो के शीघ्र नाश होने की उसने भविष्यवाणी की है, सभी प्रकार के बन्धनों के छिन्न होने पर वह मनुष्यको मुक्त देखना चाहता है। रवीन्द्रनाथ इतने उद्धत क्रान्तिकारी नही, पर इसीलिए समाज की, राजतन्त्र की उनकी आलोचना अधिक गम्भीर एवं हितकर सिद्ध हुई है। फिर भी दोनों ही कवि वर्तमान को छोड़ कर अतीत में अपना प्रिय वातावरण खोजते

हैं। शेली ग्रीक और रोमन धर्म-कथाओं को अपनी कविता का आधार बनाता है, उनके देवी-देवताओं की उपासना मे अपने गीत गाता है। सामयिक कविता उसकी रुचि के इतनी अनुकूल नही होती जितनी पुरातन। रवीन्द्रनाथ अपनी भाषा के कवियों मे वैष्णव कवियो को ही पहले अधिक पढते है। उनकी भाषा, और छन्दो पर वैष्णव कविता की छाप दिखाई देती है। सस्कृत कवियो मे कालिदास के वह अन्य भक्त हैं। उनकी कृतियों पर तथा स्वय कालिदास पर उनकी अनेक कवितायें है। कालिदास के समय को लेकर उनकी अनेक कल्पनायें हैं। सस्कृत पौराणिक कथाओ का आधार लेकर उन्होंने बहुत रचनाये की है। इसी भाँति जातक कथाओं एव पञ्जाब और महाराष्ट्र के इतिहास का भी अपनी कविता मे उन्होंने आधार लिया है। समय की दूरी के कारण अतीत जिस पर भी अपनी सुनहली सन्ध्या की सी झिलमिल ज्योति डालता है, वह उनके लिए एक आकर्षण की वस्तु बन जाता है। आधुनिक सभ्यता को उसके नगर, उसके लौह, काष्ठ और प्रस्तर वापस देकर वह अपने पुराने तपोवन, सामगान और सन्ध्या-स्नान चाहते है—

"दाओ फिरे से अरण्य, लओ ए नगर,
लहो जतो लौह लोष्ट्र काष्ठ औ' प्रस्तर,
हे नव सभ्यता, हे निष्ठुर सर्वग्रासी,
दाओ सेइ तपोबन पुण्यच्छायाराशि,
ग्लानिहीन दिन गुलि,—सेइ सन्ध्यास्नान,
सेइ गोचारन, सेइ शान्त सामगान," इत्यादि।

उनकी कविता प्राचीन भारत के स्वर्ण-स्वप्नो से भरी पड़ी है।

(७) रहस्यवाद:—मृत्यु से उत्पन्न विषाद पर ऊपर लिखा जा चुका है। कवि इस दुःख को तब भूल जाता है जब वह भावी जीवन की ओर देखता है। मनुष्य का जीवन इसी जन्म से आरम्भ नहीं

होता, न उसका इसी मृत्यु से अन्त होता है। जन्म-जन्मान्तरों के पश्चात् क्रमशः पूर्णता की ओर उन्नति करता हुआ वह उस अमर जीवन से मिल जाता है, जो पूर्ण है, सुन्दर तथा सत्य है। यह ससार बन्धन है; मनुष्य अपने जिस सासारिक जीवन को जीवन कहता है वह जीवन नही। शेली की (Pantheistic) भावना यहाँ कही-कही रवीन्द्रनाथ से बिलकुल मिल जाती है। मनुष्य मरने पर प्रकृति के अनन्त जीवन से मिल जाता है। कीट्स की मृत्यु पर लिखते हुए वह कहता है—

"He is made one with nature: there is heard
His voice in all her music, from the moan
Of thunder, to the songs of night's
sweet bird;"

इसी भाँति रवीन्द्रनाथ का बालक प्रकृति-तत्वो से मिलकर अपनी माँ से अनेक खेल खेलता है।

"हावार सङ्गे हावा हो' ये
जाबो मा तोर बुके ब'ये,
ध'र्‌ते आमाय पार्‌बि ना तो हाते।
जलेर मध्ये होबो मा ढेउ
जानते आमाय पार्‌बे ना केउ,
स्नानेर बेला खेल्‌बो तोमार साथे।"

ससार के छाया-पट परिवर्तित हुआ करते हैं, एक अमर जीवन की ज्योति-मात्र सदा जाग्रत रहती है।

"The One remains, the many change and pass;
Heaven's light for ever shines, Earth's
shadows fly;"

शेली के लिए ससार की आत्मा स्नेहपूर्ण, सुन्दर और सदा प्रकाशमान है।

यह प्रेम और सौन्दर्य की ज्योति संसार का जीवन है। जिस पर उसका पूर्ण प्रकाश पड़ता है, उसके पार्थिव बन्धन छिन्न हो जाते हैं। उसी मे वह मिल जाता है। रवीन्द्रनाथ के जीवन-देवता प्रेम और सौन्दर्य की पूर्णता हैं। जन्म-जन्मान्तर से वह उनसे मिलने के लिए व्याकुल है। वही नही, समस्त ससार उसी पूर्णता से मिलने के लिए गतिमान है। जब तक वह मिलन न होगा तब तक स्थिरता भी न होगी।

(८) शब्द-चित्र :—दोनो कवि कुशल चित्रकार हैं। शेली की कल्पना पार्थिव आकार-प्रकार से कम बधती है। सुन्दर वस्तु के रूप में, उसकी ज्योति मे जैसे उसकी दृष्टि बध जाती हो, किंवा स्थूल को छोड़कर वह जैसे सूक्ष्म सौन्दर्य को ही व्यक्त करना चाहे; इस कारण उसके चित्र अपने वाह्य आकार मे उतने स्पष्ट नही उतरते जितने रवीन्द्रनाथ के। वाह्य सौन्दर्य से आकृष्ट होकर वह उसे देर तक देखते हैं, अनेक कोणों से देखकर उसकी रेखा-रेखा का सुविस्तर वर्णन करते हैं। सुन्दरियाँ उनके सामने विभिन्न वेशो मे, विभिन्न हाव-भावों के साथ आती है, तरह-तरह के पोज करती हैं; कवि मुग्ध होकर उनके सजीव चित्र उतारता जाता है। उनकी समानता चित्र को प्रकाश से आवेष्टित करने, उसके अङ्गो मे रग भरने में है। दोनो ही रगों को प्यार करते हैं, चित्र पर प्रकाश और छाया का खेल देखना चाहते हैं। शेली की सुन्दरी सन्ध्या के पीत आलोक मे हाथ बाँधे आँखे खोले लेटी है :—

"With open eyes and folded hands shelay,
Pale in the light of the declining day."

स्नान करके आयी हुई "विजयिनी" पर मध्याह्न का आलोक पड़ता है—

"तारि शिखरे शिखरे
पडिल मध्याह्न रौद्र—ललाटे अधरे
उरु परे कटितटे स्तनाग्रचूडाय
बाहुजुगे,—सिक्त देहे रेखाय रेखाय
झलके झलके।"

नग्न सौन्दर्य की उपासना पर ऊपर भी कहा जा चुका है। पूर्णिमा रजनी ज्योत्स्ना-मग्न अपनी नग्नता मे कितनी सुन्दर है—

"बिमल गगना, बिभोर नगना,
पूरनिमा निशि, जोछना-मगना;"

शेली नग्ना नव-विवाहिता को अपने सौन्दर्य पर विह्वल देखता है—

"A naked bride
Glowing at once with love and loveliness
Blushes and trembles at her own excess."

रङ्गों की समानता देखिये। रवीन्द्रनाथ का निर्झर

"रामधनू आंका पाखा उड़ाइया,
रबिर किरणे हासि छडाइया;"—बहता है।

शेली की निर्झरिणी Arethusa भी अपने इन्द्र धनुष के केश उड़ाती बहती है—

"She leapt down the rocks,
With her rainbow locks,
Streaming among the streams;—"

दोनों कवियों की दृष्टि अत्यन्त पैनी है। जो सब देख सकते हैं, उसका तो वे चित्र खीचते ही हैं, जहाँ केवल कवि-दृष्टि पहुँच सकती है, उस अदृश्य को भी वे अपने शब्दों में साकार कर दिखाते हैं।

शेली समुद्र-तल के नीचे उसकी शक्तियों को रत्न-माणिक्यों के सिंहासनों पर बैठा देखता है।

रवीन्द्रनाथ समुद्र जल मे उर्वशी के मणि-दीप्त कक्ष में उसके प्रवाल-पालङ्क तथा उसके मानिक-मुक्ताओ के साथ खेलने की कितनी सुन्दर कल्पना करते है—

"आधार पाथारतले कार घरे बसिया एकेला
मानिक मुकुता ल'ये क'रे छिले शैशबेर खेला।
मनिदीप-दीप्तकक्षे समुद्रेर कल्लोल-सङ्गीते
अकलङ्क हास्यमुखे प्रवाल-पालङ्के घुमाइते
कार अङ्कटिते ?"

कविता, सन्ध्या, वर्षा, वेदना, रात्रि, मृत्यु आदि के भी उन्होंने सुन्दर चित्र बनाये है। शेली के पास जब वेदना आती है तो एक सुगठित आकार मे, कवि उसे पास बिठाता है, उससे बातचीत करता है, उससे चुम्बन माँगता है—

"Kiss me;—oh ! thy lips are cold :
Round my neck thine arms enfold—
They are soft, but chill and dead ;
And thy tears upon my head
Burn like points of frozen lead."

रवीन्द्रनाथ की कविता-कामिनी के चुम्बन अधिक मधुर हैं —

"उज्ज्वल रक्तिम वर्ण सुधापूर्ण सुख
रेखो ओष्ठाधरपुटे, भक्त भृङ्ग तरे
सम्पूर्ण चुम्बन एक, हासि स्तरे स्तरे
सरस सुन्दर ;"

इन कवियों की कल्पना की समानता उनके चित्रों की समानता

में अनेक स्थलों पर प्रकट होती है। रवीन्द्रनाथ के अवाक् तारे रात भर जल के तारों की ओर देखते रहते हैं—

> "आकाशेर तारा अवाक होबे
> साराटि रजनी चाहिए रोबे
> जलेर तारार पाने।"

शेली के तारे भी—

> "The sharp stars pierce winter's crystal air
> And gaze upon themselves within the sea."

(६) विश्व और देशः—समस्त सृष्टि को अपना क्रीडाक्षेत्र बनाने वाली यह महती कल्पना देश-काल के बन्धनो से बधकर नही रह सकती। उन्हे तोड़कर, इन कवियों ने मनुष्य-मात्र की समानता, एकता, तथा बन्धुत्व के गीत गाये है। जाति-पॉति, धर्म-सम्प्रदाय, देश-विदेश आदि मनुष्य को अपने भाई मनुष्य से दूर नही रख सकते। मनुष्यता का स्नेह-सूत्र उन्हे एक साथ बॉध लेगा।

जिसे हम जीवन कहते हैं, जिसे हम ससार कहते है, वह वास्तविक जीवन नही, वास्तविक ससार नही। सत्य पर मायाका आवरण पड़ा है, उसके दूर होने पर ही सच्ची मनुष्यता देख पडेगी। इसीलिए क्षुद्र भेद-भावो को भूल रवीन्द्रनाथ ससार के सभी मनुष्यो को एक स्नेह-मिलन में सम्मिलित होने के लिए बुलाते हैं—

> "एसो हे आर्ज्ज, एसो अनार्ज्ज,
> हिन्दु मुसलमान
> एसो एसो आज तुमि इराज,
> एसो एसो खृष्ठान।
> एसो ब्राह्मण, शुचि करि मन
> धरो हात सबाकार,

एसो हे पतित, होक् अपनीत
सब अपमान-भार ।"

(१०) मानवता:—विश्व या देश में फैले हुए अत्याचार और दासत्व से भी उन्होंने आँखें नही फेर ली। शेली ने अपने देश के स्वेच्छाचारी शासन की कठोर शब्दो मे आलोचना की है। वहाँ के राजनीतिक कार्यकर्ताओ के प्रति कटु से कटु शब्दो का प्रयोग किया है। वैसी तीव्रता रवीन्द्रनाथ में नहीं मिलती। शेली का जन्म एक स्वतन्त्र देश मे हुआ था, रवीन्द्रनाथ का एक परतन्त्र देश मे हुआ है। उनकी कविता मे अपने देश के प्रति दर्द हो, उसकी मुक्ति के वह स्वप्न देखे, यह स्वाभाविक है। किन्तु शेली की सहृदयता देखते ही बनती है। उसे अवनति के दुःस्वप्न मे मग्न समस्त पूर्व के प्रति सहानुभूत है—

"Darkness has dawned in the East
On the noon of time ;
The death-birds descend to their feast,
From the hungry clime."

परतन्त्र ग्रीस को वह अपना देश समझकर उसकी मुक्ति के लिए अपनी शक्तियां का पूर्ण प्रयोग करता है। ग्रीस दास नहीं रहेगा, उसकी पुरानी सभ्यता एक बार और जागेगी, पहले से भी शुचितर रूप मे। यही सभ्यता, यही जागरण ससार से अत्याचार-अनाचार को दूर करके स्नेह और विश्व-बन्धुत्व का पथ प्रशस्त करेगा।

"Another Athens shall arise,
And to remoter time
Bequeath, like sunset to the skies,
The splendour of its prime ;

And leave, if nought so bright may live,
All earth can take or heaven can give."

ससार में घृणा, द्वेष, ईर्ष्या का बहुत दिनों तक राज्य रहा ; क्या वह सदा ही बना रहेगा ? ससार की इन भीषण लड़ाइयों का क्या कही अन्त है—

"Oh, Cease ! must hate and death return
Cease ! must men kill and die ?
Cease ! drain not to its dregs the urn
Of bitter prophecy."

इस पैशाचिक युद्ध के तुमुल घोष को भेदकर रवीन्द्रनाथ अपने देश मे "विश्व-देव" की वाणी ऊपर उठते हुए देखते है—

"डुबाये धरार रण-हुङ्कार
भेदि' बणिकेर धन-झङ्कार
महाकाश, तले उठे ओंकार
कोनो बाधा नाहिं मानि ।"

शेली के ग्रीस की भाँति रवीन्द्रनाथ के भारतवर्ष मे भी सभ्यता का शङ्ख बजेगा—

"नयन मुदिया भावी काल-पाने
चाहिनु, शुनिनु निमेषे
तव मङ्गल बिजय शङ्ख
बाजिछे आमार स्वदेशे ।"

भावी के इस अनागत स्वप्न के ये दोनों कवि द्रष्टा हैं, वे चाहते हैं कि उनकी वाणी में वह शक्ति हो जो ससार को शीघ्र से शीघ्र उस सुन्दर महास्वप्न की ओर ले चले ।

रवीन्द्रनाथ—

"आमार जीबने लभिया जीवन
जागो रे सकल देश !"

इन दोनो ही कवियो ने पूर्व और पश्चिम के भेद-भाव को नहीं माना। प्रत्युत् रवीन्द्रनाथ को कविता मे पाश्चात्य के प्रति ऐसा कोई स्नेह अथवा हार्दिक आकर्षण नही प्रकट होता जैसा शेली की कविता मे प्राच्य के प्रति। अपनी कविता मे वह भारतवर्ष का कितनो बार जिक्र करता है। काश्मीर की घाटियो, हिमालय को उपत्यकाओं, यहाँ के फूलो की सुगन्ध से उसकी कल्पना अपरिचित नहीं।

[१६३४]

शरच्चन्द्र चटर्जी

शरच्चन्द्र के उपन्यासों का नायक अनेक स्त्रियों से घिरा होता है, वे सभी उससे प्रेम चाहती हैं और वह उनमे से एक को भी प्रेम-प्रदान करने मे असमर्थ होता है। इसी असमर्थता की भूमि पर नारी की उपासना, उसकी तपस्या, उसकी सेवा-परायणता आदि का आदर्शवाद निर्मित होता है। शरत् बाबू के नायक अधिकाशतः जमींदार घरानों के, बचपन से आवारा और स्त्रियों के प्रति एक विशेष प्रकार की भावुकता के वशीभूत होते हैं। रुपये पैसे की उन्हे कभी कमी नहीं होती, इसलिये उन्हे अपनी भावुकता के प्रयोग करने की पूर्ण स्वतन्त्रता तथा अवकाश रहता है। जिन नायको के माता-पिता अथवा कोई सगे-सम्बन्धी सपत्ति छोडकर नहीं मरे, वे भी 'पथेरदावी' के अपूर्व की तरह भारी नौकरी पा जाते है, या श्रीकात की तरह उन्हे कभी कही से, कभी कही से, रुपये की कमी नहीं होती। इन नायको मे प्रेम करने की इच्छा है परन्तु वे नारी को अति निकट से नही प्यार करना चाहते। प्रेम की व्याख्या यह है—'बड़ा प्रेम केवल पास ही नहीं खीचता, दूर भी ठेल देता है' (श्रीकात—१—१२)। शायद पास खीचने और दूर ठेलने की क्रिया जितने ही विशद परिमाण मे होती है, प्रेम का बड़प्पन भी उतना बढ जाता है। शरत् बाबू के उपन्यासों मे इस क्रिया के विस्तृत वर्णन हैं। नारी के निकट आने पर भय रहता है कि प्रेम निकटता की सीमा को पार न कर जाय। पुरुष अपना पुरुषार्थ अपने तक ही सीमित रखता है। इसलिये नारी का प्रेम सेवा रूप मे प्रकट होकर अति निकटता के भय को दूर कर देता है और पुरुष के पुरुषार्थ पर भी आँच नही आने

देता। ठगने की क्रिया जब एक दीर्घ अवधि ले लेती है और प्रेम के खिचाव की आवश्यकता का अनुभव होता है, तब नायक किसी न किसी शारीरिक व्याधि से व्याकुल हो उठता है। अपने शीतल कर-स्पर्श से उसके ताप को दूर करने के लिये तब एक न एक नायिका अवश्य आ जाती है। कभी छाती मे दर्द हो जाता है, कभी ज्वर, कभी प्लेग आदि भी। और नायिकाएँ—वे भी रोगमुक्त नहीं हैं। अधिकाश को मूर्च्छा हो आती है, किसी विशेष भाव प्रदर्शन के लिए नहीं, वरन् भयानक हिस्टीरिया अथवा मिर्गी के रूप मे। पुरुष के प्रेम की खोज मे तपस्या करते-करते निर्बल और क्षीण होकर वे सेवा के परम तत्व को पहचान पाती हैं। एक-आधी पागल भी हो जाती हैं और तब उन्हे ईश्वर मे भी विश्वास हो जाता है।

कहने को कह सकते हैं कि शरत् बाबू ने बगाल के नष्टप्राय, जर्जर जमींदार वर्ग का चित्रण किया है, परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि उनके नायको की समस्या एक है और उनकी जर्जरता, उनका खोखलापन भी एक विशेष प्रकार का है। वह मध्यवर्ग को समाज का क्रान्तिकारी वर्ग, समाज को गति और प्राण देने वाला वर्ग मानते हैं। 'पथेर दावी' के सव्यसाची का यही आदर्श है। परन्तु उनके मध्यवर्ग के पात्र श्रीकात जैसे लक्ष्यहीन आवारे हैं। श्रीकात की राजलक्ष्मी वेश्या-जीवन छोड़कर ईश्वरोपासना मे लीन एक साध्वी स्त्री बन जाती है; धर्म मे उसे एक लक्ष्य मिल जाता है, केवल श्रीकात को कोई लक्ष्य नहीं है। जमींदार वर्ग के नायको की समस्याएँ मध्यवर्ग के नायको के भी सामने आती हैं। समाज के विकास में वर्गों की पारस्परिक प्रतिक्रिया पर शरत् बाबू की दृष्टि प्रायः नहीं गई है। उनका प्रचड व्यक्तिवाद उनसे बार-बार एक ही कहानी कहलाता है, यहाँ तक की घटनाएँ भी कभी-कभी एक-सी होती हैं—जैसे उनके नायक प्रायः बर्मा जाते हैं, श्रीकात की कहानी मे वह खुद,

'चरित्रहीन' मे दिवाकर, 'पथरे दावी' मे अपूर्व इत्यादि। कहा जाता है कि श्रीकात की भ्रमण कहानी मे शरत बाबू ने आत्म कथा लिखी है—बारह आने उसमे वास्तविक घटनाएँ हैं और चार आने कल्पना उन घटनाओ को उपन्यास के रूप मे सजाने के लिये है। श्रीकात को यह महत्त्व देने का कोई विशेष कारण नहीं है, सिवाय इसके कि वह अकेले उनके साधारण चार उपन्यासों के बराबर है। श्रीकात की कहानी अन्य उपन्यासों मे भी मिलेगी, कही कम कहीं ज़्यादा और श्रीकात के चार पर्वों मे वह कहानी पूरी-पूरी आ गई है, इसमे सन्देह है।

पहले श्रीकात की ही कहानी लेते है। इसमे नायक की लक्ष्य-हीनता, उसकी भ्रमणप्रियता, प्रेम का उसे खींचना और ठेलना आदि क्रियाएँ विशेष उभरकर आई है। श्रीकात अपने साथी इन्द्र के कारण बचपन मे ही सिगरेट भॉग आदि का प्रेमी हो जाता है। एक राजा साहब के यहॉ प्यारी बाई से उसकी भेंट होती है। प्यारी का वास्तविक नाम राजलक्ष्मी है और वह श्रीकात के ही गॉव की रहने वाली है। उसने बचपन मे ही श्रीकात को प्यार किया था और बचपन से ही श्रीकात ने उसे निराश करना आरम्भ कर दिया था। जब उसने मकोइयो की जयमाला पहनाई तो श्रीकान्त ने प्रेम से सब मकोइयॉ खा डाली, माला टूट गई। राजलक्ष्मी अपना प्रेम प्रदर्शित करती है परन्तु प्रेम श्रीकात को दूर ठेल ले जाता है। पहले पर्व के ११व अध्याय मे श्रीकांत को बुखार आ जाता है और राजलक्ष्मी उसकी सेवा के लिये उपस्थित हो जाती है, अपने साथ उसे पटना भी ले जाती है। पटना मे राजलक्ष्मी के 'पवित्र शयन मदिर' में श्रीकात को अपने उत्तप्त शरीर पर गुप्त कर स्पर्श का सुख मिलता है। सुख के साथ लज्जा और भय का उदय होता है, मनोभावो का सूक्ष्म विश्लेषण देखते ही बनता है। 'बहुत रात बीते एकाएक तन्द्रा टूट

गई और मैने आँख खोलकर देखा कि राजलक्ष्मी गुपचुप कमरे मे आई और उसने टेबल के ऊपर का लैम्प बुझाकर उसे दरवाज के कोने की आड मे रख दिया। . एकात मे आने वाली नारी के इस गुप्त कर-स्पर्श से पहले तो मै कुठित और लज्जित हो उठा।' लज्जा और कुठा का अत राजलक्ष्मी के यहाँ से चल देने के निश्चय मे हुआ। 'आँखे और मुँह जल रहे थे, सिर इतना भारी था कि शय्या त्याग करते क्लेश मालूम हुआ। फिर भी जाना ही होगा।' क्यो जाना होगा ? इसलिये कि राजलक्ष्मी की चरित्र-धवलिमा पर धब्बा न लग जाय, मन कही धोखा न दे जाय श्रीकात का चलने का निश्चय अपने लिए किसी भय के कारण नहीं था, भय था राजलक्ष्मी के लिए; उसे तपस्या कराके योगिनो बनाना ही होगा। पाठक धोखे मे न पड़े इसलिए श्रीकात ने स्पष्ट कर दिया है—'फिर भी यह डर मुझे अपने लिए उतना नहीं था। परन्तु, राजलक्ष्मी के लिये हो मुझे राजलक्ष्मी को छोड़ जाना होगा, इसमे अब जरा-सी भी आनाकानी करने से काम न चलेगा।' यही प्रेम का वह सूक्ष्म विज्ञान है जो पुरुष को नारी के निकट लाता है और फिर नारीत्व को निखारने के लिए उसे दूर ढकेल देता है।

द्वितीय पर्व मे श्रीकात और राजलक्ष्मी फिर मिलते हैं और फिर श्रीकात उसे छोडकर चल देता है। यही उसकी बर्मायात्रा का वर्णन है जिसकी मुख्य बाते अन्य उपन्यासो में मिलती है। जहाज की विशेष घटना से श्रीकात के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। सब यात्रियों की डाक्टरी होती है। श्रीकात को यह अत्यन्त अपमानजनक प्रतीत होता है। 'आगे खड़े हुए साथियों के प्रति किया गया परीक्षा-पद्धति का जितना प्रयोग दृष्टिगोचर हुआ, उससे मेरी चिन्ता की सीमा न रही। ऐसा कायर बगालियो को छोड़कर वहाँ और कोई नही था जो देह के निम्न भाग के उघाड़े जाने पर भयभीत हो....यथा समय आँख

मीचकर, सारा अंग संकुचितकर एक तरह से हताश ही होकर, डाक्टर के हाथ आत्म-समर्पण कर दिया।'

जहाज पर ही श्रीकात की अभया से भेट हो जाती है। बर्मा मे प्लेग फैलने पर जब श्रीकात बीमार पड़ जाता है तब यह अभया उसकी परिचर्या करती है। अभया के यहाँ से श्रीकात फिर राजलक्ष्मी के पास आता है। स्टेशन पर राजलक्ष्मी के चोट लगने पर वह कहती है—'हाँ, बहुत चोट लगी है,—परन्तु लगी है ऐसी जगह कि तुम जैसे पत्थर न उसे देख सकते है और न समझ सकते है।' परन्तु श्रीकात सोचता है—'नारी की चरम सार्थकता मातृत्व मे है, यह बात शायद खूब गला फाड करके प्रचारित की जा सकती है।' और राजलक्ष्मी के लिए कहता है—'उसकी कामना वासना आज उसी के मध्य मे इस तरह गोता लगा गई है कि बाहर से एकाएक सन्देह होता है कि वह है भी या नहीं।' राजलक्ष्मी उसे पत्थर कहे तो आश्चर्य क्या! श्रीकात के चौथे पर्व मे वज्रानन्द राजलक्ष्मी से पूछते है, क्या वह श्रीकान्त को निरा निकम्मा ('अकेजो') बनाकर ही छोडेगी; और राजलक्ष्मी उत्तर देती है, ईश्वर ने ही उसे ऐसा बना दिया है, कहीं भी कोर कसर नही छोडी। कदाचित् इसी कारण राजलक्ष्मी को श्रीकात पर पूर्ण विश्वास है; उसके खोये जाने का उसे तनिक भी डर नहीं है। श्रीकात के शब्दो मे,—'केवल डर ही नहीं, राजलक्ष्मी जानती है कि मैं खोया जा ही नही सकता। इसकी सम्भावना ही नहीं है। पाने और खोने की सीमा से बाहर जो एक सम्बन्ध है, मुझे विश्वास है कि उसने उसे ही प्राप्त कर लिया है और इसीलिए मेरी भी इस समय उसे जरूरत नही है।' राजलक्ष्मी की दुःसह वेदना को देखते हुए यह विश्वास करना कठिन है कि उसे श्रीकात की आवश्यकता नहीं है; परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि दूर बर्मा मे अथवा एक बिस्तर पर साथ सोने तक की सभी परिस्थितियो में श्रीकांत तथा राजलक्ष्मी का

खोने और पाने से परे का सम्बन्ध स्थिर और अडिग रहता है! श्रीकांत फिर भी राजलक्ष्मी के नारीत्व को महत्तर करने के लिये, उसमे क्षति की सम्भावना को दूर करने के लिए, उसे छोड़कर चला गया था! वह सदा एक न एक बहाने से उसे छोडकर चला जाता है—परन्तु वे सब बहाने ही हैं। नारीत्व की रक्षा भी एक बहाना है। सत्य यह है कि श्रीकात का नारी से सम्बन्ध खोने और पाने से परे का है। अभया और कमललता से भी उसका सम्बन्ध क्या इसी कोटि का नही है? 'चरित्रहीन' की 'चरित्रहीनता' भी क्या सच्चरित्रता और दुश्चरित्रता दोनो से परे नही हैं? परन्तु इस विडम्बना का कही अन्त नही है!

इस बहाने कि राजलक्ष्मी अब भी गाने जाती है, श्रीकात उसे छोड़कर काशी से कलकत्ता चला जाता है। अपने गॉव आकर भीतरी अवसाद उसे फिर सताता है और उसे ज्वर हो आता है। वह राजलक्ष्मी से रुपये मॅगाता है और राजलक्ष्मी लक्ष्मी की ही भॉति स्वय आकर उपस्थित हो जाती है। श्रीकात का गॉव राजलक्ष्मी का भी गॉव है और यहॉ सभी दोनो के परिचित हैं। श्रीकात अपनी पत्नी कहकर राजलक्ष्मी का परिचय देता है। ऐसी परिस्थिति जिसमें पुरुष एक बिना ब्याही स्त्री को अपनी पत्नी घोषित करता है, शरत् बाबू के उपन्यासो में अनेक बार आती है। गृहदाह मे सुरेश अचला को, चरित्रहीन मे दिवाकर किरण को इसी तरह अपनी पत्नी घोषित करते हैं। पति कहलाने की साध इतने से ही पूरी हो जाती है।

राजलक्ष्मी श्रीकात को उसके गॉव से पटना ले जाती है। वहाँ उसे फिर ज्वर आता है। ठीक पहले जैसी परिस्थिति फिर उत्पन्न होती है; इतने खिचाव के बाद प्रेम फिर उसे ठेलना शुरू करता है, यहॉ तक कि यह प्रेम भी है कि नहीं, उसे सदेह होने लगता है। उसे भान होता है कि उसने कभी राजलक्ष्मी से प्रेम किया ही नहीं!

बलिपशु की भाँति शरत् का पुरुष अपने को निःसहाय पाता है। वह कातर होकर इधर-उधर भागने का रास्ता खोजता है। श्रीकात ने अपनी दशा का मार्मिक वर्णन किया है। 'मुँह उठाकर देखा, तो राजलक्ष्मी चुपचाप बैठी खिड़की के बाहर देख रही है। सहसा मालूम हुआ कि मैंने कभी किसी दिन इससे प्रेम नही किया। फिर भी इसे ही मुझे प्रेम करना पडेगा,—कही किसी तरफ़ से भी निकल भागने का रास्ता नही। ससार मे इतनी बड़ी विडम्बना क्या कभी किसी के भाग्य मे घटित हुई है? और मजा यह कि एक ही दिन पहले इस दुबिधा की चक्की से अपनी रक्षा करने के लिये अपने को सपूर्ण रूप से उसी के हाथो सौप दिया था। तब मन-ही-मन जोर के साथ कहा था कि तुम्हारी सभी भलाई बुराइयो के साथ ही तुम्हे अगीकार करता हूँ लक्ष्मी! और आज, मेरा मन ऐसा विक्षिप्त और ऐसा विद्रोही हो उठा; इसी से सोचता हूँ, ससार मे 'करूँगा' कहने मे और सचमुच करने मे कितना बडा अतर है!' एक-एक शब्द सार्थक है; श्रीकात की समस्या को इससे अच्छे शब्दो में व्यक्त करना कठिन है। इस मधुर कविता की सृष्टि के लिये ही एक विशेष परिस्थिति की पुनरावृत्ति होती है। प्रेम किया है, नही भी किया है—इसलिए कि वह बड़ा प्रेम है, खोने पाने के परे है। इसलिए प्रेम करना न करने के बराबर है। निकल भागने का रास्ता नही है—इस कातरता का अनुभव करना ही पड़ेगा। यद्यपि भागने का रास्ता सदा मिल जाता है, फिर भी इस कातरता के अनुभव मे भी सुख है। इतनी बड़ी विडबना क्या ससार में श्रीकात के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष की भी हुई है? कम से कम शरत् बाबू के पात्रों के लिये यह प्रेमी की विडबना नई नही है। प्रेम की प्रवचना, उसका भुलावा ही उनके लिए प्रेम है। शरत् बाबू के उपन्यासो मे ऐसे नायक भी हैं जो ऐसी ही परिस्थितियों मे पड़कर उपन्यास लेखक भी बन जाते हैं।

"दर्पचूर्ण' का नरेन्द्र, जिसके उपन्यास पर विमला आँसू बहाती है, ऐसा ही नायक है। श्रीकांत उपन्यास लेखक नही बनता—आत्मकथा मे ऐसी दो एक बातो की कमी रह गई।

श्रीकात का मन विक्षिप्त और विद्रोही हो उठता है। इच्छाशक्ति की जडता का उसे अनुभव होता है। मनमे कुछ करने की इच्छा होती है—प्रेम उसे खीच लाता है, परन्तु इच्छा को कार्य रूप मे परिणत करने का अवसर आने पर प्रेरक शक्ति हृदय के रसातल में कही छिप जाती है,—प्रेम उसे दूर ठेल देता है। परन्तु इस बार जल्दी प्रेम ने पीछा न छोडा। पटना से चलने पर राजलक्ष्मी भी साथ चली और उसे एक गॉव गगामाटी ले गई। परन्तु राजलक्ष्मी ईश्वर के विधान को नही मेट सकती। एक बार चाहे ईश्वर मिल जाय, श्रीकान्त का मिलना असम्भव है। राजलक्ष्मी व्यथित होकर कहती है—'तुम्हे पाने के लिए मैने जितना श्रम किया है, उससे आधा भी अगर भगवान् के लिए करती तो अब तक शायद वे भी मिल जाते। मगर मैं तुम्हे न पा सकी।' श्रीकान्त अकुठित स्वर से उत्तर देता है—'हो सकता है कि आदमी को पाना और भी कठिन हो।' आदमी को पाना सचमुच ही और कठिन है। चरित्रहीन की किरण पुरुष की खोज मे कितना भटकती है—यहाँ तक कि अन्त में पागल हो जाती है—फिर भी उसे पुरुष नही मिलता। भगवान् उसे मिल जाते हैं—पागलपन आस्तिकता मे परिणत हो जाता है।

राजलक्ष्मी से दूर भागने के लिए श्रीकान्त का हृदय व्याकुल हो उठता है। जब प्रेम का खिचाव था, तब राजलक्ष्मी का पैर सहलाना सुखद लगता था, 'मालूम होता था कि उसकी दसों उँगलियाँ मानो दसो इन्द्रियो की सम्पूर्ण व्याकुलता से नारी हृदय का जो कुछ है सब का सब मेरे इन पैरों पर ही उँडेल दे रही हैं।' परन्तु अब,—'मालूम होने लगा कि वह स्नेह-स्पर्श अब नहीं रहा।'

नारी के भाग्य के साथ कैसा परिहास है, श्रीकान्त यह अनुभव नही करता कि उसके पैरो का ताप ही पहले की अपेक्षा कम हो गया है, वह उँगलियों की वेदना को दोष देता है। वास्तव मे नारी की वेदना उसकी उँगलियो से फूट निकलना चहती है, व्यथा की ज्वाला उसे भस्म कर देती है परन्तु श्रीकान्त नारी के ही माथे दोष मढकर अपने को निर्दोष सिद्ध कर लेता है। मनका वैरागी 'छि छि' करने लगता है। "मेरे मन का जो वैरागी तन्द्राच्छन्न पड़ा था, सहसा वह चौंककर उठ खड़ा हुआ, बोला, 'छि छि छि' !"

अत मे राजलक्ष्मी ही तीर्थयात्रा के लिए चल पडती है। श्रीकात सोचता है कि अब की बार ऐसा भागूँगा कि फिर पकड ही मे न आऊँ। छुटकारे की प्रसन्नता मे दृढ निश्चय होकर कहता है—'मैं उसे छुट्टी दूँगा, उस बार की तरह नही,—अबकी बार, एकाग्रचित्त से, अन्तःकरण के सपूर्ण आशीर्वाद के साथ, हमेशा के लिए उसे मुक्ति दूँगा।' वह देश छोडकर चला जायगा। पहले उसके अदृष्ट ने उसे अपने सकल्प पर दृढ न रहने दिया था, इस बार वह अपनी पराजय स्वीकार न करेगा। परन्तु अदृष्ट तो अदृष्ट! स्वीकार न करने से पराजय विजय थोडे ही हो जायगी। श्रीकान्त छुटकारा पाकर चल देता है। परन्तु बैलगाड़ी ऐसा रास्ता भूलती है कि वह भटकता हुआ फिर उसी गाँव मे आ जाता है और राजलक्ष्मी फिर उसके सिर के बालों मे उँगलियाँ फेरने लगती है। एक बार पुनः बर्मा-यात्रा की तैयारी होती है। श्रीकात कलकत्ते चलता है, परन्तु बर्मा जाने के पहले फिर एक बार काशी आता है!

एक सकट हो तो टले। विपत्ति तो राह चलते मिल जाती है। काशी से चलने पर रेल में पुँटू से भेट हो जाती है और उससे ब्याह की बात भी चल पड़ती है। पुँटू से छुटकारा पाया तो श्रीकान्त के ही शब्दों में वह दूसरी पुँटू के जाल मे पड़ गया। वैष्णवी कमललता

से भेट हुई। वज्रानन्द ने उससे कितनी सत्य बात कही थी। 'अजीब देश है यह बगाल ! इसमे राह चलते माँ-बहिने मिल जाती हैं, किसमे सामर्थ्य है कि इनसे बचकर निकल जाय ?' परतु वज्रानन्द की रक्षा तो गेरुए वस्त्र कर लेते है, श्रीकान्त की रक्षा के लिए वह कवच भी नही है।

कमललता की यह दशा है कि श्रीकान्त का नाम सुनकर ही उसे प्रेम हो गया है। जब हाड़ मास के श्रीकान्त आये, तब उसके मनोभावों का अनुमान किया जा सकता है। कमललता सत्रह वर्ष की अवस्था मे विधवा हो गई थी। विधवावस्था में उसके गर्भ रह गया था, परन्तु उसका प्रेमी उसका नहीं हुआ। शरत् बाबू की नायिकायें बहुधा वेश्याएँ, विधवाएँ, युवावस्था की दुश्चरित्राएँ होती हैं, इसलिए कि तब उनका चरित्र सुधारने का अवसर मिलता है और नायक उनके पास आकर विपत्ति की आशका होने पर फिर भाग सकता है। उनका चरित्र उज्वल हो, उनका नारीत्व फिर कलुषित न हो,—यह बहाना सदा उसके पास रहता है। पुरुष की उदासीनता से वे विवश हैं। वास्तव मे विवशता पुरुष की है, उसकी पुरुषत्व-हीनता नारी को निर्लज्ज बना देती है। इस निर्लज्जता का अति विकृत रूप 'चरित्रहीन' की किरण मे देखने को मिलता है—जब वह उपेन्द्र से खुलकर अपना प्रेम निवेदन करती है और दिवाकर को—जब हावभाव, परिहास-विलास के एक अनन्त क्रम के बाद जहाज पर बरबस एक ही पलग पर सुलाना चाहती है और वह घिघियाता हुआ भागता है और फिर भी भाग नही पाता।

किसी तरह कमललता से छुटकारा पाकर श्रीकान्त कलकत्ते आता है ; परन्तु वहाँ राजलक्ष्मी पहले से ही उसकी बाट जोह रही है। राजलक्ष्मी के साथ फिर एक बार कमललता के दर्शन होते हैं। वहाँ से कमललता को छोड़कर राजलक्ष्मी के साथ गगामाटी की

यात्रा होती है और अन्त मे राजलक्ष्मी को छोडकर एक बार फिर कमललता के यहाँ आना होता है। कमललता को वह वृन्दावन का टिकट कटा देता है और आप उसी रेल मे बैठ कर कुछ दूर साथ यात्रा करने के बाद सैंथिया स्टेशन पर उतर जाता है। कमललता को श्रीकृष्ण भगवान् के चरणो में आश्रय मिलता है, श्रीकान्त उसे अपनी कहकर अपमानित नही करना चाहता। और यही श्रीकान्त की भ्रमण कहानी समाप्त हो जाती है। कथा को इस क्रम से सहस्त्र रजनी-चरित्र की सीमा तक—और उससे भी आगे पहुँचाया जा सकता है। अभया-कमललता-राजलक्ष्मी—ऐसी नारियो की कमी नही है और प्रेम का खीचने ठेलनेवाला व्यापार भी अनन्त है।

(२)

नारी से मातृत्व की खोज बचपन से आरम्भ होती है और आजीवन वह जारी रहती है, प्राण रहते उसका अन्त नहीं होता। 'मॅझली बहन' के किशन मे जैसे हम श्रीकान्त के बाल्यकाल का एक दृश्य देखते हैं। माँ की मृत्यु के पश्चात् किशन को सौतेली बहन के यहाँ आश्रय मिलता है। वहाँ उसे अनेक कष्ट सहने पड़ते हैं। माता का खोया हुआ स्नेह उसे मॅझली बहन हेमागिनी मे मिलता है। हेमागिनी स्वय रोगिनी है, हिस्टीरिया के से लक्षण भी उसमें हैं। वह कभी किशन को अत्यधिक प्यार करती है, कभी उसे पीटती है। किशन का आश्रय छिनने को होता है, परन्तु अन्त में हेमांगिनी पति को भी छोड़कर उसके साथ चलने को प्रस्तुत हो जाती है। पतिदेव को किशन को आश्रय देना ही पड़ता है और किशन को मॅझली बहन के मातृ स्नेह से वञ्चित नहीं होना पड़ता। 'सुमति' में रामलाल को ऐसा ही आश्रय

भाभी नारायनी के यहाँ मिलता है। 'राम ने फिर भाभी की छाती मे मुँह छिपा लिया। यहाँ मुँह रखकर उसने लम्बे तेरह वर्ष विताये हैं—इतना बड़ा हुआ है।' तब भला यह प्रवृत्ति कैसे छूट सकती है? विन्दिन की भाँति यही भाभी रामलाल को बेता से पीटती है और अन्त मे फिर उसे अपने अञ्चल मे आश्रय देती है। मार और प्यार—दो विरोधी बातो का कारण स्पष्ट है। पति से असन्तुष्ट नारायनी मातृत्व का विकास चाहती है, रामलाल उस विकास मे सहायक होता दिखाई देता है, परन्तु वह उसकी सहज आकाङ्क्षा को पूर्ण नही कर सकता। दूसरे का लड़का अपनी कोख से लडका जनने का सुख उसे नही दे सकता। इसी कारण रामलाल और किशन को मार भी मिलती है और फिर माता जैसा प्यार भी मिलता है।

जब 'श्रीकान्त' और बडा हुआ, तब की एक झाँकी 'बडी बहन' मे देखिये। सुरेन्द्र श्रीकान्त जैसा ही परमुखापेक्षी है। खाने, पिलाने, सुलाने आदि के लिए भी उसे एक अभिभावक चाहिये। घर पर उसकी अभिभावक उसकी विमाता है; परन्तु अन्य पात्रो की भाँति वह भी घर छोड़कर कलकत्ते भागता है। यहाँ उसे चौदह वर्ष की अवस्था मे विधवा होने वाली माधवी अभिभावक के रूप मे मिल जाती है। माधवी की छोटी बहन को पढाने के लिए वह अध्यापक रखा गया है परन्तु न पढ़ाने पर डाट डपट होती है और आत्मसम्मान को रक्षा के लिए उसे घर छोड देना पड़ता है। रास्ते में गाडी के नीचे आजाने से उसे चोट आ जाती है। पिता आकर ले जाते हैं। वहाँ उसका विवाह हो जाता है; परन्तु शायद विवाह का दुख दूर करने के लिए वह मित्रों के साथ शराब-कबाब मे पड जाता है। शरीर उसका अस्वस्थ रहता है और अन्त मे घटना-चक्र उसकी अस्वस्थता को बढाकर उसे माधवी की गोद मे ला पटकता है। उसी

गोद में शान्ति से सिर रखकर वह अपने प्राण त्याग देता है। 'मानो सारे विश्व का सुख इसी गोद मे छिपा हुआ था। इतने दिनों के बाद सुरेन्द्रनाथ ने आज वह सुख खोज निकाला है।'

देवदास की कथा से, बोलपट के कारण, सभी परिचित हैं। जमीदार का लडका है, तम्बाकू पीने का अभ्यास भी बचपन से है। पार्वती देवदास से प्रेम करती है; परन्तु देवदास अनिश्चित है। पार्वती का ब्याह एक दूसरे लड़के से होने वाला है परन्तु वह स्वय साहस करके रात को एकात मे देवदास के पास जाती है। देवदास चिंतित हो उठता है—वह न जाने किसलिए आई है। पार्वती की लज्जा की कल्पना करके देवदास स्वय लज्जित हो उठता है। परन्तु प्रेम-निवेदन का कार्य तो पुरुष के बॉटे ही नही पड़ा; शरत् बाबू के उपन्यासो मे विवश होकर उसे स्त्रियो को करना पडता है। पार्वती उसके चरणों में आश्रय चाहती है; परन्तु देवदास कातर होकर पूछता है—'क्या मेरे सिवा तुम्हारे लिए और कोई उपाय नही है?' माता पिता का आज्ञाकारी पुत्र देवदास कलकत्ते चला जाता है। वहॉ से वह पार्वती को पत्र लिखता है कि उसने पार्वती को कभी अधिक प्यार नही किया। पार्वती को ही क्या, और किसी को भी उसने कभी अधिक प्यार किया है? वही श्रीकात वाली परिस्थिति है—प्रेम है भी और नही भी। पार्वती का विवाह हो जाता है और देवदास चन्द्रमुखी के यहॉ दारू पिया करता है। आधी सम्पत्ति वह यो ही उडा देता है। राजलक्ष्मी की भॉति चद्रमुखी भी वेश्यावृत्ति त्यागकर वैराग्य-सा ले लेती है। देवदास अपने को पार्वती और चन्द्रमुखी दोनो से दूर रखता है; परन्तु चन्द्रमुखी एक दिन सडक पर औंधे पड़े देवदास को अपने यहॉ ले आती है। कलेजे में दर्द और ज्वर हो आता है और चन्द्रमुखी उसकी परिचर्या करती है। चन्द्रमुखी को छोड़कर देवदास देश के अनेक नगरो में घूमता है

और अन्त में अत्यन्त अस्वस्थ होकर वह पार्वती के गाँव की तरफ चलता है। गाँव पहुँचने के पहले ही उसकी मृत्यु हो जाती है।

'काशीनाथ' का जैसे विवाह होता है, वह सूखने लगता है। कोई स्त्री उसे पहचाने, यह कितना कठिन है—वह जानता है। उसकी स्त्री उसे छोड़कर चली जाती है और तब काशीनाथ के अस्वस्थ होने पर 'बहन' बिंदुवासिनी उसकी परिचर्या को आ उपस्थित होती है। 'अनुपमा का प्रेम' देवदास की कथा की भाँति है। अनुपमा का विवाह एक बूढ़े के साथ होता है। वह विधवा हो जाती है और अन्त में शराबी ललित उसे आत्महत्या करने से बचाता है। 'दर्पचूर्ण' में काशीनाथ वाली समस्या है। धनी घर की इंदु से निर्धन नरेन्द्र का विवाह हो जाता है। पति-पत्नी में बनती नहीं है। नरेन्द्र की छाती में दर्द होता है और बहन विमला सेवा के लिए आ जाती है। नरेन्द्र उपन्यासकार भी है। 'तस्वीर' बर्मा देश की उस समय की कहानी है, जब वहाँ अंग्रेज नहीं आये थे परन्तु घटनाएँ और पात्र नयी तरह के हैं। बाथिन चित्रकार और धनी युवती माशोये में प्रेम है। प्रेम की अतृप्ति में माशोये उससे घृणा करने लगती है और उस पर रुपयों की नालिश कर देती है। वह सर्वस्व बेचकर ज्वर से पीडित रुपये लेकर उसके सामने आता है। माशोये उसे अपने कमरे में सुला देती है और उसकी परिचर्या करने लगती है।

'गृहदाह' के महिम को अचला अपनी अँगूठी पहना देती है; परन्तु महिम बाबू उसके बाप के सामने पूछते है, 'क्या तुम अपनी अँगूठी वापिस चाहती हो ?' अचला सुरेश कसाई से उसे बचाने की प्रार्थना करती है; महिम बचा तो लेता है परन्तु अचला को फिर उसी कसाई की शरण में जाना पड़ता है और सुरेश के पास से फिर महिम के पास। स्थायी आश्रय दोनों में से एक भी उसे नहीं दे सकता। महिम जब बीमार पड़ता है तब उसके गाँव की एक

बहन मृणाल, जो अब विधवा हो गई है, उसकी देख-भाल करती है। सुरेश धोखे से अचला को महिम से अलग करके अपने साथ एक दूसरे स्थान पर ले आता है। यहाँ सुरेश को बुखार आता है और अचला उसकी सेवा करती है। मृणाल जो महिम के लिए है वही अचला सुरेश के लिए। दोनों ही नारियाँ पति से इतर प्राणियों को अपनी सेवा अर्पित करती हैं। कदाचित् पति से निराश होने वाली ऐसी नारियों को इन इतर पुरुषों से कुछ आशा रहती है—सेवा उस आशा का दीपक जलाये रखती है, परन्तु एक दिन वह भी बुझ जाता है। राजलक्ष्मी की भाँति वे अपने श्रीकान्त को नहीं पा सकतीं। सुरेश की भी छाती मे दर्द होता है; फ्लैनल गरम करके अचला उसकी छाती सेकती है और सुरेश फ्लैनल सहित उसका हाथ अपनी छाती पर दबा लेता है। फिर बाहों मे जकड़कर उसका मुँह भी चूमता है। परन्तु अचला क्रोध नही करती; थोडी बातचीत के उपरान्त वह अपने कमरे मे चली जाती है। शायद वह समझती है कि शिशु की भाँति सुरेश के चुम्बन भी निर्दोष है। सुरेश जिसे भगाकर लाया था, अब उसी से छुटकारा पाने की सोचता है। कातर होकर अचला पूछती है—"अब क्या तुम मुझे प्यार नही करते?" एक दिन अकस्मात् महिम से भेट हो जाती है और अचला को मूर्च्छा आती है। सुरेश की प्लेग मे मृत्यु होती है, मृत्यु के समय अचला उसके साथ होती है। अचला अब महिम के आसरे है; परन्तु वह उसे ग्रहण नही करता और अन्त मे एक स्त्री ही उसे आश्रय देती है। मृणाल उसे अपने साथ ले जाती है।

श्रीकान्त की कहानी के कुछ महत्वपूर्ण अशो का उभरा हुआ चित्रण 'चरित्रहीन' मे है। जमीदार के आवारा और आलसी लड़के का नाम इस बार सतीश है। वह अपने मित्रो मे शराब आदि का सेवन भी प्रथानुसार करता है। उसकी अभिभाविका का नाम सावित्री

है। वह विधवा होने के बाद अपने प्रेमी द्वारा परित्यक्ता है। अब उसकी सेवापरायणता सतीश मे केन्द्रित है। सावित्री को बड़े भयानक रूप मे मिर्गी का दौरा आया करता है। पारस्परिक ईर्ष्या और सन्देह के कारण सावित्री और सतीश बिछुड़ जाते हैं। एक बाबा के साथ सतीश का गाँजा शराब का सेवन बहुत बढ़ जाता है। और जब वह अत्यन्त अस्वस्थ हो उठता है तब उसका नौकर सावित्री को खोज ले आता है। सुशील लडके की तरह सतीश सावित्री का कहना करता है और ज्वर में वही उसकी सेवा करती है।

सावित्री और सतीश के चरित्र-चित्रण को फीका करनेवाला एक दूसरा चरित्र इसमे किरण का है। नारी की विवशता, खिन्नता, व्याकुलता, उसकी विक्षिप्तता, अतृप्त वासना की पीडा—इस सारी नारकीय यातना को उसके विकृततम रूप मे शरत् बाबू ने किरण में चित्रित किया है। उसके स्वामी जन्म-नीरस थे। उसे दर्शन शास्त्र पढाते थे। (पति-पत्नी के स्थान पर गुरु-शिष्या का सम्बन्ध अन्य उपन्यासो मे भी मिलेगा।) पति की बीमारी मे ही वह डा० अनग से अपनी प्रेम की प्यास बुझाती है। उपेन्द्र को देखकर उसकी सारी वासना उसी ओर खिंच जाती है। उपेन्द्र की दशा श्रीकान्त जैसी है। किरण उसे बलपूर्वक रोकना चाहती है, कहती है, 'पुरुष को इतनी लज्जा नही सोहती।' परन्तु शरत् बाबू के उपन्यासों मे लज्जा पुरुषों का भूषण है। उपेन्द्र उससे किसी प्रकार पीछा छुड़ा लेता है। बैरागी सतीश को वह भाई मानती है; उससे कभी उसने कोई आशा नही रखी। उसकी वासना का दूसरा केन्द्र दिवाकर बनता है। दिवाकर जब उसके अश्लील परिहास से सिहर उठता है, तब वह कहती है कि लजाने की कोई बात नही, यह तो देवर-भाभी का स्वाभाविक सम्बन्ध है। अन्त में किरण दिवाकर को बर्मा ले चलती है। नारी पुरुष को घर से निकाल लाती है (श्रीकान्त में अभया

भी रोहिणी सिंह को इसी भाँति निकाल कर बर्मा ले जाती है।) जहाज पर जब वह दिवाकर से पूछती है, क्या मुझे प्यार करते हो तो दिवाकर रोने लगता है। इसके पश्चात् जिस दृश्य का वर्णन है, उसका उल्लेख अनावश्यक है। अपनी वीभत्सता और भोंडेपन में वह अद्वितीय है।

दिवाकर का ब्रह्मचर्य नष्ट करने पर किरण को खेद होता है,—उस खेद की ऐसी प्रतिक्रिया होती है कि बर्मा मे एक साथ छः महीने रहने पर भी, दिवाकर से मार खाने पर भी, उसके बार-बार प्रेम-निवेदन करने पर भी, किरण उसे पास नही फटकने देती। सतीश किरण और दिवाकर को ले जाता है; किरण पागल हो जाती है और अत मे उसकी निर्बलता उसकी अतृप्ति को नष्ट कर देती है। पुरुष को न पाकर वह भगवान् को पा जाती है। किरण की कहानी पुरुष को पुरुषार्थहीनता की कहानी है; श्रीकान्त को कहानी की अपेक्षा उसमे अधिक कडुवापन है।

(३)

'पथ के दावेदार' शरत् बाबू का राजनीतिक उपन्यास माना जाता है; उसमे राजनीतिक समस्याओं पर बहुत-सा वाद-विवाद भी है। परन्तु उसके मुख्य पात्र अपूर्व और सव्यसाची वही पुराने श्रीकान्त और वज्रानन्द, सतीश और उपेन्द्र आदि ही है। अपूर्व मे श्रीकात की अनिश्चितता है और सव्यसाची मे वज्रानन्द की दृढता और कर्तव्यपरायणता है। सव्यसाची और वज्रानन्द श्रीकान्त से भिन्न नहीं हैं। जो कुछ श्रीकान्त होना चाहता है और है नही, उसी का चित्रण इन विरागियो सन्यासियों मे किया गया है।

अपूर्व तथा उसके साथियों मे विदेशी शासन के प्रति जिस प्रकार घृणा उत्पन्न होती है, उससे उनका बचकानापन और उनके

मस्तिष्क की अपरिपक्वता स्पष्ट झलकती है। अपूर्व को भी दिवाकर आदि की भाँति यात्रा करनी पड़ती है। उसके कमरे के ऊपर लकड़ी की छत से एक देशी ईसाई साहब पानी डालता है और यहीं से अपूर्व के विद्रोह का सूत्रपात होता है। ईसाइयो को वह शासकवर्ग के साथ सम्मिलित करके शासकों के प्रति घृणा से जल उठता है। अपूर्व एक पार्क मे गोरा को बेंचपर बैठ जाता है, कुछ गोरे आकर उसे ठोकर मारकर निकाल देने है। वह उन्हे मारता बहुत—वह कसरती जवान है—परन्तु लोगों ने पकड़ लिया। वह स्टेशन मास्टर से अपना दुख कहता है और पीठ पर बूट का दाग दिखाता है। स्टेशन मास्टर चपरासी को उसे निकाल देने की आज्ञा देता है। इस बार स्टेशन मास्टर के सामने उसे पकडने-वाला कोई नही था; परन्तु सौभाग्य से उसे क्रोध आया ही नहीं।

क्रातिकारी सत्यसाची मल्लिक को देखिये। "वह खाँसते-खाँसते सामने आया। उम्र तीस-बत्तीस से ज्यादा न होगी, दुबला-पतला कमज़ोर आदमी था। ज़रा-सी खाँसी के परिश्रम से ही वह हाँफने लगा। देखने से यह नही मालूम होता था कि उसकी समार की मियाद ज्यादा दिन बाकी है,—भीतर के किसी एक दुर्निवार रोग से जैसे उसका सारा शरीर तेजी से क्षय की तरफ दौड़ रहा है।" देवदास पर भी ये शब्द लागू होते हैं। केवल देवदास से भिन्न इस व्यक्ति मे असाधारण मानसिक दृढता ही नही, उसकी सूखी हड्डियों में दानव का-सा अपार बल भी है। देवदास यदि अपना एक आदर्श चित्र खींचे तो वह सव्यसाची का हो। सव्यसाची के अँगूठे में गाँजा बनाने का दाग भी हैं। आदर्श चित्र होने के कारण उसे एक स्थान पर 'अतिमानव' कहा गया है।

सव्यसाची के क्रातिकारी बनने का इतिहास मनोरञ्जक है। उसके चचेरे भाई को डाकुओ ने मार डाला था; भाई बंदूक

चाहता था, परन्तु मजिस्ट्रेट ने नही दी, इसलिए भाई अग्रेजों से बदला लेने का उसे सदेश दे गया। यही उसके क्रातिकारी जीवन का रहस्य है। सव्यसाची की अति मानवता उभारने के लिए शरत् बाबू ने अनेक उपायों से काम लिया है। उसके साथी उस पर अगाध श्रद्धा रखते हैं और भारती की श्रद्धा कविता मे फूट कर बहा करती है। देश-विदेश मे वह घुमाया गया है, सनयातसेन जैसे व्यक्तियों से मिला है ; उसके व्यक्तित्व को रोमाटिक बनाने मे कोई कसर नही रखी गई। उसे देखकर एक मनुष्य की जिज्ञासा सहज ही सजग हो उठती है। चारों ओर भय और विपद् का वातावरण उसे और आकर्षक बना देता है। समाज से भी उसे सहानुभूति नही मिलती ; आत्माहुति के लिये उसे घृणा मिलती है। एक ओर वह है, दूसरी ओर ससार है। बायरनिक हीरो के अनेक गुण उसमे विद्यमान है। वह समिति का नेता है और उसके शब्द ही नियम हैं। बहुमत अपूर्व को दड देने के पक्ष मे है ; परन्तु वह उसे क्षमा करता है और विरोधी बहुमत उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकता। उसके साथी समझते हैं कि वह सब जानता है, सब कर सकता है। उसकी विद्या, पाडित्य, बल, बुद्धि सब अगाध है।

एक व्यक्ति को अतिमानव के रूप मे चित्रित करने का कारण शरच्चन्द का मध्यवर्गीय व्यक्तिवाद ही है। सव्यसाची किसानो और मजूरों के आन्दोलन मे विश्वास नहीं करता ; उसका विश्वास मध्यवर्ग की क्रान्ति में है। वह शराबी शशि से मध्यवर्ग की क्रान्ति के गीत गाने को कहता है। (जैसा कवि है, वैसी ही क्रान्ति भी होगी।) वह समझता है कि शिक्षित भद्र जाति सर्वाधिक लांछित है। वह वर्गसघर्ष से भय खाता है। वह मजूरों मे जाता है तो क्रान्ति का विष फैलाने के लिए—मध्यवर्ग की क्रान्ति का विष फैलाने के लिए। शायद वह समझता है कि मध्यवर्ग की क्रान्ति में

मजूरों से महत्वपूर्ण सहायता मिल - -) है। और अन्त मे कड़कती बिजली और बरसते पानी मे सव्यसा [illegible] र के लिए पैदल चल देता है। पास ही कही बिजली गिरती है और बिजली की आभा में उसके साथियों को उसका अन्तिम दर्शन कराया जाता है।

शरत् बाबू ने बर्मा के कुलियो की झाँकी "चरित्रहीन" में दी है। थोड़ी-सी पूँजी को कल्पना के सहारे बढ़ाकर उन्होंने "पथ के दावेदार" मे कुलियों का चित्रण किया है। कुलियो मे जिस वीभत्स अनाचार और व्यभिचार-प्रियता के दर्शन होते हैं, उससे सव्यसाची का मध्यवर्ग की क्रान्ति मे विश्वास उचित जँचने लगता है। बर्मा कुली यदि अनोखे नही हैं, और उनमे देश के अन्य कुलियों की वर्ग-गत विशेषताओ का अभाव नही है तो कहना पडेगा कि उनका चित्रण एकागी है। फिर मध्यवर्ग के जो नमूने शरत् बाबू ने अपने उपन्यासो मे रखे हैं, उनसे कौन-सी क्रान्ति की सम्भावना पैदा होती है? वे सारा भार स्त्रियो को देकर वैराग्य ले ले, तो एक क्रान्ति भले हो जाय। 'पथ के दावेदार' मे अपूर्व का चरित्र ही लीजिये। प्रेम का वही पुराना व्यापार यहाँ भी है। अपूर्व की निरुपायता पर भारती मुग्ध होती है; एकात कमरे मे भारती के साथ अपूर्व की कपट-निद्रा का अभिनय भी होता है। अपूर्व सन्यासी हो जाता, परन्तु माँ के कारण नही होता। जब माँ नही रहती, तो शायद भारती के कारण सन्यास नही लेता। अपूर्व जब देश लौटता है तब भारती की मर्मवेदना के वही पुराने चित्र देखने को मिलते हैं। सव्यसाची भी भारती की ओर खिंचता है, उसे बहन, जीजी, माँ कहता है। भारती ने जीवन मे जो सन्तोष पाया—जीजी, माँ, बहन बनकर—वह उसके एक वाक्य मे ध्वनित है—'यदि भ्रमर मे मधुसचय करने की शक्ति नही, इसके लिए लड़ा किससे जाय?' वह और आगे बढकर सव्यसाची से कहती है—'अच्छा भइया, मैं अगर तुम्हारी

सुमित्रा होती, तो क्या तुम मुझे भी इसी तरह छोड़कर चले जाते ?' परन्तु सव्यसाची का हृदय पत्थर का है, वह सुमित्रा, भारती सभी को छोड़कर जा सकता है ; नारी जाति का शरत् के पुरुषों के प्रति यह वही पुराना अभियोग है। सव्यसाची भारती को सावधान कर देता है। 'भारती, अब मुझे तुम अपनी ओर मत खींचो।' और भारती रोती हुई साँस छोड़ स्तब्ध बैठी रहती है। भारती न अपूर्व को पा सकती है, न सव्यसाची को, जैसे राजलक्ष्मी न श्रीकान्त को रोक सकती है, न वज्रानन्द को। केवल रोना ही भारती के हाथ आता है। रोने का व्यापार शरत् बाबू के उपन्यासों में चिरन्तन है। जितने आँसू उनकी नारियाँ गिराती हैं, एकत्र होने पर उनसे एक ताल भर जाय। रोना, रोना और फिर रोना,—मिले तो रोना, बिछुड़े तो रोना। राजलक्ष्मी ने झूठ नहीं कहा था—'तुमने मेरी आँखों से जितना पानी बहवाया है, सौभाग्य से सूर्यदेव ने उसे सुखा दिया है', नहीं तो आँखों के जल से एक तालाब भर जाता। शरत् बाबू के नायकों की पुरुषार्थ-हीनता इस अश्रुव्यापार से यत्किंचत् तृप्ति लाभ करती है।

शरच्चन्द्र के पात्रों की जो विशेषताएँ है, उनके बार-बार दोहराये जाने से उनके उपन्यासों में एकरसता आ जाना स्वाभाविक है। उनके उपन्यास घटना-प्रधान नहीं हैं; कुछ विशेष परिस्थितियाँ प्रस्तुत की जाती है जिनसे पात्रों में एक विशेष कोटि के मनोभावों की सृष्टि होती है। इन मनोभावों को चित्रित करना ही शरत् बाबू का ध्येय है। पात्रों की समानता के साथ उनके मनोभावों में समानता है ; समान परिस्थितियों में जो कविता फूटती है, वह भी समान है। उनके पात्रों की पुरुषार्थ-हीनता से नारी के नयन अश्रुनिर्झर बन जाते हैं; इस अश्रुव्यापार को उपन्यासों से निकाल दीजिये, तो उनकी जान निकल जायगी। घटनाओं का उचित संगठन शरत्

बाबू के उपन्यासों मे नहीं है; जैसे उनके नायक लक्ष्यहीन हैं, वैसे ही घटनाये भी एक लक्ष्यहीनता के साथ, बिना क्रम के घटती सी जान पड़ती है। श्रीकात की तो भ्रमण-कहानी है ही, 'चरित्रहीन' मे भी अलग-अलग अनेक कथानक हैं और कथा का विकास अच्छा नही हो पाया। 'चरित्रहीन' की एक महत्वपूर्ण कथा किरण की है; परन्तु उसका उपन्यास के नायक सतीश से कोई विशेष सम्बन्ध नही है। उनके छोटे उपन्यास अधिक सुगठित है, परन्तु इनकी चित्र-भूमि इतनी सकुचित है कि ये न कहानियाँ रह जाते हैं और न उपन्यास।

शरत् बाबू के उपन्यासों को रस लेकर वही पढ सकता है जिसे प्रेम के अश्रुव्यापार मे विशेष आनद आता है। समाज के आवारों, निकम्मों, अतृप्त आकाक्षाओंवाले व्यक्तियों को शरत् बाबू से पर्याप्त सहानुभूति मिलती है; उपन्यास के नायकों में अपनी छाप देखकर वे गद्गद् हो उठते हैं; परन्तु समाज की प्राणशक्ति, उसके विकास की प्रेरक शक्ति इस व्यापार की विरोधिनी है; शरत् बाबू उससे दूर हैं। उनके पास अपने आपको नष्ट करनेवाली शक्ति है परन्तु सृजन की, विकास की शक्ति नही है। उनके नायक अपनी प्राणघातक वृत्तियों से त्रस्त होकर नारी के आँचल की छाया ढूँढते हैं; सव्यसाची भी अपवाद नहीं है। 'अब भी ऐसे लड़के इस देश में पैदा होते हैं भारती, नही तो बाकी जिन्दगी तुम्हारे आँचल के नीचे छिपे-छिपे बिता देने को राज़ी हो जाता!' आँचल की छाया या संसार मे सेवा कर्म,—जीवन-यापन के ये दो मार्ग हैं। आँचल की छाया मे प्राणघातक वृत्तियों से रक्षा नहीं होती; आँचलवाली स्वय शक्ति नहीं है, वह स्वय आश्रय चाहती है, वह स्वय मूर्च्छा क रोग से पीडित है। सेवा मार्ग बहुधा आँचल मे आश्रय न मिलने की प्रतिक्रिया होता है। गृहदाह में सुरेश को देखिये;

जब भी अचला से प्रेम नहीं पाता, अथवा निकट रहकर भागना चाहता है, वह एक विक्षिप्त की भाँति प्लेग हैजे मे जाकर लोगों की सेवा करने लगता है। सतीश के औषधालय का भी यही रहस्य है। सव्यसाची, सुमित्रा और ब्रजेन्द्र की कहानी भी कुछ इसी प्रकार की है। शरत् बाबू के नायकों की लोक-सेवा में एक प्रकार की विक्षिप्तता है; अपने से बच निकलने की आकांक्षा है। लोकसेवा अथवा आवारापन दोना का ही उद्‌गम पुरुष की नारी के समीप असमर्थता है। इसी कारण उस सेवा के पीछे देशभक्ति और सामाजिक आदर्श नही है। वह अपनी प्राणघातक वृत्तियों से बचने की, एक आश्रय की, चाह है।

शरत् बाबू के पात्रों को बहुधा ईश्वर पर विश्वास नहीं होता,—श्रीकान्त की अभया को, चरित्रहीन की किरण को, गृहदाह के सुरेश को; परन्तु वे समाज के पुरातन आदर्शों पर भक्ति रखते हैं। किरण किसी से हार मानती है तो महाभारत मे अन्ध विश्वास रखनेवाली सुरबाला से। इसका कारण यह है कि उनके नायक-नायिकाओ का समाज के प्रति विद्रोह एक प्रकार की उछृङ्खलता है; उसमे रचानात्मक कुछ भी नहीं है। इसलिये जिन सामाजिक आदर्शों का खोखलापन दिखाया गया है, उन्ही मे अन्ध भक्ति भी प्रदर्शित की गई है।

शरत् बाबू की व्यक्तिगत चारित्रिक विशेषताएँ एक ध्वस्त होती हुई भद्रलोक की, "पर्मानेट सेटलमेट" की सभ्यता से मेल खा गई थी; दोनों मे ही साघातिक कीटाणु अपना ध्वंसकारी कार्य पूरा कर रहे थे। यही उनकी लोकप्रियता का कारण हुआ। परन्तु युग की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले प्रसारकामी भारतीय साहित्य को देने के लिये उनके पास रचनात्मक कुछ भी नहीं है। वर्ग-संघर्ष

नज़रुल इस्लाम

रवींद्रनाथ ठाकुर के नाम के बाद हिंदीभाषा बॅगला कवियों में नजरुल इस्लाम के नाम से ही अधिक परिचित हैं। उनके 'विद्रोही' की आरभ की पक्तियाँ,

'बल बीर,

बल-उन्नत मम शिर !

शिर नेहारि आमारि, नतशिर ओइ शिखर हिमाद्रिर !'

पूरी कविता पढने के पहले ही कई बार सुनने को मिली थीं और बगाल मे शायद ही कोई शिक्षित व्यक्ति हो जो उनसे अपरिचित हो। इस गीत की लोकप्रियता का कारण यही था कि उसमे बगाल के आतकवादी चरित्र को एक अभीष्ट व्यजना मिली थी। इस भावुकता का सबन्ध उस रहस्यवाद से न था जिसकी एकात साधना रवींद्रनाथ की गीताजलि मे स्फुरति हुई है; उस प्रेम की भावुकता से भी नहीं जो बॅगला रेकार्डों मे सुनने को मिलती है, यद्यपि नजरुल इस्लाम का इन दोनों से भी यथेष्ट सबंध रहा है, वरन् यह वह भावुकता है जो बगाल के विप्लवकारियों के त्याग, निष्ठा और सेवापरायणता मे प्रकट हुई थी। बॅगला साहित्य मे, जहाँ एक ओर प्रेमियों का करुण रुदन और गरम उसाँसे हैं, वहाँ दूसरी ओर त्याग की उनकी उदात्त भावना भी है जो प्राण देने से भी तृप्त नहीं होती। भद्रलोक के चरित्र की ये दोनों विशेषताएँ कवि नजरुल मे हैं; इसके साथ ही उनका मुसलमान होना भी उनकी कविता मे पूर्ण रूप से प्रकट है। उनका मुसलमानपन उनके साहित्यिक व्यक्तित्व का एक अनिवार्य अग है और उसके बिना

उनकी कविता कल्पना मे भी नहीं आ सकती। यद्यपि उन्होंने हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सभी की धार्मिक गाथाओं से अपने प्रतीक चुने हैं, और हिंदू गाथाओ से सब से अधिक, फिर भी इनको उपयोग मे लाने वाला उनका एक अहिंदू मुसलमानपन है, जो उन्हे बगाल के अन्य कवियो से अलग रखता है। प्रतीको मे ही नहीं, अपनी भाषा भी कवि ने बहुत कुछ आप गढी है, जो बगाल के साधारण जनों की, वहाँ के मुसलमानों की भी, भाषा से भिन्न है। उर्दू के नए वृत्तो का बॅगला मे उन्होने प्रयोग किया है जैसे माइकेल मधुसूदन-दत्त ने अग्रेजी के रूपो को अपनाया था। नजरुल इस्लाम की श्रेष्ठ कविता मे हिंदू और मुसलमान सस्कृतियो का विचित्र सम्मिश्रण है और इसलिए बगाल के कवियों मे उनका अपना एक स्थान अलग और निराला है।

अपनी इस एक विचित्रता के होते हुए भी नजरुल जनसमुदाय के कवि हैं जिस प्रकार बगाल का कोई और सामयिक कवि नही है और जनसमुदाय मे भी वह युवको के और युवको मे छात्रवर्ग के कवि हैं। भावुक युवकों मे जो असहिष्णु उद्वेग और प्राणदान करके शीघ्र से शीघ्र कार्य समाप्त करने की आकाक्षा रहती है, उसे कवि ने भली भॉति अपनी कविता मे व्यक्त किया है। 'छात्रदलेर गान' मे स्वभावतः उसी भावुकता को स्थान मिला है, जिसके लिए 'विद्रोही' प्रसिद्ध है। भूल करने के लिए, प्राणदान करने के लिए, यहाँ तीव्र पिपासा है, आखिर युगो से बुद्धिमान लोग अपनी राजनीति बघारते आ रहे है, कब तक उनका आसरा देखा जाय। 'छात्रदलेर गान' मे यही असहिष्णुता है, किसी भी प्रकार लक्ष्यसिद्धि की कामना; जीवन की सार्थकता, यौवन की सपूर्णता इसमे है कि अपना रक्त बहाकर लक्ष्य को दूसरों के लिए सुलभ कर दिया जाय।

'सबाइ जखन बुद्धि जोगाय
आमरा करि भुल।
सावधानीरा बाँध बाँधे सब
आमरा भाँङि कूल।
दारुन राते आमरा तरुन
रक्ते करि पथ पिछल।
आमरा छात्रदल ॥'

रक्त से पथ पिच्छल करने की भावना नजरुल मे सर्वत्र विद्यमान है और इसीलिए उनके विद्रोह मे भूल करना, विचार के आगे भावना को श्रेय देना अनिवार्य है। 'विद्रोही' मे अनेक उपमानों द्वारा उन्होने यही उच्छृंखल विद्रोह व्यजित किया है। युवक के लिए कर्म नशा है; किसके लिए हम जूझ रहे है, जूझने पर उसका क्या परिणाम होगा, इन सब बातों की उतनी चिंता नही है। इसीलिए यह विद्रोही 'दुर्विनीत' 'नृशस' 'उच्छृंखल' 'महामारी' आदि भी है; उसे ध्वंस से अधिक मोह है, सृजन से कम। शाति का परिचय जो नाश मे मिलता है वह सृष्टि मे नही, और सृष्टि के लिए जो धैर्य चाहिए उसके लिए फ़ुर्सत किसे है? इसीलिए नजरुल की कविता की तह मे जो जीवन दर्शन मिलता हे वह अराजकता की ओर ले जानेवाला है, और ऐसी अराजकता, जैसा कि नेता लोग बार-बार समझा चुके हैं, जो किसी जाति के राजनीतिक जीवन के बचपन को सूचित करती है। नजरुल की कविता युवकों की ही कविता नहीं, वह बगाल के राजनीतिक जीवन के यौवन को कविता है। फिर भी वह विकासपथ की एक मजिल है और इसके बाद वह कविता आनी चाहिए जो विचारो से अधिक पूर्ण, भावुकता की मात्रा कम करती हुई युग की प्रमुख क्रातिकारी वृत्तियों को व्यजित कर सके।

'साम्यवादी' 'ईश्वर' 'मानुष' 'नारी' 'कुलि मजुर' आदि नजरुल

की अन्य कविताएँ हैं जहाँ साम्यवाद के आधुनिक विचारो का प्रतिपादन किया गया है, परतु इनमे कवि की प्रतिभा का स्फुरण नही हो पाया। विचार को गरिमा भी इनमे नही है जो इन्हे साधारणता की सतह से ऊपर उठाकर कविता का रूप देती। इसका कारण यह है कि नजरुल के कवि को अराजकता से सहज सहानुभूति है, लिखने को वह साम्यवाद पर भी कविताएँ लिखता है, परतु यहा उद्भ्राति, उद्वेग, रक्तपात की गुजाइश कम है। उसकी भावुकता ठढी ही पड़ी रहती है; सिद्धात उसमे लौ नही उठा सकते।

नजरुल की प्रेम सबधी कविताओं मे एक निराश प्रेमी का चित्र हमे मिलता है जो पहले पहल उद्धत विद्रोही के चित्र से बिल्कुल उलटा जान पड़ता है, जब तक हम यह नही समझते कि इस निराश प्रेम के कारण ही वह विद्रोह इतना उद्धत दिखाई देता था।

'विद्रोही' के कुछ उपमान चित्र पहले विचित्र मालूम होते हैं। वह कुमारी की बधन-हीन वेणी है, षोडशी के हृदयकमल का उद्दाम प्रेम है, कुमारी का प्रथम थर-थर स्पर्श है आदि। साथ ही वह उदासी से उन्मन मन है, पथिक की वचित व्यथा है, अभिमानी हृदय की कातरता भी है। और कविता के इसो बद के अत मे वह कहता है,

'आमि तुरीयानन्दे छुटे चलि ए कि उन्माद, आमि उन्माद !
आमि सहसा आमारे चिनेछि, आमार खुलिया गियाछे सब बाँध !'

वञ्चित की व्यथा और कातरता इस तुरीयानन्द और उन्माद को प्रेरणा देती है, इसीलिए मर मिटने की साध सबसे आगे है। बिना मिटे अभिमानी हृदय की वह व्यथा मिट नही सकती। 'अभिशाप' मे कवि अपनी प्रिया से कहता है कि वह उसका मूल्य उसकी मृत्यु के बाद ही पहचान सकेगी और तब व्यर्थ ही उसकी याद करके आँसू बहाएगी। मरु, कानन, गिरि वह खोजेगी परतु

अपने प्रेमी को वह तब न पा सकेगी। 'व्यथा-निशीथ' मे वह अपनी वेदना छिपा न सकने के कारण अकेले बिस्तर पर पडा आँसू बहाता है।

'मम व्यर्थ जीवन-वेदना
एइ निशीथे लुकाते नारि।
ताइ गोपने एकाकी शयने
शुधु नयने उथले बारि।'

हिंदी की कुछ कहानियों मे जहाँ क्रातिकारियो का जीवन अंकित किया गया है, बहुधा निराश प्रेम का भी उल्लेख किया गया है। नजरुल इस्लाम की कविताओं मे यह निराश प्रेम पहले एक बाहरी वस्तु सा मालूम होता है, वास्तव मे अराजक विद्रोही और निराश प्रेमी दोनों एक ही व्यक्तित्व के अंग हैं।

बॅगला का आधुनिक काव्ययुग रवीद्रनाथ का युग है। शायद ही किसी कवि पर उनका प्रभाव न पड़ा हो, यह प्रभाव नजरुल इस्लाम पर भी पड़ा है। रहस्यवाद को नजरुल ने कही-कहीं अपनी प्रतिभा से अराजक बना दिया है जैसे 'आज सृष्टि सुखेर उल्लासे' मे हँसी, रोना, मुक्ति और बन्धन सब साथ ही साथ आते हैं। अन्यत्र, दूर के बन्धु का स्वर सुनने मे कवि का आवेग मद पड़ जाता है और कविता निर्जीव सी रह जाती है। 'दूरेर बधु' मे जब कवि पूछता है,

'बधु आमार! थेके थेके कोन सुदुरेर निजन पुरे
डाक दिये जाओ व्यथार सुरे?'

तब वह अपने विद्रोही व्यक्तित्व की वास्तविकता से दूर रूढ़ि का अनुक्रमण करता ही रह जाता है।

वृत्तों में, छदों के गठन में, कविता की विभिन्न व्यजनाप्रणालियों में नज़रुल इस्लाम ने नए नए प्रयोग किए हैं। यह प्रसिद्ध है कि बॅगला में उन्होंने उर्दू की ग़ज़लों का प्रचार किया है। उनके

गीत रिकार्डों मे भी लोकप्रिय हुए हैं। गीतों में थोडा-सा विदेशीपन का भले आकर्षण हो, परतु अन्य बगाली गीतो से उनमे कोई विशेष मौलिकता नही है। इनका विषय अधिकतर निराश प्रेम है, केवल गुल और बुलबुल का यत्र तत्र अधिक समावेश हुआ है। पहले की कविताओं मे उपमान-चित्रों का जो निरालापन है, वह उर्दू के रूढिचित्रो के चुलबुलेपन मे खो गया है। 'सिन्धु' शीर्षक कविता उन्होने ओड के रूप मे लिखी हैं, इसका रूप कुछ कुछ रवींद्रनाथ के 'वैशाख' 'शाहजहाँ' आदि से मिलता है। अपनी भावुकता को समेटकर कवि ने उसे एक सयमित साँचे मे ढालने की कोशिश की है परतु उस साँचे का दर्शन करते ही वह भावुकता न जाने कहाँ काफूर हो जाती है। न छोटे छोटे गीतो मे, न लबी कविताओं मे, प्रत्युत् कोरसो मे, लिरिक कविताओं मे नजरुल इस्लाम को सर्वाधिक सफलता मिली है। 'विद्रोही' लबी कविता है और कुछ अशों को छोडकर पूर्ण सफल नहीं कही जा सकती। कवि के लिए अधिक विस्तार होने से उसकी भावुकता का दम भर जाना है; सकोच होने पर उसके पर भी नही फैल पाते। कविता इतनी लबी हो कि उठान के साथ आवेग का पतन हुए बिना वह अत तक निभ जाय, जैसे 'छात्रदलेर गान' अथवा 'बिदाय बेलाय'। नजरुल की कविताओं का प्रारभ बहुधा बड़ा ही प्राभावोत्पादक होता है, इतना कि अत तक उस प्रभाव को निभाना कठिन होता है। इनके प्रारभ मे किसी चित्र या भाव का अचानक कवि को चचल कर देना खूब व्यजित रहता है। 'सध्यातारा' का आरम्भ इसी प्रकार है :—

'घोमटापरा कादेर घरेर बउ तुमि भाई सध्यातारा ?
तोमार चोखेर दृष्टि जागे हरानो कोन मुखेर पारा ॥'

इसी तरह 'आज सृष्टि-सुखेर उल्लासे' मे,

'आज सृष्टि-सुखेर उल्लासे

मोर मुख हासे मोर चोख हासे मोर टगबगिये खुन् हासे
आज सृष्टि-सुखेर उल्लासे ।'

नज़रुल के अनेक गीतो की विशेपता यह है कि वे एक से अधिक व्यक्तियों द्वारा गाये जाने के लिये हैं, उनका संबंध प्रिय और प्रिया के ही कानो से नही है । बॅगला मे ऐसे गीतो की कमी नही है जिनमें प्रेमी प्रेमिका ही प्रधान हैं और नजरुल इस्लाम ने स्वय उनकी सख्या वृद्धि की है । अत. इन कोरस गीतो की अपनी एक अलग महत्ता है । 'छात्रदलेर गान' 'चल् चल् चल्' आदि इसके उदाहरण हैं । कमालपाशा वाली कविता मे सैनिको का लेफ्ट राइट, लेफ्ट राइट, हुर्रे बोलना, उनका विजयल्लसा आदि भी अंकित किया गया है । सर्वत्र समान सफलता कवि को नही मिली; रौद्र और वीर से सहसा हास्य की ओर फिसल जाना उसके लिये असाधरण नही है । नीचे के एक उदाहरण से जो कमाल वाली कविता से लिया गया है, यह स्पष्ट हो जायगा ।

'साब्बास भाइ ! साब्बास दिइ, साब्बास तोर शमशेरे !
पाठिये दिल दुश्मने सब जमघर एकदम-से रे !
बल् देखि भाइ बल् हाँ रे !
दुनिया के डर् करे न तुर्कीर तेज तलोयारे ?
(लेफ्ट राइट लेफ्ट)
खुब किया भाइ खुब किया !
बुज्दिल ओइ दुश्मन सब बिल्कुल साफ हो गिया !
खुब किया भाई खुब किया !
हुर् रो हो !
हुर् रो हो !
दस्युगुलोय सामूलाते जे एमनि दामाल कामाल चाइ !
कामाल तूने कामाल किया भाई !

…ो कामाल तूने कामाल किया भाई !

(हवलदा… …—साबास् सिपाइ लेफ्ट राइट लेफ्ट !) इत्यादि ।

समूह के तुमुलशब्द को व्यजित करते हुये कवि यथार्थ के इतना निकट पहुँच जाता है कि कविता अपनी भव्यता खोकर छिछली और हास्यमूलक हो जाती है ।

नजरुल इस्लाम की कविता का रहस्य अतिशयोक्ति है, उनकी सबसे सुदर पक्तियो मे भाव अतिरजित होकर आते है । विद्रोही का उन्नत शीश, हिमालय के शिखर के समान, एक उदाहरण है । दूसरा 'चल् चल् चल्' मे देखिये ।

'उषार दुयारे हानि आघात
आमरा आनिब राडा प्रभात,
आमरा टुटाब तिमिर रात,
बाधार बिध्याचल ।'

उषा का द्वार तोड़कर रगीन प्रभात लाना और बाधा के बिध्याचल को तोड़ना उसी अतिरजित शैली के अतर्गत है । इसी प्रकार 'छात्रदलेर गान' मे

'दारुन राते आमरा तरुन
रक्ते करि पथ पिछल !'

अतिरजित भाव धारा के साथ ये चित्र ऐसे मिल जाते हैं कि उनकी असाधारणता प्रायः छिपी रहती है । केवल जब उनकी भरमार हो जाती जैसे 'विद्रोही' में, या जब वे भावना स्रोत के किनारे शिलाखंड-से अलग पडे हुये दिखाई देते है, तब वे अनुपयुक्त-से खटकने लगते हैं । सफल कविताओं मे वे स्पष्ट और भाव को उभारने वाले होते है । फिर भी नजरुल की सभी कवितायें इन अतिरजित चित्रों पर निर्भर नहीं हैं । उनकी जड़ में वह अराजकता और उच्छृ-खलता है जो सहज ही ऐसे चित्रों से मैत्री रखती हैं । उनकी कविता

का दोष यह है कि बहुधा फैलती चली जाती है। 'विद्रोही' का अत तब होता है जब पाठक पढते पढते तग आ जाता है और चित्रों की असाधारणता उनके बाहुल्य के ही कारण प्रभावहीन हो जाती है। जहाँ आवेग थोडा सयमित रहता है और चित्र भाव के अनुकूल ही आते जाते हैं, वहाँ 'काडारी हुशियार' की भाँति कविता सधी और सफल निकलती है। नजरुल इस्लाम का ध्येय विचारकों को अपनी मेधा से चमत्कृत करना नहीं रहा है, कविता की सूक्ष्म परख करने वालो को प्रसन्न करना भी शायद नही; उनका ध्येय साधारण जनों के हृदयो को आदोलित करना रहा है और इसमे उन्हे यथेष्ट सफलता भी मिली है। आज का जनसमुदाय दस वर्ष पहले के समुदाय से भिन्न है, इसलिये नजरुल की कविता आज की कविता कहकर आदर्श रूप मे सामने नहीं रखी जा सकती। फिर भी इस दिशा मे आगे बढने के इच्छुक कवि यदि उनकी कृतियों का अध्ययन करेंगे तो उन्हे अपने कार्य मे सहायता ही मिलेगी और वे लोग भारतीय कविता के क्रम की भी रक्षा कर सकेंगे।

(दिसम्बर '३८)

ब्रह्मानन्द सहोदर

(१)

ससार मे ऐसे लोगों की कमी नही रही जो विषय-चिन्तन द्वारा ब्रह्मानन्द-प्राप्ति मे विश्वास रखते हों। भारतवर्ष के अनेक विद्वान् अपनी आध्यात्मिकता पर गर्व करके पूर्व और पश्चिम की दो सस्कृतियों का उल्लेख करते है। वास्तव मे यह आध्यात्मिकता पश्चिम के लिए अनहोनी नही है। प्लेटो ने सौन्दर्यवाद का सिद्धान्त चलाया था कि सुन्दर वस्तु का चिन्तन करने से हम एक अपार्थिव सौन्दर्य की ओर जाते हैं और इस प्रकार हमे सत्यं, शिव, सुन्दर का एक साथ ही दर्शन हो जाता है। यहाँ के साहित्यशास्त्र-निर्माताओं ने कहा कि यद्यपि साहित्य मे विषय रहता है परन्तु जब उसका रस मे परिपाक होता है तो उसका आस्वाद अलौकिक होता है। इसलिए रस ब्रह्मानन्द सहोदर है। ब्रह्मानन्द से चाहे केवल मोक्ष मिले परन्तु ब्रह्मानन्द सहोदर से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, चारों सिद्ध हो जाते हैं। जैसा कि आचार्य भामह ने कहा है:—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्॥

पश्चिम मे तो धर्म और काम का झगडा भी चला था, इस बात पर विवाद हुआ था कि साहित्य केवल आनन्द के लिए है अथवा शिक्षा के लिए भी, परन्तु भारतीय आचार्यों ने भरत मुनि से लगाकर

'धर्मो धर्मप्रवृत्ताना काम. कामोपसेविनाम्'

के अनुसार, धर्म और काम मे ऐसा कोई विशेष झगडा नहीं देखा।

सस्कृत के आचार्यो ने काव्य का प्रयोजन बंताते हुए अर्थ और यश को कभी नहीं भुलाया, वरन् बहुधा उन्हे सामने ही रखा है। यदि ब्रह्मानन्द सहोदर से अर्थ और यश भी मिलता हो तो लौकिक और अलौकिक का यह आदर्श सयोग किसे न भायेगा ? आचार्य दडी के अनुसार साहित्य कामधेनु है जिसकी उचित सेवा से सभी मनोभिलाष पूर्ण होते हैं और वाणी के प्रसाद से ही 'लोक यात्रा' सम्भव होती है (वाचामेवप्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते)। कवियों ने अपनी वाणी द्वारा पुराने राजाओं को अमर कर दिया है, नहीं तो कोई उनका नाम भी न जानता। दडी को इस उक्ति से जो ध्वनि निकली वह इस शास्त्र के जाननेवाले के अनुसार इस प्रकार है :—

'According to him, the main purpose of a poem is to narrate and praise the life and deeds of the king, the Kavi being thus, generally, a court poet' (J. Nobel—The Foundations of Indian Poetry)

आचार्य दडी के अनुसार कविता का प्रधान लक्ष्य राजा के जीवन और उसके कृत्यों का वर्णन है और इसलिए, मोटे रूप मे, कवि से एक दरबारी कवि का ही बोध होता है। रस अलकार आदि का विवेचन करते समय इस बात को ध्यान मे रखना आवश्यक है। अधिकाश आचार्यो का सम्बन्ध राजाओ से था, इसीलिए उनके सिद्धान्तो पर दरबारी सस्कृति की छाप है।

आचार्य विल्हण ने इसी प्रकार कहा है कि जिस राजा के पास कवि नहीं होते, उसका क्या यश हो सकता है, ससार मे कितने राजा नहीं हो गये, परन्तु उनका कोई नाम भी नहीं जानता।

इस प्रकार की उक्तियाँ हिन्दी के रीति-काल का स्मरण कराती

है; जिस वातावरण मे इस साहित्य-शास्त्र की रचना हुई, वह बहुत कुछ रीति-काल जैसा ही था। इसी लिए काव्य मे धन और यश प्राप्त होने की इतनी चर्चा है। इस वास्तविक लक्ष्य को ऊँचा करके दिखाने के लिए ब्रह्मानन्द का सहारा लिया गया। आचार्य मम्मट ने कहा है कि काव्य से यश और धन मिलता है, अमगल दूर होता है, व्यवहार का ज्ञान होता है, आनन्द मिलता है और मधुर शिक्षा, जैसी काता के शब्दों मे होती है, प्राप्त होती है। कान्ता के समान मधुर उपदेश देने मे काव्य वेद और पुराणों को भी पीछे छोड़ आता है। वेद-वाक्य प्रभु-सम्मित आज्ञा के समान है, पुराण-वाक्य सुहृद्-सम्मित मित्र के अनुरोध के समान है। ये दोनो प्रकार के वाक्य अखरते हैं परन्तु कान्ता-सम्मित वाक्य, रसपूर्ण काव्य मे यह दोष कहाँ?

रसवाद के साथ विभावनुभाव आदि की एक सेना है जो रस परिपाक मे सहायक होती है। इसमे पहले स्थायी भाव आते हैं। जैसे नायक-नायिका का परस्पर अनुराग एक स्थायी भाव है। प्रत्येक रस के साथ उसका स्थायी भाव होता है; रसोंमे शृगार प्रधान है और शृगार का स्थायी भाव रति है। रति को जगाने के लिए नायक-नायिका का होना आवश्यक है। वे आलबन विभाव हैं। पुष्पवाटिका, एकान्त स्थल, शीतलमन्द बयार आदि उद्दीपन विभाव हैं। स्थायी भाव जैसे रति का ज्ञान कराने के लिए कटाक्ष, हस्त सचालन आदि अनुभाव होते हैं। नायक-नायिका मे मिलने की उत्कठा आदि के भाव स्थायी भाव के सहायक होते हैं और व्यभिचारी या सचारी कहलाते हैं। इन सब विभावनुभावो आदि की विभिन्न आचार्यों ने सख्याएँ नियत की हैं, फिर भी इस गोरख-धन्धे के बाद रस-निष्पत्ति के समय स्थायी भाव की ही प्रधानता होती है। भरतमुनि ने अपने नाट्य शास्त्र मे कहा है:—

'तथा विभावनुभाव व्यभिचारि परिवृति' स्थायी भावो रसनाम लभते ।'

स्थायी भाव ही रसनाम प्राप्त करता है अर्थात् स्थायी भाव, जैसे रति, का ही नाम रस है। इसी रस अर्थात् रति का नाम ब्रह्मानन्द सहोदर है। यद्यपि साहित्य मे शृगार के साथ और रसों की गणना है तो भी जैसा कि भोजराज ने लिखा था, यह गणना अन्धपरम्परा के कारण हैं, रस वास्तव मे शृगार ही है। सस्कृत काव्य मे जिस रस की प्रधानता है, वह शृगार है; शास्त्रकार रस की आध्यात्मिक व्याख्या के साथ जिस रस के आलम्बन आँखो के सामने देखते थे, वे शृगार रस के नायक-नायिका ही थे।

यह रस किस प्रकार अलौकिक हो जाता है, इसकी व्याख्या भट्टनायक ने की है। दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रेम-व्यापार को 'भावना' एक साधारण व्यापार बना देती है, अर्थात् वह उनका व्यक्तिगत प्रेम न रहकर साधारण दाम्पत्य प्रेम हो जाता है। भावना के बाद 'भोग' की क्रिया आरम्भ होती है; किसी विचित्र प्रकार से सत्वगुण का उद्रेक होता है और इस प्रकार प्रकाश रूप आनन्द का अनुभव होता है—'सत्वोद्रेक प्रकाशानन्द सविद्विश्राति'। इसी भोग से वह आनन्द प्राप्त होता है जो अलौकिक होता है। यह समग्र तर्क एक मिथ्या धारणा पर निर्भर है। किसी प्रकार के आनन्द को भी सत्वगुणी मान लिया गया है। इसलिये विषयचिंतन से भी जो आनन्द होगा वह सत्वगुणी और अलौकिक होगा। वास्तव मे तमोगुण से उत्पन्न आनन्द मनुष्य को तमोगुण की ओर ही ले जायगा न कि सत्वगुण की ओर। यह बात ठीक है कि दर्शक या पाठक के भीतर एक साधारणीकरण नाम की क्रिया होती है; उसके लिए दुष्यन्त और शकुन्तला ऐतिहासिक या पौराणिक पात्र नहीं रहते। अपने अनुभव के अनुसार वह उन्हे पहचानता है और उनके प्रति अपने भाव निश्चित करता है। रसिक पाठकों को शकुन्तला में अपनी

प्रेयसी के ही दर्शन होते हैं अथवा वे शकुन्तला को अपनी एक काल्पनिक प्रेयसी बना लेते हैं। इस प्रकार साहित्य में विभिन्न प्रकृति के व्यक्ति, विभिन्न प्रकार के भाव और विभिन्न कोटि का आनन्द पाते हैं। उन सब का रसानुभव—ब्रह्मानन्द सहोदर—अलग-अलग तरह का होता है। अभिनवगुप्त के अनुसार साधारणीकरण व्यंजना द्वारा होता है, न कि भावना द्वारा ; परन्तु महत्व की बात यह है कि साधारणीकरण के बाद भी दर्शकों और पाठकों का अपना अपना भाव ग्रहण असाधारण रहता है।

साधारण रूप से हम देखते हैं कि जो मनुष्य जिन बातों को बहुत सोचा करता है, उन्हीं जैसी उसकी मनोवृत्ति और उसका चरित्र भी बनता है। गीता के अनुसार—

'ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।'

'विषयों के चिन्तन से उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है। यह जीवन का एक दृढ सत्य है। साहित्य में भी विषय-चिन्तन से विषयासक्ति उत्पन्न होगी, इस बात को वितण्डावाद से छिपाया नहीं जा सकता। साहित्य-शास्त्र की समस्या प्रधानतः यह है, किस प्रकार का साहित्य हमारे चित्त पर किस प्रकार के संस्कार बनाता है, ये संस्कार समाज के लिए शुभ हैं या अशुभ। कालिदास को पढ़ने के बाद हृदय पर कुछ संस्कार छूट जाते हैं जो धीरे-धीरे वैसे ही चिन्तन द्वारा दृढ होते हैं। अशुभ रचनाएँ ऐसे संस्कार बना सकती हैं जो समाज के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध हों। भारतीय इतिहास इस बात का साक्षी है। कालिदास हमारे कवि कुलगुरु हैं। महाभारत और रामायण को भी काव्य सिद्ध करने के लिए कहीं ध्वनि, कहीं अलंकार दिखा दिये जाते हैं। साहित्य से ब्रह्मानन्द सहोदर तो प्राप्त हुआ परन्तु शृङ्गार को छोड़ अन्य किसी रस से ब्रह्मानन्द सहोदर का विशेष सम्बन्ध न

दिखाई दिया। शृगार को ही रसराज की उपाधि क्यो मिली? साहित्य-शास्त्र की यह दूसरी समस्या है—एक साहित्यिक या कलाकार जिस अनुभव को दर्शक या पाठक तक पहुँचाता है, उसका चयन किन नियमो के अनुसार होता है? अनुभव करने को बहुत सी बाते है, परन्तु उनमे से कुछ को ही हम क्यो अनुभव कर पाते है? और जिन्हे अनुभव कर पाते है, उनमे से कुछ विशेष को ही क्यो अपने साहित्य मे अपना सकते है? इस प्रश्न का कोई समुचित उत्तर सस्कृत साहित्य-शास्त्र मे नहीं मिलता।

जैसी युग और समाज की मनोवृत्ति होती है, उसी से प्रभावित होकर या उसके विरोध मे खडे होकर कलाकार अपनी कृतियों को जन्म देता है। वह साहित्य शास्त्र और कालिदास जैसे कवियों का युग था जब शताब्दियो के लिए भारतवर्ष की दासता का जन्म हो रहा था। उस समय उन महान् आचार्यो तथा कवियो ने जो सस्कार भारतीय जीवन मे जमा दिये, वे आज भी निर्मूल नही हुए। जिस भावना धारा के ऊपर नायिका-भेद का विशाल भवन निर्मित हुआ, उसके ऊपर ब्रह्मानन्द सहोदर का आवरण डालकर जनता को धोखे मे रखा गया। साहित्य-शास्त्रियों ने कहा, काव्य कुछ गुणीजनों के लिए है, उसके लिए अलङ्कार, ध्वनि, रस आदि का ज्ञान आवश्यक है, वह सब की समझ मे नही आ सकता। जब कहा गया कि अलङ्कार, ध्वनि रस आदि का शृङ्गार रस से ही क्यो विशेष सम्बन्ध है, क्या इससे कुसस्कार उत्पन्न नही होते? तब उत्तर दिया गया कि साहित्य मे, भावना अथवा व्यञ्जना द्वारा एक अलौकिक आनन्द उत्पन्न होता है जो चित्त पर कोई संस्कार नहीं छोड़ता। परन्तु गीता मे कहा गया था, विषयों के चिन्तन से उनमे आसक्ति उत्पन्न होती है; इस महान् मनोवैज्ञानिक तथ्य को साहित्य शास्त्रियो ने उलट दिया। कहा, साहित्य मे विषय-चिन्तन

से ब्रह्मानन्द सहोदर प्राप्त होता है। यह प्रवञ्चना आज भी चली जाती है और अनेक आलोचक इस प्रश्न का सामना ही नहीं करना चाहते, कौन सा साहित्य कैसे संस्कार बनाता है और वे समाज के लिए अच्छे हैं या बुरे। इसी ब्रह्मानन्द-परम्परा मे आगे चलकर एक शास्त्रज्ञ ने कहा कि जो धर्म का उल्लंघन करके परकीया से प्रेम करता है, वही शृङ्गार के परमोत्कर्ष को जानता है (अत्रैव परमोत्कर्षः शृंगारस्य प्रतिष्ठित)। इस सबकी पराकाष्ठा ब्रज भाषा के नायिका-भेद मे हुई जिसके रस मे डूबकर कवि रसातल पहुँच गये और अपने साथ देश को भी ले डूबे।

(२)

साहित्य या कला से जो आनन्द प्राप्त होता है, उसे ब्रह्मानन्द सहोदर न मानकर भी, बहुत से लोग यह स्वीकार करना चाहेंगे कि वह लोकोत्तर होता है और जीवन मे प्राप्त आनन्द की अन्य श्रेणियों से वह भिन्न है। भिन्न तो वह है ही क्योंकि यहाँ माध्यम दूसरा है, जीवन मे जैसे मदिरा पीने से किसी को आनन्द मिलता है, साहित्य मे उसके वर्णन से आनन्द मिलता है, और दोनो प्रकार के आनन्दो मे भिन्नता है। मदिरा पीने मे गाली बकने से लेकर नाली मे गिरने तक का आनन्द लोगों को सुलभ होता है, उमर खय्याम की रुबाइयाँ पढने मे लोग लोक-परलोक दोनो सुधार लेते है, कम से कम सुधारने की चेष्टा तो करते ही हैं। परन्तु हैं दोनों आनन्द ही; मदिरा पीने से तथा मदिरा-पान के वर्णन दोनो से ही आनन्द प्राप्त होता है। मदिरा पान के वर्णन से जो आनन्द प्राप्त होता है, उसे हम लोकोत्तर आनन्द इसलिए कह सकते हैं कि लोक में इस प्रकार का आनन्द हमे मिलता नहीं है। नहीं तो एक प्रकार का आनन्द वह भी है यदि किसी ने मदिरा-पान किया है, तो उसे उसका

स्मरण होता है, नहीं किया है, तो सुनी बातों से उसकी कल्पना करता है। इस प्रकार मदिरा-सम्बन्धी कल्पना, जो अलौकिक नहीं है, उसके वर्णन से प्राप्त आनन्द का आधार होती है। इस मूल कल्पना की "स्थूलता" का प्रभाव उस "सूक्ष्म" आनन्द पर भी पड़ता है।

साहित्य और कला से हमें आनन्द प्राप्त होता है परन्तु सभी प्रकार के साहित्य या कला से हमें एक ही प्रकार का आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता। मदिरा-पान के वर्णन से जो आनन्द आता है, क्या वह उसी श्रेणी का है, जिस श्रेणी का भगवद्भक्ति में गाये हुये एक गीत का आनन्द है? सम्भवतः जो मदिरा-पान के वर्णन में रस लेता रहा है, उसे भक्ति का भजन बिल्कुल नीरस लगेगा। यह एक मोटा सा उदाहरण है जिसकी सचाई को शायद ही कोई अस्वीकार करे। परन्तु साहित्य और कला सम्बन्धी वाद-विवाद में लोग इसी बात को भूल जाते हैं, तब सैकड़ों झूठी धारणायें पैदा हो जाती हैं।

पहली बात तो यह माननी होगी कि एक व्यक्ति जो एक प्रकार की साहित्यिक रचना से आनन्द पाता है, एक अन्य प्रकार की रचना के प्रति नितांत उदासीन भी हो सकता है। यह हम समाज में और अपने जीवन में नित्यप्रति देख सकते हैं। कीट्स ने अपने एक पत्र में लिखा था कि वह अपनी नव-युवावस्था में इङ्गलैंड के कुछ छोटे-मोटे कवियों को बहुत पसन्द करता था, आगे चलकर उसे शेक्स-पियर बहुत पसन्द आने लगा, फिर वह पूछता है, क्या एक दिन ऐसा भी आ सकता है, जब उसे शेक्सपियर भी अच्छा न लगे? जिन लोगों को कालिदास के मेघदूत में लोकोत्तर आनन्द प्राप्त होता है, क्या उन्हें रामायण या महाभारत में भी वैसा ही आनन्द प्राप्त होता है? शास्त्रकारों ने 'आनन्द' की परख के लिये सहृदय काव्य-मर्मज्ञों का नियत किया है। जिसे सहृदय कहे, वही वास्तविक काव्य

है ; उसी से प्राप्त आनन्द वास्तविक आनन्द है। मैथ्यू आर्नल्ड ने भी कविता की परख के लिये सुझाया था कि लोगों को चाहिये कि कुछ कवियों की प्रसिद्ध पंक्तियाँ लेकर पढ़े और देखे कि उन्हें उनमें आनन्द आता है या नहीं। न आनन्द आवे तो समझना चाहिये कि उनकी सहृदयता में अभी कमी है। इस व्याख्या में शास्त्रकार मान लेते हैं कि सहृदयता और मर्मज्ञता अचल और सनातन हैं। काल-प्रवाह भी वे अस्थिर नहीं होतीं।

इतिहास की साखी इससे उल्टी है। या तो अभी वास्तविक काव्य-मर्मज्ञ पैदा ही नहीं हुआ और यदि हुआ है, तो उसकी मर्मज्ञता अवश्य युग-युग में बदलती रही है। चोटी के कवियों को छोड़ द्वितीय श्रेणी के कवियों के सम्बन्ध में यह मर्मज्ञता युग-युग में रूप-रंग बदलती दिखाई देती है। जर्मन कवि गेटे ने लार्ड बायरन की जो प्रशंसा की थी, क्या बीसवीं सदी के आलोचकों को उसका एक शब्द भी मान्य है ? टेनीसन के समय उसकी प्रतिभा किस कोटि की समझी गई थी, और बीसवीं सदी में उसका कौन सा मूल्य निर्धारित किया गया है ? शेली और कीट्स के जीवन-काल में हैजलिट, डिक्विंसी आदि की मर्मज्ञता ने उन्हें कैसा परखा था; बीसवीं सदी में उनकी प्रतिभा किस कोटि की मानी गई ? किसी कवि का मूल्य एक युग कुछ आँकता है, दूसरा युग कुछ, इसे और उदाहरण देकर समझाने की आवश्यकता नहीं। यह झमेला साधारण कवियों तक ही नहीं है, शेक्सपियर, तुलसीदास जैसे कवियों के सम्बन्ध में भी धारणाएँ बदला करती हैं। यही नहीं कि टाल्सटाय जैसे मर्मज्ञ शेक्सपियर को सच्चा कवि ही न मानें, जानसन और ब्रैडले दो आलोचक एक ही कवि के विभिन्न कारणों से प्रशंसक हो सकते हैं। दोनों मर्मज्ञ कविता के दो मर्मों तक पहुँच जाते हैं।

देश और काल के अनुसार सामाजिक संस्कृति का निर्माण होता

है। एक भारतवर्ष, जिसका दूर-दूर तक व्यापार फैला हुआ है, दूर दूर तक जिसके उपनिवेश हैं, व्यापार से जिसका मध्यवर्ग सन्तुष्ट है, दान का जहाँ महात्म्य है, मन्दिरा मे घण्टा-ध्वनि के माथ ईश्वर मे आस्था घोषित की जाती है, उस भारतवर्ष का सस्कृति क्या उस दूसरे भारतवर्ष की भी होगी जो स्वय दूर के व्यापारियो का एक उपनिवेश है, जहाँ का मध्यवर्ग दफ्तरा मे नौकरी खोजता है और जहाँ किसानो के रूप मे एक विशाल जन समुदाय क्षुब्ध और पीड़ित है? शास्त्रकारा ने जिम मर्मज्ञता का विवेचन किया है, वह उस समृद्धि सामती युग की प्रतीक है, समृद्धि का क्षय होते होते लोगो ने उसे और भी दृढता से जकड लिया जिससे मरते-मरते भी वह लोकत्तर आनन्द हाथ से न जाने पाये। उस समृद्धि की परछाई मे पला हुआ जन समाज का एक सैकड़ा भाग आज भी उसे अपनी प्रिय सस्कृति कहकर कठहार बनाये हुये है। साहित्य-समालोचना मे उमा मर्मज्ञता का हम अपना आदर्श मानते चले जाते हैं!

साहित्य के शास्त्रीय विवेचन पर से यदि हम ब्रह्मानन्द सहोदर का आवरण हटा दे, तो उसके नीचे हमे बहुत कुछ सचाई मिल सकती है। साहित्य से हमे रस या आनन्द प्राप्त होता है, यह ठीक है, मनुष्य के हृदय में जो स्थायी भाव होता है, वही रस नाम ग्रहण करता है, यह और भी ठीक है। सारी बात मनुष्य के भाव की है, 'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी', एक ही मूर्ति विभिन्न प्रकार की भावनाओ के लोगो को विभिन्न प्रकार की दिखाई देती है। यदि भाव-ग्रहण और आनन्द अनेक प्रकार का है तब उसमे अलौकिक सत्ता की एकता, अविच्छिन्नता नही है; लौकिक वस्तुओं की भाँति ही वह श्रेणी-विभाजन से परे नहीं है। इसलिये यह स्वीकार करना चाहिये कि सहृदय काव्य-मर्मज्ञ कहकर कोई ऐसा प्राणी हमें नहीं मिल सकता जो सभी युगो के लिये आदर्श हो; न

इस मर्मज्ञ की परख में आनेवाला कोई ऐसा साहित्य है जिसका रस सभी युगों में समान लोकोत्तर हो, अविच्छिन्न हो। विकास का नियम समाज पर ही लागू नहीं होता ; उसका अधिकार साहित्य, साहित्य-मर्मज्ञता, लोकोत्तर आनन्द सभी पर है।

यदि साहित्य और साहित्यिक रुचि में युग के साथ परिवर्तन हुआ करता है तो एक युग की कृति हमें दूसरे युग में क्यों अच्छी लगती है? किसी-किसी युग में जो साहित्यिक पुनरुत्थान (Literary Revivals) हुआ करते हैं, उनका क्या रहस्य है? कोलरिज के युग में शेक्सपियर का नवीन साहित्यिक जन्म और टी० एस० इलियट के युग में मेटाफिजिकल कवियों की चर्चा का क्या कारण है? पहली बात तो यह कि इस प्रकार के पुनरुत्थानों में ऐतिहासिक सत्यता की रक्षा बहुत कम की जाती है ; जब हम बीते युग को पुनर्जीवित करते हैं, तब हम बहुधा उसमें अपने युग का जीवन ही अधिक डालते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के दो अँग्रेज साहित्यिक मैथ्यू आर्नल्ड तथा स्विनबर्न ग्रीक सभ्यता और साहित्य के पक्षपाती थे परन्तु दोनों की ग्रीक सभ्यता अलग अलग थी। तुलसीदास भारतवर्ष के सर्वमान्य कवि रहे हैं परन्तु रामचन्द्र शुक्ल के तुलसीदास पुरानी साहित्यिक परम्परा के तुलसीदास से भिन्न है। इसलिये प्रत्येक साहित्यिक रिवाइवल को ठीक ठीक पहचानने के लिये उस युग की प्रवृत्तियों को जानना आवश्यक होता है जिसमें वह रिवाइवल घटित होती है।

दूसरी बात यह है कि युग युग में जो सामाजिक परिवर्तन होते हैं, उनके साथ एक सामाजिक विकास-क्रम भी चला करता है। एक बीता हुआ युग इस सामाजिक विकास-क्रम के कारण बीत जाने पर भी हम से जुड़ा हुआ हो सकता है, वर्तमान का सम्बन्ध भूत और भविष्यत् दोनों कालों से है, इसलिये हम उस विकास-शृंखला

को भूल नहीं सकते। एक सजग और सचेत वर्तमान के लिये आवश्यक है कि वह भविष्य की ओर उन्मुख होते हुये भी अपनी पिछली ऐतिहासिकता से अनभिज्ञ न हो। ऐतिहासिकता के ज्ञान बिना कोल्हू का बैल एक ही दर पर चक्कर लगाकर अपने को अत्यन्त प्रगतिशील समझ सकता है। एक साहित्यिक रिवाइवल के रूप मे नहीं, ऐतिहासिक विवेचन के आधार पर अपनी साहित्यिक एव सामाजिक परम्परा का ज्ञान आवश्यक है। सामाजिक विकास का मार्ग ऐसा सीधा मार्ग नहीं है कि समाज की लढी उस पर ढलकती चली जाय और जो बात एक बार हो चुकी है, उसे फिर दोहराया न जाय। विकास-क्रम टेढा मेढा पहाडी रास्ते जैसा ऊँचा नीचा है। जिन दृश्यों को हम पहले छोड आते है, घूम-घामकर कभी उन्ही तक, कभी उन्हीं जैसे दूसरे दृश्यो तक फिर पहुँच जाते हैं। इस प्रकार सामाजिक विकास मे अगड़-पिछड लगी रहती है, क्रिया के साथ प्रतिक्रिया है, आक्रमण के साथ रिट्रीट ऍकौर्डिङ्ग टु प्लैन भी है। इसलिए बीसवीं सदी के विकास-क्रम मे ढलता हुआ युग सत्रहवीं सदी के विकास-क्रम में उन तत्वो को खोजता है जो दोनों में मिलते-जुलते हैं। हमें बीते युग की रचना इसलिए अच्छी लगती है कि उसके निर्माण मे उन्ही तत्वो का संयोग है जो हमारे युग के अत्यधिक निकट हैं। रामचन्द्र शुक्ल को तुलसीदास मे लोक-हित की भावना पिछले युगो से अधिक इसलिए दिखाई दी कि वह हमारे युग की एक चेष्टा है, सम्भवत' वह तुलसीदास के युग को भी चेष्टा थी जिससे 'स्वातःसुखाय' और 'लोक-हिताय' मे कोई विशेष अन्तर नहीं रह गया था। इसलिए बीते युग की रचना के अच्छे लगने के दो कारण हो सकते हैं; एक तो उसमें हम वह अर्थ ढूँढ लेते हैं हम ढूँढना चाहते हैं परन्तु जो उसमे है नहीं; दूसरे हम उसमे अर्थ पाते हैं जो उस युग को भी अभीष्ट था। ऐतिहासिक

मे बँधे होने के कारण हमे पुरानी रचनाएँ तभी अच्छी लगती हैं जब वे हमारे युग के अनुकूल होती हैं।

कुछ रचनाएँ ऐसी होती हैं जो थोड़े ही युगो की अनुकूलता पाती हैं, कुछ ऐसी होती हैं जो अनेक युगो मे लोक-प्रिय होती हैं। जिन रचनाओं की लोक प्रियता अधिक व्यापक होती है, उनमे हम अनन्त सौंदर्य, जीवन का अमर सत्य आदि खोज निकालना चाहते हैं। उनकी व्यापक युगानुकूलता को बढ़ाकर हम उसे एक चिरन्तन सत्य का रूप दे देते हैं अर्थात् यह मान लेते हैं कि सदा के लिए विकास-क्रम मे यही तत्व लौट-पौटकर आया करेंगे। हमारा इतिहास अभी निर्मित हो रहा है, विकास का अन्त नहीं हो गया, इसलिए एक ऐसी संस्कृति की कल्पना करना जो चिरन्तन हो, भ्रम है। जब अभी तक एक स्थिर, अपरिवर्तनशील, और सदा के लिए सुन्दर सामाजिक व्यवस्था किसी भी युग मे स्थापित नहीं हुई, तब साहित्य, जो सामाजिक परिस्थितियो का परिणाम है, कैसे चिरन्तन सत्य और अमर हो सकता है? वास्तव मे सामाजिक विकास-क्रम मे जैसे ही गति का अभाव होता है, वैसे ही एक जगह चक्कर लगाकर हमे रूढ़ियों मे चिरन्तन सत्य और अमर सत्य के रह-रहकर दर्शन भी होने लगते हैं।

विकास-दर्शन की विरोधी कुछ विचार-धाराएँ इन अमर सौंदर्य और चिरन्तन सत्य की कल्पनाओं का पोषण करती हैं। ये संस्कार बहुतों के चित्त पर जमे हुए हैं कि मानव जाति का इतिहास प्रगति नहीं दुर्गति का इतिहास है। जो कुछ सत्य शिव सुन्दर था, वह तो सतयुग मे हो गया। अब तो घोर कलिकाल मे जो कुछ है, वह पतन ही पतन है। कल्कि अवतार हो तो भले निस्तार हो सके। ग्रीक लोगों में भी सुवर्णयुग और अन्त मे लौहयुग आदि की कल्पनाएँ प्रचलित थीं। आदम और हव्वा पैरैडाइज मे कितने सुख से रहते थे, सभी जानते हैं, हजरत ईसा मसीह फिर दया करें तभी वह पैराडाइज

लास्ट पैराडाइज रिगेंड हो सकता है। इन सस्कारो के कारण लोग साहित्य में भी अमर सौन्दर्य आदि को पिछले युगों में ही देखना अधिक पसन्द करते है; कोई साहित्यिक या कलाकार तब तक पूर्णरूप मे महान् नहीं हो पाता जब तक वह एक बीते युग की कहानी नहीं हो जाता। इसीलिए विकास-सिद्धान्त को मानते हुए भी, साहित्य और समाज मे इस विकास के नियम को लागू करते हुए भी, हम ऐसे मापदड खोज निकालते है जो अमर हो; उन मापदण्डों से हम वह साहित्य भी नाप-जोख लेते हैं जिस हम सदा के लिए सत्य शिव और सुदर मान लेते हैं। यह सारी नाप-जोख उस विकास-सिद्धान्त की ऐतिहासिकता के कितना प्रतिकूल, असत्य और अवैज्ञानिक है, इस पर हम कभी ध्यान नही देते।

यदि हम विकास-सिद्धान्त को मानते हैं तो यह मानना होगा कि मनुष्य के सस्कार अमर नहीं होते वरन् वे बना-बिगड़ा करते हैं। विकास-क्रम मे परिस्थितियाँ जैसे-जैसे बदलती हैं, वैसे ही मनुष्य की इच्छाएँ, भावनाएँ, सस्कार आदि भी बदलते हैं। साहित्य-शास्त्र की सबसे बडी भ्रान्ति यह है कि मनुष्य की कुछ भावनाएँ अमर तथा उसके कुछ सस्कार चिरन्तन होते है; जैसे पिता-पुत्र का प्रेम, या पुरुष का स्त्री के प्रति आकर्षण। इस प्रकार के सस्कार चिरन्तन मानकर साहित्य-शास्त्री कहते हैं कि जो इन सस्कारों के अनुकूल साहित्य रचता है, उसी का साहित्य अमर हो सकता है। सामाजिक विकास की एक शृखला वह भी रही थी जब पिता-पुत्र के सम्बन्ध की कल्पना भी नही हुई थी। जिस प्रकार समाज का ढाँचा सदा एक नहीं रहा और उसमे विकास की सम्भावना रही है, वैसे ही मनुष्य के (समाज से प्राप्त) संस्कार भी अमर नहीं हैं और उनमें परिवर्तन की सम्भावना है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध मे भी इतने परिवर्तन हुए हैं कि उन सबका एक 'प्रेम' का नाम देने से भ्रम हो सकता है।

परन्तु ऐसा कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि कुछ संस्कार औरों से अधिक स्थायी नहीं होते अथवा उनका स्थायित्व कभी-कभी अमरत्व जैसा नहीं लगने लगता। साहित्यिक के लिए यह स्वाभाविक है कि वह उन संस्कारों तथा इच्छाओं को अपनाये जो अधिक स्थायी तथा लोकप्रिय है। परन्तु ऐसा भी हो सकता है कि समाज में वे संस्कार लोकप्रिय हो गये हों जो उसके विकास में बाधक हैं। उदाहरण के लिए हिन्दी साहित्य के एक अंग में उन संस्कारों का प्राधान्य है जिनका आधार व्यक्तिगत सम्पत्ति पर स्थिर परिवार है। भाई का भाई से प्रेम, पति का पत्नी से, पुत्र का पिता से प्रेम आदि सराहनीय हैं। परन्तु यदि हम अपनी गति अवरुद्ध नहीं करना चाहते तो कभी यह आवश्यक हो सकता है कि हम अपने संस्कारों को परिवार की भूमि से उठाकर समाज की भूमि पर स्थिर करें। ऐसे संस्कारों की आवश्यकता है जो हमें समाज-हित को परिवार-हित से बढ़कर समझने को प्रेरित करें। जैसे भक्ति काव्य में इष्ट देवता समाज और परिवार से ऊपर होता है, वैसे ही साहित्यिक के लिए ऐसे संस्कारों के निर्माण में सहायक होना, जो स्थायी दिखनेवाले पारिवारिक संस्कारों के ऊपर या उनके विरोधी है, नितान्त अस्वाभाविक नहीं है। इसलिए साहित्यिक का कर्तव्य है कि वह उन विशेष संस्कारों का पोषण अथवा निर्माण करे जो सामाजिक दृष्टि से उपयोगी हैं।

कुछ लोगों का मत है कि साहित्य का अमर सौंदर्य विषय, भाव-विचार आदि पर निर्भर नहीं है वरन् उसका आधार व्यंजना अथवा कला है। भक्त न होते हुए भी भक्ति-रस की एक रचना पर हम मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकते, क्योंकि शब्दचयन इतना सुन्दर है, कहने का ढंग ऐसा प्रभावपूर्ण है। ईसा मसीह पर जो कविता लिखी गई है, उसका आनन्द लेने के लिए ईसाई होने की

आवश्यकता नहीं है। साहित्य में व्यंजना एक ऐसी वस्तु है जो विषय की पार्थिवता से ऊपर उठ जाती है। किसी लेखक का रचना विचारों में प्रगतिशील चाहे न हो, हम उसका कला, व्यंजना आदि का आनन्द ले सकते है। और इस प्रकार उसकी पतित मनोवृत्ति का प्रभाव हम पर न पड़ेगा। डी० एच० लारेंस, जेम्स ज्वॉयस आदि लेखक प्रतिक्रियावादी हो सकते है परन्तु उनकी कला अनूठी है; उसका रस लेना ही चाहिये। इस प्रकार के मत का उत्तर यह है कि साहित्य में विषय और व्यंजना दोनों एक दूसरे के आसरे हैं; एक सफल साहित्यिक रचना में विषय और व्यंजना का सामंजस्य होता है, एक प्रतिक्रियात्मक और दूसरी प्रगतिशील नहीं हो सकती। व्यंजना साहित्य को श्रेणियों के अनुसार अनेक प्रकार की होती है। दरबारी कवियों की उक्ति-चातुरी, संत कवियों की सरलवाणी, रोमांटिक कवियों का दुरूह शब्द-विन्यास आदि कुछ मोटे उदाहरण यह सिद्ध करते है कि भाव के साथ शैली में भी परिवर्तन होता है। इसलिए विषय-वस्तु के निरूपण के साथ व्यंजना और कला के सम्बन्ध में भी यह याद रखना चाहिये कि वह चिरंतन नहीं है वरन् लेखक की प्रतिभा अथवा युग की प्रवृत्ति के अनुसार प्रतिक्रियावादी अथवा प्रगतिशील हो सकती है। परंतु सर्वत्र ही विषय-वस्तु तथा कला में सामंजस्य नहीं स्थापित हो पाता। चेष्टा सामंजस्य की ओर होनी चाहिए और यह तभी संभव है जब हम व्यंजना की शक्ति को भी समझें और उसका साधना करें।

महान् लेखकों में विषय तथा व्यंजना का असामंजस्य बहुत कम होता है; इसलिए ऐसे किसी 'महान्' लेखक के विचार यदि प्रतिक्रियावादी हों, तो उसका कला का रस लेने के पहले पाठक को अपने हृदय की एक बार फिर जाँच कर लेनी चाहिये।

अस्तु; भाव-चयन तथा उनकी व्यंजना पर समाज-हित का प्रतिबन्ध

होना ही चाहिये। साहित्य मे रस और रस में ब्रह्मानन्द सहोदर की कल्पना न करके यह समझना चाहिये कि जिस विषय का हम चिन्तन करेंगे, उसी मे हमारी आसक्ति होगी। साहित्य धर्म और काम, दोनों मे सहायक है, भरतमुनि के अनुसार—धर्मो धर्म प्रवृत्ताना, काम. कामोपसेविनाम्। इसलिए धर्म, काम अथवा जिन संस्कारो से भी समाज-हित हो, उन्हीं का साहित्य मे चिन्तन होना चाहिये। जो इस सत्य को अस्वीकार करके समाज का अहित करनेवाले विचारो को अपने साहित्य में स्थान देता है, और कहता है कि इनमें अमर सौन्दर्य है, वह एक प्रवचना को जन्म देता है और जाने या बिना जाने समाज का अहित करता है। आलोचक का कर्तव्य है कि ऐसे साहित्य और साहित्यिकों से समाजहित की चौकसी करता रहे।

जनवरी-फरवरी '४२

आई० ए० रिचार्ड्स के आलोचना-सिद्धान्त

आई० ए० रिचार्ड्स की प्रसिद्ध पुस्तक 'प्रिंसिपिल्स ऑफ लिटररी क्रिटिसिज़्म' (साहित्यसमीक्षा के सिद्धान्त) का हिन्दी मे जहाँ तहाँ उल्लेख हो चुका है। इगलैण्ड के साहित्यिको और भारतीय विश्वविद्यालयो के शिक्षको मे उसकी यथेष्ट चर्चा होती रही है। इस चर्चा का कारण यह है कि रिचार्ड्स ने मनोविज्ञान की छानबीन करते हुए पुराने सिद्धान्तों को कुछ ऐसा गम्भीर रूप दिया है कि उन्नीसवी शताब्दी के गिरते हुए मापदण्ड फिर सँभलते हुए दिखाई पड़ने लगे। उन मापदण्डों से उस वर्ग का घनिष्ठ सम्बन्ध है जो पूँजीवादी सस्कृति का विधायक है और उस पर कोई भी आघात होने से चौंक उठता है।

रिचार्ड्स का मूल सिद्धान्त यह है कि साहित्य का ध्येय मनुष्य की वृत्तियों (impulses) को सर्वाधिक सन्तुष्ट करके उनमें सन्तुलन स्थापित करना है। इससे मनुष्य अच्छा मनुष्य बनता है। किन प्रवृत्तिया को साहित्य सन्तुष्ट करे, उनमे किस प्रकार का सतुलन हो, अच्छे मनुष्य का क्या अर्थ है, इत्यादि सैकड़ा प्रश्न इस सिद्धान्त के साथ जुड़े हुए हैं, जिनका रिचार्ड्स ने निराकरण करने का प्रयत्न किया है।

रिचार्ड्स के मनोविज्ञान और सिद्धान्त के विवेचन-मूल मे पूँजीवादी विकास के आरम्भकाल का व्यक्तिवाद है। सातवें अध्याय मे रिचार्ड्स ने बेंथम की धारणाओ का उल्लेख किया है। इस उपयोगितावादी विचारक के अनुसार मनुष्य के कार्यों का ध्येय उसका चरम सुख (happiness) होता है। रिचार्ड्स का 'सुख' शब्द

पुराना मालूम होता है; वह उसकी जगह 'वृत्तियों का सन्तोष' (Satisfaction of impulses) कहना पसन्द करते हैं। वास्तव में सुख या आनन्द (Pleasure) कहकर कोई वस्तु है, यह वह मानते ही नहीं। उनका कहना है कि कोई भी अनुभव सुखदायक या दुखदायक हो सकता है, परन्तु अनुभव से अलग सुख या दुख की सत्ता नहीं होती। परन्तु यह भेद केवल शाब्दिक है, वास्तव में रिचार्ड्स और बेन्थम के सिद्धान्तों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है।

साहित्य का ध्येय सुख या वृत्तियों का सन्तोष मान लेने पर यह समस्या खड़ी होती है कि साहित्यकार अपने जिस अनुभव का वर्णन करता है, उसे समाज के लोग किस तरह ग्रहण करते हैं और उनकी वृत्तियों का सन्तोष वैसे ही होता है जैसे मूल लेखक का या उससे भिन्न होता है। रिचार्ड्स के लिए जितने पाठक होते हैं, उनके लिए एक ही कविता में उतनी ही तरह का अनुभव मिल जाता है। इस-लिए कवि ने जो सतुलन प्राप्त किया था, वह अपने मूल रूप में किसी को सुलभ नहीं होता। फिर भी थोड़े बहुत सतुलन का लाभ तो लोगों को होता ही है और इसी से कवि के अनुभव का मूल्य आँका जाता है।

वृत्तियों को सन्तुष्ट करते समय हम कैसे जानें कौन कितनी महत्त्व-पूर्ण है, इसका उत्तर रिचार्ड्स ने यह कहकर दिया है कि किसी वृत्ति का महत्त्व इस बात से मालूम होता है कि उसके सन्तुष्ट होने से उस मनुष्य की दूसरी वृत्तियों में कहाँ तक क्षोभ (disturbance) उत्पन्न होता है (पृ० ५१)। अर्थात् सन्तोष का मसला तै न होने पाया कि यह क्षोभ की नयी समस्या उठ खड़ी हुई। रिचार्ड्स स्वय इसे एक अस्पष्ट व्याख्या मानते हैं, परन्तु उसकी अपूर्णता एक दूसरी बात में भी है। इस व्याख्या के अनुसार वृत्तियों का महत्त्व

सख्या पर निर्भर हो गया; 'क' वृत्ति के सन्तुष्ट न होने से पाँच वृत्तियों में क्षोभ उत्पन्न हुआ तो वह 'ख' वृत्ति से अधिक महत्त्वपूर्ण हुई, जिसके सन्तुष्ट न होने से चार ही वृत्तियों में क्षोभ उत्पन्न होता।

इसके बाद वह इस दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हैं कि वृत्तियों का कैसा संतुलन श्रेष्ठ होता है। वृत्तियों को सन्तुष्ट करने मे कुछ को सतोष तो कुछ को क्षोभ होगा ही, इसलिए वह सन्तुलन (Organisation) श्रेष्ठ है जिसमें मानवीय सम्भावनाएँ (Human possibilities) कम से कम नष्ट हों। पुनः रिचार्ड्स ने प्रश्न का उत्तर देने के लिए एक दूसरा प्रश्न चिन्ह लगा दिया है। ये "मानवीय संभावनाएँ" क्या हैं?

आदर्श सन्तुलन तो गिने-चुने लोगों को सुलभ होता है, परन्तु समाज इनमे और विकृत सतुलन के लोगों में भेद नहीं करता। इसलिये आदर्श सन्तुलन को सामाजिक रूप देना प्रायः असभव है। व्यक्ति और समाज अपने-अपने संतुलन के लिए झगड़ते हैं; इस सघर्ष में रिचार्ड्स के लिए जन-समूह विशिष्ट जनों के प्रति खड्गहस्त दिखाई पड़ता है।

वह मानते हैं कि समाज का यह कर्तव्य है कि वह विकृत सतुलन के लोगो से अपनी रक्षा करे। जिन लोगों को वृत्तियाँ भ्रष्ट हो गई हैं, उन्हे नजरबन्द करने या कालापानी देने से उतनी हानि न होगी, जितनी उनके स्वच्छन्द रहने से। परन्तु रिचार्ड्स का ध्यान उन वर्गों की ओर नही जाता जो अपने शोषण-क्रम से सारे समाज का अहित करते हैं। व्यक्तियों में सामाजिक असन्तोष के कारण बताकर इस प्रकार की विवेचना वर्ग-स्वार्थों पर पर्दा डालती है। रिचार्ड्स के अनुसार यह सतुलन 'जान-बूझकर योजना बनाने' या व्यवस्था करने से नहीं सुलभ हो सकता। योजना और व्यवस्था से तो समाज-घाती वर्गों का ध्वंस हो जायगा! तब यह वृत्तियों का सन्तुलन कैसे

सभव होता है ? "We pass as a rule from a chaos to a better organised state by ways which we know nothing about." अर्थात् एक अव्यवस्थित दशा से हम एक सुव्यवस्थित दशा मे उन उपायों से पहुँच जाते हैं, जिनके बारे मे हम कुछ नहीं जानते। इति शुभम्। इस रहस्यवाद के आगे सभी वाद-विवाद व्यर्थ हो जाता है। व्यवस्थित दशा तक पहुँचने के लिए यदि कोई निश्चित उपाय नहीं है तब यह समीक्षा का पुराण पढने से लाभ ही क्या ! माना कि साहित्य और कला द्वारा यह व्यवस्थित दशा सभव होती है, परन्तु यहाँ साहित्य फिर एक रहस्य बन जाता है। यदि "Conscious planning" से मुख्यतः दूर रहना है, तब जो मन में आये लिखते चलो, मनुष्य एक रहस्यात्मक ढग से प्रभावित होकर संतुलन की दशा को प्राप्त होते जायँगे।

परन्तु इस निष्कर्ष से भी सन्तोष न होगा, क्योंकि देशकाल के अनुसार साहित्य-बोध बदलता रहता है। दान्ते ने बड़े यत्न से महाकाव्य लिखा, परन्तु आज उसकी विचारधारा हम से बहुत दूर पड़ गई है। महाकाव्य के कलात्मक (formal) सौन्दर्य से हम सन्तुष्ट नही होते ; इसलिए विद्वान् भी आजकल दान्ते को कम पढ़ते हैं (पृ० २२२)। दान्ते जैसे लेखक ने जो सतुलन स्थापित किया था, वह आगे चलकर हमारे लिये दुर्लभ हो गया ! इससे मालूम होता है कि इस अव्यवस्था का कहीं अन्त न होगा। वृत्तियों की यह शाश्वत अव्यवस्था पूँजीवादी अव्यवस्था का प्रतिबिम्ब है, जिसे बेंथम का शिष्य रिचार्ड्स पूँजीवाद के प्रति अपने मोह के कारण छोड नहीं सकता।

पूँजीवादी अव्यवस्था को चरम सीमा तक ले जाने पर जिस प्रकार चारों ओर उच्छृङ्खलता फैल जायगी, उसी प्रकार वृत्तियो की अव्यवस्था को शाश्वत मान लेने पर कविता में अर्थ अनावश्यक हो जाता है। अर्थ द्वारा तो हम ज्ञात रूप से किसी को प्रभावित करने

की चेष्टा कर सकते हैं। साहित्य जिस रहस्यात्मक ढग से प्रभावित करता है, उसके लिए ज्ञात अर्थ की आवश्यकता नहीं है। रिचार्ड्स का कहना है कि कविता मे अर्थ का प्रायः अभाव हो सकता है, उसमें गोचर रूप के गठन का प्रायः अभाव हो सकता है, फिर भी वह कविता उस विन्दु तक पहुँच सकती है जिसके आगे किसी कविता की गति नही है (पृ० १३०)। इस प्रकार "Conscious planning" से भय खाकर, सगठित सामाजिक क्रिया द्वारा व्यवस्था में परिवर्तन करने से मुँह चुराकर, रिचार्ड्स का सिद्धान्त उन्हे अर्थ-हीनता के खंदक मे ला पटकता है।

भविष्य की कविता और भी दुरूह हो जायगी, यह निष्कर्ष स्वाभाविक है। रिचार्ड्स का कहना है कि कुछ सीमाओं मे मनुष्य की वृत्तियाँ समान होती हैं। ऐसा मध्य-युग मे अधिक होता था; अब भेद अधिक बढ गया है और यह अच्छा ही हुआ। आज के सभ्य मनुष्य का अनुभव कुछ ऐसी व्यक्तिगत विशेषताएँ लिये होता है जो साधारण जनो के लिए सभव नहीं होती। जिन लोगो के जीवन का सबसे अधिक मूल्य है (अर्थात् जिन्होंने उत्कृष्ट सतुलन प्राप्त कर लिया है), जिनके लिए कवि लिखता है, उनका मस्तिष्क पूर्व-युगो की अपेक्षा भिन्न और बहुल तत्त्वो से बना है (पृ० २१८-१९)। वही दशा कवि की भी है। अधिकांश पाठक उसकी कृतियो को समझेंगे नही, इस कारण उसे व्यजना के आवश्यक उपकरणों से वचित करना अनुचित है। पिछले विकास को देखते हुए रिचार्ड्स का विचार है कि कविता और भी दुरूह होगी क्योंकि उसका आधार वह विशिष्ट अनुभव होगा जो जन-साधारण को सुलभ नहीं है।

रिचार्ड्स ने अनुभव के मूल्य (Value) को आनन्द और शिक्षा के ऊपर रखा है। पश्चिमी साहित्य-समीक्षा मे यह पुराना विवाद का विषय है कि साहित्य से मनुष्य को शिक्षा मिलती है या

आनन्द मिलता है। रिचार्ड्स इस समस्या को अवैज्ञानिक मान लेते हैं, साहित्य मे वह मूल्यवान् अनुभव चाहते हैं जिससे वृत्तियो को सर्वाधिक सन्तोप हो। परन्तु वास्तव मे मूल्य-सम्बन्धी यह सिद्धान्त बेन्थम के सुख-कामना सिद्धान्त से भिन्न नहीं है। रिचार्ड्स के सामने कुछ आदर्श व्यक्ति है, जिनकी वृत्तियों मे श्रेष्ठ सन्तुलन है और साहित्य उन्ही की वृत्तियो के सतोष का मूल साधन है। उसके साहित्य से दूसरे लोग भी प्रभावित होगे परन्तु उसी हद तक नहीं। उनकी गभीर विवेचना का परिणाम यह निकलता है कि सामाजिक परिस्थितियो मे परिवर्तन करने से, साहित्य का वर्गा से. सम्बन्ध नही है, वरन् वर्ग से परे व्यक्तियो की वृत्तियो को सन्तुष्ट करना उसका लक्ष्य है। बिहेवियरिस्ट और साइको अनेलिस्ट विचारकों के कुछ सिद्धान्त लेकर रिचार्ड्स ने मनोविज्ञान का एक ढाँचा खड़ा करने की कोशिश की है (११ वॉ अध्याय)। एक ओर वह किसी भी विचार को एक "स्नायविक घटना" मानते है तो दूसरी ओर फ्रायड के "अज्ञात" को सत्य मानकर वह रहस्य की बाते भी करते हैं। परम यान्त्रिकता और रहस्यवाद का विचित्र सघटन उनके सिद्धान्तो में मिलता है।

रिचार्ड्स का मूल सिद्धान्त यह है कि कविता मनुष्य की सर्वाधिक वृत्तियो को सतुष्ट करती है। उनकी विवेचना की खास कमजोरी यह है कि वह वृत्तियों के मूल सामाजिक कारणों की ओर ध्यान नही देते। वृत्ति उनके लिए कोई रहस्यात्मक इकाई बन जाती है, जिसके आदि-अन्त का पता लगाना असम्भव है।

कवि मनुष्य की वृत्तियों को सतुष्ट करता है, परन्तु सन्तोष के बाद क्या होता है, इस प्रश्न को रिचार्ड्स ने नहीं उठाया। ब्रह्मानन्द सहोदर की भॉति वृत्तियों के सन्तोष मे साहित्य की कार्यवाही

समाप्त हो जाती है। परन्तु साहित्य का प्रभाव ऐसा हवाई नही होता। यह प्रभाव मनुष्य के कार्यों में लक्षित होता है। साहित्य मनुष्य में किन्हीं कार्यों के लिए न्यूनाधिक प्रेरणा उत्पन्न करता है। इसलिए साहित्य के विषय, विचार आदि को भुलाकर उनके बिना भी बहुत कुछ काम चल-मकता है, इस धरणा के बल पर हम साहित्य के प्रति अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह नही कर सकते।

रिचार्ड्स के लिये साहित्य बोध (Communication) की समस्या समाधान से परे है। साहित्य दुरूह होता जायगा और जन-साधारण को उससे अधिकाधिक निराश होते जाना पडेगा। यह ठीक है कि कवि का अनुभव पाठक तक अपने मूलरूप में नहीं पहुँचता। परन्तु कवि के अनुभव की जिन बातो को साधारण व्यक्ति नहीं ग्रहण कर पाता, वे कुछ अपवाद होती हैं, अनुभव का साररूप नहीं। साधारण व्यवहार मे जैस हम एक दूसरे की बाते जानते बूझते है, यद्यपि कभी-कभी भ्रम हो जाता है, उसी प्रकार कवि के अनुभव को जन-समूह ग्रहण करता है और कवि की दुरूह व्यक्तिगत बातो को छोड़ देता है। पूँजीवादी व्यवस्था मे शिक्षित किंवा दुःशिक्षित कवि मे और जन-साधारण मे भारी अन्तर होता है। कवि अपने संकुचित अभिजातवर्ग में और भी सकुचित होता हुआ व्यंजना के लिये नये और अपने तक सीमित प्रतीक ढूँढ लाता है। वह समझता है कि उसका अनुभव और व्यजना उच्चकोटि की हैं। जन-साधारण के लिये जितना ही वह दुरूह होगा, उतना ही वह श्रेष्ठ होगा। दूसरी ओर जन-साधारण की अशिक्षा और कुसस्कृति के कारण कवि के लिये व्यंजना का प्रश्न सचमुच उलझा हुआ रहता है। उसे सुलझाने का एक ही उपाय है कि कवि अपने सकुचित ससार से निकले और जनता को शिक्षित और सुसस्कृत करने के प्रयत्नों मे योग दे। कवि और जन-साधारण मे एक रहस्यात्मक भेद है,

जिससे एक दूसरे के लिये पहेली बना रहेगा,—यह एक पूँजीवादी कुसंस्कार है।

कविता मे हमें मूल्यवान् अनुभव चाहिये ; उसका मूल हम इस तरह निर्धारित करेंगे कि वह व्यवस्थित सामाजिक जीवन-यापन में कहाँ तक सहायक होता है और कहाँ तक बाधक होता है। रिचार्ड्स के रहस्यवाद से उसकी व्याख्या नहीं हो सकती।

(१६४४)

साहित्य में जनता का चित्रण

साहित्य और जनता, इन दो शब्दों को एक साथ देखते ही कुछ कलाप्रेमियो के कान खडे हो जाते हैं। वे समझते हैं कि जनता रूपी व्याघ्र कलारूपी शावक को खा जायेगा और तब साहित्य के क्षेत्र मे इस व्याघ्र का गर्जन मात्र सुनाई पडेगा।

जनता और कला मे कोई बैर नही है। बैर भाव उन लोगों के मन मे उठता है जिनके लिये जनता एक कल्पना है, अर्थात् जिनके निकट विभिन्न सामाजिक स्तरो में बॅटी हुई, जीवन की बहुविध क्रियाओं मे सलग्न, विकास पर बढती या पिछडती हुई एक हाड-मॉस की जनता का अस्तित्व नही है बल्कि जो उसे अशिक्षा, कुसंस्कृति, अराजकता, कलाहीनता आदि का पर्यायवाची समझते हैं। जो लोग साहित्य में जनता का चित्रण करना चाहते हैं और जो नही भी करना चाहते, दोनो ही तरह के लोगो के लिये यह आवश्यक है कि वे जनता के इस रूप को ध्यान में रक्खे। जनता कोई सस्ता नुसखा नही है जिससे कि राजनीति, अर्थशास्त्र या साहित्य की सभी समस्याये पलक मारते हल कर दी जाये। इसके विपरीत जब हम साहित्य मे जनता का चित्रण करने चलते हैं तो हमारे सामने तरह-तरह की नई समस्याये उठ खडी होती हैं।

कुछ लोग साहित्य की धाराओं को बहिर्मुखी और अंतर्मुखी इन दो रूपो मे बॉट देते हैं। वे या तो इनमे से किसी एक को प्रधानता देकर दूसरी को उसका विरोधी मानलेते हैं या उदारता पूर्वक दोनो को अपनी-अपनी दिशाओ मे बहने की अनुमति दे देते हैं। उनके अनुसार साहित्य की बहिर्मुखी धारा मे वन, पर्वत,

नदी, नाले, दृश्यमान गोचर प्रकृति और उसके साथ राष्ट्रीय आन्दोलन, किसान-जमींदारों का संघर्ष, मजदूरों की हड़तालें, दंगे आदि-आदि का चित्रण किया जाता है। दूसरी अंतर्मुखी धारा में मनुष्य के अंतर्द्वन्द्व, आत्म-चिन्तन, मनोवैज्ञानिक ऊहापोह, अंतस्तल की निगूढतम भावनाओं का घात-प्रतिघात आदि-आदि होता है। दो दिशाओं में बहनेवाली ये दो धारायें इसीलिये दिखाई देती हैं कि जनता के विकास का मार्ग और कलाकार के अन्तस्तल की कोमल भावनाओं की दिशा अभी एक नहीं हो पाई। वास्तव में अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी, इस तरह के भेद भ्रम-पूर्ण हैं। साहित्य में लेखक का अन्तस्तल और दृश्यमान वाह्य-जगत् एक दूसरे में गुँथे हुए, संश्लिष्ट रूप में आते हैं। इनमें परस्पर विरोध हो,—इसका कोई प्राकृतिक या मनोवैज्ञानिक कारण नहीं है।

उदाहरण के लिये गीतात्मक कविता को लीजिये। संत-कवियों के पदों में उत्कट आत्म-निवेदन मिलता है लेकिन उसका संबन्ध दृश्यमान वाह्य-जगत् से भी पूरा-पूरा है। गोस्वामी तुलसीदास के पदों में उनके जीवन-सङ्घर्ष, समाज के पीडित वर्ग की ओर उनकी समवेदना आदि-आदि स्पष्ट झलकती हैं। इसी प्रकार हिन्दी के सबसे बड़े गायक सूरदास के पदों में भी कृष्ण की बाललीला, गोपियों का प्रेम, उद्धव का उपदेश और गोपियों का प्रत्युत्तर—यह सब व्यापार साधारण मानवीय जगत् के व्यवहारों से गुँथा हुआ है। सूरदास की आँखें खुली रही हों चाहे बचपन से मुँदी रही हों, वे उस संसार को बहुत अच्छी तरह जानते थे जिससे कि उस समय का साधारण मनुष्य परिचित था। इसी प्रकार छायावादी कवियों ने अपने आत्म-निवेदन के स्वर को विश्व-बंधुत्व की भावना, समाज में समता की स्थापना, राजनीतिक पराधीनता और आर्थिक उत्पीड़न का विरोध आदि-आदि से सबल किया है। दिनकर, सुमन आदि

कवियों में हम स्पष्ट देखते हैं कि कवि के भाव-जगत् मे दिन प्रतिदिन वाह्य सामाजिक ससार की छायाये घनी होती जाती हैं। युद्ध काल में यूरुप के कवियों ने कुछ बहुत ही आत्मीयतापूर्ण और गीतात्मक काव्य की सृष्टि की है। इन 'लिरिक' कविताओं का विषय देशप्रेम और फासिज्म का विरोध है; इनमे फ्रास के कवि लुई आरागों ने विशेष ख्याति पाई है। उसकी रचनाओ में मार्मिक पीड़ा है और हृदय को छूने की अद्‌भुत शक्ति है। इसका कारण जर्मन आक्रमण से त्रस्त फ्रासीसी जनता के प्रति उसकी उत्कट सहानुभूति है। अरागों ने अहम् का निषेध नहीं किया; वह नाटकीय ढङ्ग से जनता का चित्रण भी नहीं करता। वह अपने ही मन में डूब जाता है लेकिन यह मन एक ऐसे व्यक्ति का है जिसकी आँखें और कान खुले हुए हैं और जो अपने आस-पास की परिस्थितियों के प्रभाव को इस मन से दूर रखने की कोशिश नहीं करता। दो महायुद्धो के बीच मे भारत के जिन महाकवियों ने राष्ट्रीय जागरण से प्रभावित होकर गीत गाये हैं, उनकी आत्मीयता अथवा गेयता कम होने के बदले और बढ गई है। श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर, महाकवि भारती और वल्लतोल इस नवीन गीतात्मकता के उदाहरण हैं।

यहाँ पर यह कहना अप्रासगिक न होगा कि स्वय जनसाधारण में यह गीतात्मकता बहुत बड़ी मात्रामें विद्यमान है। हमारे जनपदों की होली, फाग, कजरी आदि मे गेयता और आत्मीयता दोनों हैं। कभी कभी इनका अभिनव सौदर्य देख कर उच्चकोटि के कलाकार भी ऐसे चमत्कृत रह जाते हैं कि वे समझते हैं कि ख़ुद उनका अपना प्रयास व्यर्थ ही रहा। जनगीतों की लोकप्रियता का कारण भाषा का अनगढ सौंदर्य, अलंकारों की नवीनता और शैली में हृदय ग्राही सरलता ही नहीं है। लोकप्रियता का सबसे

की हरकत को भी हम देखना और समझना चाहते हैं। इसी तरह उपन्यासकार समाज की गति को पहचानता है; अपने पाठको को बताता है कि समाज सही दिशा मे आगे बढ़ रहा है या नहीं। लेकिन इसके साथ-साथ सामाजिक क्रम मे जो हजारों लाखों मनुष्य लगे हुए है, उनके मानस को, संस्कारो को, परिस्थितियों के बीच उनकी प्रत्येक गति और स्पदन को वह देखता और परखता है। तभी उसके साहित्य मे मासलता आती है और वह सजीव रूप से पाठक को आकृष्ट करता है। जो साहित्यकार इन विभिन्न रूपों में ही उलझ कर रह जाता है और उनके फोटो-चित्र देकर ही सतुष्ट रह जाता है, वह कला के उत्कर्ष तक नही पहुँचता। दूसरी तरफ जो सामाजिक सङ्घर्ष की मोटी-मोटी बातो को ही सूत्र रूप में लिख देता है, वह अपनी कला को सजीव नही बना पाता। प्रेमचन्द मे एक ओर प्रगतिशील देशभक्त का दृष्टिकोण है जो विदेशी साम्राज्य-वाद से अपने देश को मुक्त करके नये समाज का निर्माण चाहता है; दूसरी ओर समाज के विभिन्न वर्गों और हज़ारों व्यक्तियों के मानस और उनकी परिस्थितियों का ज्ञान भी उन्हे है। अपनी राष्ट्र-वादी धारणा की सहायता से वे जो कुछ देखते हैं, उसमे परस्पर सम्बद्धता और कलात्मक सामञ्जस्य पैदा कर सकते हैं। उनकी कला उस फोटोग्राफर के लैन्स की तरह नहीं है जिसमे वाह्य जगत् के चित्र इधर-उधर बिखरे हुए एक असम्बद्ध रूप मे सामने आते हैं। उनकी कला वाह्य जगत् के चित्र खींचती है किंतु उनमे परस्पर सम्बन्ध भी स्थापित करती चलती है और इसका कारण उनका वह दृष्टिकोण है जिससे सामाजिक सघर्ष की मूल दिशा को वे पहचानते है। इसके प्रतिकूल बिना सम्बद्धता का विचार किये हुए जो साहित्यकार यथार्थवाद के नाम पर सामाजिक क्रियाओं या व्यक्तियों का असम्बद्ध चित्रण करेगा, उसका चित्रण ऊपर से देखने में

सच्चा लगते हुए भी अवास्तविक होगा। उससे कला में अराजकता उत्पन्न होगी। पच्छिम के कुछ कलाकारो ने इस तरह के प्रयोग किये हैं और कुछ लोग समझते हैं कि उनकी अराजकता का कारण कला के वाह्य रूपो मे उनकी आसक्ति है ; टेकनीक पर जरूरत से ज्यादा ज़ोर देकर उन्होंने ऐसे प्रयोग कर डाले हैं जिनमें विषय गौण बन गया है और कला का वाह्य रूप भी दुरूह हो गया है। वास्तव मे सामाजिक जीवन के प्रति इन कलाकारो का दृष्टिकोण ही भ्रष्ट हो गया है। वे सामाजिक विकास की सम्बद्धता को भूल गये हे और उसे ग्रहण करने मे इसलिये असमर्थ है कि विकासक्रम मे उभरने वाली शक्तियाँ उनके निहित स्वार्थों की विरोधी हैं। उनकी कला मे अराजकता इसलिये नहीं पैदा हुई कि वे कला के वाह्य रूप पर ज्यादा जोर देते हे वरन् इसलिये कि उनमे एक व्यापक दृष्टिकोण का अभाव है जिससे कला का वाह्य रूप भी विकृत हो जाता है।

इसके विपरीत जिन लोगो ने इस व्यापक दृष्टिकोण को अपनाया है, राजनीतिक और सामाजिक उथल-पुथल को हृदयङ्गम किया है, सामाजिक सघर्ष मे उभरने वाली शक्तियो को अपना विरोधी नही समझा है, उनकी कला मे एक नया प्रसार और निखार आया है। यह प्रसार विशेष रूप से कथा साहित्य मे दिखाई देता है। इस युग मे सामाजिक जीवन की विचित्रता और बहुविध सजीवता सबसे अधिक उपन्यासों मे प्रकट हुई है। जर्मनी मे टॉमस मन, फ्रास मे अरानो, अँगरेजी मे प्रीस्टले, रूस मे शोलोखोव कला के इस विस्तार के श्रेष्ठ निदर्शक हैं। उन्होने अपने उपन्यासो मे महाकाव्यों (एपिक) के गुणो को जन्म दिया है। बड़े-बडे उपन्यास लिखने मे यह खतरा रहता है कि जीवन की विविधता दिखाते हुए उसकी सम्बद्धता का लोप न हो जाय। लेकिन इन

कलाकारों ने बिखरे हुए वर्गों, व्यक्तियों उनकी भिन्न-भिन्न परिस्थितियों, भावों, विचारों और कल्पनाओं को एक ही सूत्र में बाँधकर एक ऐसी समर्थ कला को जन्म दिया है जो समुद्र के समान असख्य नदियों का जल समेटते हुए भी अपनी सीमाओं को यत्न पूर्वक बनाये रखती है। कला के इस प्रसार में व्यग्य और हास्य, रौद्रता और आर्द्रता, वाह्य जगत् के यथार्थ चित्र और मनुष्य के अंतस्तल की कोमल भावनायें—सभी के लिये स्थान रहता है। कुल मिलाकर जिस कलात्मक वस्तु का निर्माण होता है, वह जड़ न होकर सचेत और सम्बद्ध इकाई के रूप में हमारे सामने आती है।

सामाजिक विकास के नियमों को समझने से लेखक को क्या लाभ होगा? उसे समाज शास्त्र पर न भाषण देना है, न लेख लिखना है; फिर समाज शास्त्र की पोथी पढ़कर वह समय का अपव्यय क्यों करे? सामाजिक विकास के नियमों को जानने से लेखक को वह पतवार मिल जाती है जिसके सहारे वह जनता के विशाल सागर में अपनी नाव खे सकता है। समाज शास्त्र की पोथी पढने में थोड़ा समय लगाने से वह सामाजिक घटनाओं, व्यक्तियों और वर्गों को उनके उचित सन्दर्भ में देखने की योग्यता पा सकता है। लेखक चाहे किसी छोटी घटना का ही चित्रण करे, वह सफल कलात्मक चित्रण तभी कर सकता है, जब वह उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि को समझे और उस घटना के तत्कालीन तथा भावी प्रभाव और महत्त्व को आँक सके। समाज गतिशील है और जिन भिन्न-भिन्न व्यक्तियों और घटनाओं के सामूहिक रूप में वह गतिशील है, उसे जड़ दृष्टि से देखा और समझा नहीं जा सकता। इसलिये छोटी से छोटी सामाजिक घटना भी एक असम्बद्ध आकस्मिक या सीमित घटना नहीं है। उसका प्रभाव समाज के

शेष जीवन पर भी पड़ता है। इसी प्रकार जिन घटनाओ को हम केवल आर्थिक, सामाजिक या राजनीतिक कह कर उनकी ओर सकेत करते हैं, वे अपने सश्लिष्ट रूप के कारण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित करती है। बगाल का अकाल मूलतः एक आर्थिक घटना थी। अन्न की कमी हुई और लोग भूखों मरने लगे। सभी लोग जानते हैं, इस आर्थिक घटना ने सामाजिक जीवन को भी बुरी तरह हिला दिया था। १९४७ का नर-संहार कभी धार्मिक और कभी राजनीतिक रूप ले लेता है लेकिन उसकी जड़े हमारे नैतिक और पारिवारिक जीवन मे भी दूर तक चली गई हैं। ये वाह्य घटनाये हमारी सामाजिक चेतना पर बहुत गहरा असर डाल रही हैं। इन सब बातो को सगत और सम्बद्ध रूप से देखने-परखने में सामाजिक विकास का ज्ञान हमारी सहायता करता है। यह दृष्टि मिलने पर हम गतिशील समाज की विभिन्न घटनाओं को जड़ रूप मे देख कर संतुष्ट नही रह सकते वरन् उनके गतिशील रूप को भी, शेष सामाजिक जीवन पर उनकी प्रतिक्रिया को भी भली भाँति पहचान सकते हैं।

ऐसे युग बीत गये हैं जब सामाजिक विकास की बागडोर सामती और पूँजीवादी वर्गों के हाथ में थी। मध्यकालीन यूरुप और भारत मे सामती वर्ग ने चित्रकला, स्थापत्थ, शिल्प और साहित्य की रचना में यथेष्ट योग दिया। फ्रास की राज्य क्रांति के बाद यह नेतृत्व पूँजीवादी वर्ग के हाथ में आ गया। उन्नीसवीं सदी मे विज्ञान का व्यापक प्रसार और साम्राज्य विस्तार इस वर्ग की देख-रेख में हुआ। उन्नीसवीं सदी के उत्तर काल और पहले महायुद्ध के बाद भारत में उच्च और मध्यवर्ग सस्कृति का नेतृत्व करने के लिये आये। जैसे-जैसे हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन ने प्रगति की, वैसे-वैसे इस बात की होड़ होने लगी कि उस पर पूँजीवादी विचार धारा की छाप

रहे या जनसाधारण की प्रगतिशील विचार धारा उस पर हावी हो जाय। यह होड अभी समाप्त नहीं हुई और १५ अगस्त १६४७ के राजनीतिक परिवर्तन के बाद यह होड एक सघर्ष का रूप लेने लगी है। पूँजीवादी ही नही, उससे भी पिछड़ी हुई सामतशाही की प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ साम्प्रदायिक विद्वेष की स्वाधीनता-विरोधी धारा मे इस आन्दोलन को डुबा देना चाहती है। उनका प्रयत्न है कि इस नरसहार द्वारा समाज की प्रगतिशील शक्तियो को इतना दुर्बल और क्षीण बना दिया जाये कि वे देश का सास्कृतिक और राजनीतिक नेतृत्व करने मे बिलकुल असमर्थ हो जाये। इस प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रगति के पथ से मोड़कर वे उसे उल्टी दिशा मे बहा ले जाये और तब बाहर की साम्राज्यवादी ताकतो के साथ मिलकर हिन्दुस्तान मे अपनी प्रतिक्रियावादी सत्ता स्थिर कर सके। वर्तमान भारत की इस सामाजिक पृष्ठ-भूमि में आज की प्रत्येक घटना को परखना चाहिये।

यह सोचना बिल्कुल गलत होगा कि ये साम्प्रदायिक शक्तियाँ बे रोक-टोक बढती चली जा रही है और वे बहुत जल्दी हमारे जीवन को आक्रान्त कर लेगी। वास्तव में पग-पग पर इन शक्तियो की बड़ी-बड़ी बाधाओ का सामना करना पड़ता है। प्रतिक्रियावाद मनुष्य की जघन्य, पाशविक प्रवृत्तियों को बार-बार उकसाकर भी मनचाही सफलता नही पाता और बाधाओ से तुरत न जीत कर और भी पागल होकर अपने बर्बर प्रचार मे जुट जाता है। इसका पागलपन, अध प्रचार, गगनभेदी चीत्कार उसकी विजय का परिचायक नहीं है। साम, दाम के असफल होने पर ही मनुष्य दण्ड-नीति का सहारा लेता है। प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने भी जिस तरह मिथ्या प्रचार और उपद्रवों का सहारा लिया है, उससे उनकी उत्कट निराशा का विज्ञापन होता है। ये शक्तियाँ जानती हैं कि भारत का भविष्य

यहाँ के किसानो और मजदूरों की स्वाधीनता का भविष्य है। कोई भी सामंतवाद या पूँजीवाद, बाहर के किसी भी साम्राज्यवाद की शक्ति की सहायता से अधिक दिन तक यहाँ की असख्य श्रमिक जनता को दबाकर नही रख सकता। वह दिन शीघ्र आयेगा जब इस असख्य जनता के सगठित प्रयत्न से ये नरसंहारी अराजक शक्तियाँ परास्त होंगी और भारत की जनता अपने नये स्वतत्र जीवन का निर्माण करेगी। उस उज्ज्वल भविष्य के साथ हमारी सस्कृति और साहित्य का महान् भविष्य भी जुड़ा हुआ है। इसलिये साहित्य मे जनता का चित्रण करते हुए इन प्रतिक्रियावादी शक्तियो के खोखलेपन और प्रगतिशील शक्तियों द्वारा उनके विरोध को हमे आँखों से ओझल न करना चाहिये। आज की उथल-पुथल मे अपनी जनता और साहित्य के उज्ज्वल भविष्य मे विश्वास रखते हुए हमे मानवता के उन सिद्धान्तो की पुनः घोषणा करनी चाहिये जो हमारे नवयुग के जागरण का सम्वल रहे हैं। इस भूमि से आगे बढते हुए अपने देश की जनता का चित्रण करके हम अपने साहित्य को भी उसी के समान अमर और विकासोन्मुख बना सकेंगे।

(सितम्बर '४७)

भाषा सम्बन्धी अध्यात्मवाद

कहने में कितना अच्छा लगता है—साहित्य समाज का दर्पण है और कितने आलोचकों ने नहीं कहा, साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है परन्तु कितने आलोचकों ने अपने कहने की सचाई का अनुभव किया है और अनुभव करके उसके अनुसार आचरण किया है ? समाज मे मनुष्यों के पारस्परिक सबन्ध बदले हैं, उनके भावों और विचारों में परिवर्तन हुए हैं, परिस्थितियाँ बदली हैं, और उनके साथ "मनुष्यत्व" की परिभाषाएँ भी बदली हैं। साहित्य के भाव, विचार, उनको व्यक्त करने के ढंग गतिशील युग-प्रवाहमे बदलते रहे हैं। उनके इस बदलने के क्रम को, इस बहाव को, स्थायी कहा जा सकता है। परन्तु साहित्य और समाज के संबन्ध की यह व्याख्या स्वीकार करनेवाले लोग कम हैं।

सामाजिक परिस्थितियों का जैसा प्रभाव भावों और विचारों पर पड़ता है, वैसा ही उनको व्यक्त करनेवाले शैली, व्यजना के ढङ्ग शब्द-चयन, वाक्य-विन्यास आदि पर भी पड़ता है। गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा था—

"गिरा अरथ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।"

शब्द और अर्थ के परस्पर अटूट सबन्ध को भूलकर ही लोग बहुधा भाव-पक्ष, कलापक्ष आदि अलग-अलग पक्षों की आलोचना करने बैठ जाते हैं। आलोचकों की यह एक "चिरन्तन" प्रवृत्ति है कि वे साहित्य मे "चिरन्तन" सिद्धान्तों की व्याख्या करते हैं और अपने सिद्धान्तों के अमर सत्य में साहित्य की अमरता को बाँधने का प्रयास करते हैं। जिस प्रकार वे एक दूसरे के सिद्धान्तो का खण्डन

करते हैं, उससे यह सिद्ध हो जाता है कि सिद्धान्तों की अमरता अत्यन्त मरणशील है। फिर भी मनुष्य की सहज अमर होने की साध से जैसे प्रेरित होकर वे अमर सिद्धान्तों की खोज मे लगे ही रहते हैं। भावो और विचारो में ऐसे सिद्धान्त निश्चित करने के साथ-साथ वे भाषा सबन्धी सिद्धान्तों की भी सृष्टि करते हैं और अपनी सृष्टि को ब्रह्मा की सृष्टि से कम महत्वपूर्ण नहीं मानते। भाषा-सम्बन्धी यह अध्यात्मवाद युग के साहित्यिक और सामाजिक परिवर्तन-क्रम के साथ बदलता रहता है।

भाषा-सम्बन्धी अध्यात्मवाद के अनेक रूप हैं। कोई कहता है कि कविता की वही भाषा होनी चाहिये जो जनता की भाषा हो। दूसरे कहते हैं, कविता की भाषा साधारण बोलचाल की भाषा से सदा भिन्न रही है और रहेगी। भारतीय आचार्यों ने भावों और विचारों के विभाजन के लिये नौ रसों की व्याख्या की और उनकी सिद्धि के लिये शब्दो की परुषा, कोमला आदि वृत्तियाँ निश्चित कीं। यह विभाजन भावों और विचारों की भिन्नता के साथ शब्द-चयन मे भी आवश्यक परिवर्तन के सिद्धान्त को मानता है। रीतिकालीन कवियों ने शृङ्गार रस को छोडकर अन्य रसों की सिद्धि के लिये केवल शब्द-चयन के एक विशेष क्रम को अपनाया और समझ लिया कि इसी से उन्हे सफलता मिल जायगी। मतिराम, पद्माकर आदि ने भी वीररस के छन्द लिखे, परन्तु उनके वाग्जाल में वह रस न आ सका जो भूषण के छन्दों मे है। भूषण की सापेक्ष सफलता का रहस्य उनकी जातीय भावना है जिसने परुषावृत्ति की विशेष चिंता न करके अपने लिए शब्द-चयन की अनूठी शैली ढूँढ़ निकाली।

भाषा में अत्यधिक मिठास की खोज सामाजिक ह्रास का चिन्ह है। वैसे ही वाक्पटुता, जबान का चटखारा, अत्यधिक परिष्कार और बनाव-सिंगार आदि ऐसे गुण (?) हैं जो पतनकालीन साहित्य

में मिलते हैं। विद्रोही कवि जो नये भाव विचार लेकर आया है, उनके लिए शैली भी ढूँढ निकालता है। रूढिवादी अपने बुढिया पुराण पर आक्रमण होते देखकर उसे भाषा और सस्कृति का शत्रु घोषित करते हैं। हिन्दी के पुराने कवियों मे भाषा को देव-बिहारी से अधिक किसने सॅवारा है, परन्तु साहित्यिक और सामाजिक प्रगति में उनका कौन सा स्थान है ? अग्रेजी साहित्य में पोप से अधिक भाषा को सभ्य और परिष्कृत किसने बनाया है ? परन्तु पोप और उसके साथियों ने ही रोमाटिक कवियो के विद्रोह को अनिवार्य कर दिया और उस रोमांटिक विद्रोह के महत्व को कौन अस्वीकार कर सकता है ?

तुलसीदास ने चाहे स्वांतः सुखाय लिखा हो चाहे बहुजनहिताय, इसमें सदेह नही कि उन्हे अपने आलोचकों से काफ़ी शंका थी और इस शंका को प्रकट करने के लिये उन्होंने मानस में काफी छन्द लिखे हैं :—

"हॅसिहहिं कूर कुटिल कुबिचारी। जे पर दूषन-भूषन-धारी ॥
निज कबित्त केहि लाग न नीका। मरस-होउ अथव अति फीका ॥
जे परभनित सुनत हरषाहीं। ते बर पुरुष बहुत जग नाहीं।"

जबान का चटखारा ढूँढनेवाले कहेगे, चौपाई छंद में अपने "पर-दूषन-भूषन-धारी" इतना बड़ा समास रख दिया है। आप "भाषा" लिख रहे हैं लेकिन शायद विद्वत्ता दिखाने के लिए लम्बे लम्बे समस्त पद भी रखते जाते हैं। दूसरी पंक्ति अच्छी है, लेकिन तीसरी मे "परभनित" क्या बला है। भला कभी कोई परभनित भी कहता है ? वैसाही "बर पुरुष" का प्रयोग है। अगर कोई कहे, हे बर कविजी ! आपने रामचरितमानस नामक बर काव्य लिखकर एक बर कार्य किया है तो आपको कैसा लगेगा ? ऐसे ही आप का

"भाषा-भनित" है। "भ" के अनुप्रास पर आप लट्टू हो गये लेकिन यह न देखा कि भाषा-भनित कोई कहता भी है या नहीं। आपने ठीक लिखा है, "हँसिबे जोग हँसे नही खोरी।" आपके इस महाकाव्य में मुश्किल से डेढ सौ पंक्तियाँ ऐसी निकलेगी जो बोलचाल की भाषा मे साधारण वाक्य-रचना के नियमों के अनुसार लिखी गई हों। देखिए बोलचाल की भाषा मे सफल वाक्य-रचना यों होनी है—

"कच समेटि भुज कर उलटि, खरी शीस पट डारि।
काको मन बाँधै न यह, जूरौ बाँधनिहारि॥"

क्या दोहा लिखा है जैसे कमान से तीर निकल गया हो। जूड़ा बाँधने और मन बाँधने के "चमत्कृत" प्रयोग पर जरा ग़ौर फरमाइए!

ऐसे आलोचकों को हम गोस्वामीजी के शब्दों मे "कुटिल कुबिचारी" ही कहेंगे।

तुलसीदास और बिहारी दोनो ही अपनी अपनी भाषा-शैलियों के सफल कवि हैं। उन शैलियो मे उनसे अधिक किसी दूसरे को सफलता मिली ही नहीं। बिहारी के दोहों की भाषा मानस की भाषा की अपेक्षा बोलचाल की भाषा के अधिक निकट है। दोनो को मिलाकर देखने से स्पष्ट हो जायगा कि तुलसीदास ने अधिकतर अपनी भाषा गढ़ी है और उनकी पद-रचना गद्य की भाषा के बहुत कुछ प्रतिकूल है, फिर भी भारतीय जनता को जितना उनके "अटपटे बैन" प्रिय हैं, उतना "जूरौ बाँधनिहारि" पर फिदा हो जानेवाले कवि के नहीं। इन दोनों कवियों के भाषा-सम्बन्धी भेद का कारण उनकी संस्कृति और विचारधारा का भेद है। वही भेद जिसे हम Romanticism और Neo-classicism के शब्दों द्वारा व्यक्त करते हैं।

बिहारी ने अपनी सतसई इसलिये लिखी थी—

"हुकुम पाय जै साह को, हरि-राधिका प्रसाद।
करी बिहारी सतसई, भरी अनेक सवाद॥"

जै साह का हुकुम पहले है, हरि-राधिका का प्रसाद पीछे। सतसई की रचना एक दरबारी कवि ने अपने अन्नदाता को रिझाने के लिये की है। उसने इस बात की पूरी चेष्टा की है कि उसकी रचना सरल हो, उसमें चमत्कार हो और अन्नदाता के हृदय में थोड़ी गुदगुदी हो जिससे दोहा कहते ही उसकी थैली से स्वर्णमुद्रायें निकल पडे।

तुलसीदास किसी जै साह या अकबर शाह का मुँह देखने न गये थे। उन्होंने अकबर के साम्राज्य में जनता की निर्धनता को देखा था। वह स्वय ऐसी श्रेणी के व्यक्तियों में थे जिनके लिए चार दाना अन्न ही चारों फल—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—के बराबर होता है।

वह जानते थे कि "साथरी को सोइबो ओढिबो झूने खेस को" क्या होता है। अन्न के लिए लोगों को आत्मसम्मान बेचते उन्होंने देखा था। इसीलिए लाछना के स्वर में उन्होने कहा था—

"जनि डोलति लोलुप कूकर ज्यों,
तुलसी भजु कोशलराजहिं रे।"

जनता के और अपने आत्मसम्मान की रक्षा के लिए उन्होंने कोशलराज की शरण ली। अकबर को जैसे चुनौती देकर उन्होंने अपने आदर्श सम्राट् के लिए लिखा—

"भूमि सप्त सागर मेखला।
एक भूप रघुपति कोसला॥"

फिर मानों इससे भी सतुष्ट न होकर उन्होंने कहा—

"भुवन अनेक रोम प्रति जासू।
यह प्रभुता कछु बहुत न तासू॥"

तुलसीदास ने दुनिया की ठोकरे खाई थी। भक्ति की शिला पर वे इन सब आघातो को व्यर्थ कर देना चाहते थे। अवश्य ही राम का नाम लेने से समाज के आर्थिक कष्ट कम न हो सकते थे। कवि चाहे जितना कहे कि नाम के भरोसे उसे परिणाम की चिंता नही है, परन्तु परिणाम तो सामने आयेगा ही। दरिद्रता से क्षुब्ध होकर तुलसीदास ने राम-राज्य की सृष्टि की; उसके मनोहर गीत गाये। परतु उनकी रामभक्ति किसी रोमाटिक कवि के पलायन की भाँति निर्जीव क्यों नहीं है? उनकी कविता की सजीवता का और उनके रामचरितमानस के सामाजिक महत्त्व का यही कारण है कि वह एक विद्रोही कवि थे। अपने आत्मसम्मान की रक्षा के लिए उन्होंने निर्धन बने रहना स्वीकार किया। उनकी वाणी ने साधारण जनता मे आत्म-सम्मान की भावना पैदा की। क्षुद्र से क्षुद्र मनुष्य मे भी यह भाव पैदा कर दिया कि वह अपनी भक्ति से समाज के बडे से बडे लोगों की बराबरी कर सकता है।

अन्य विद्रोही कवियो की भाँति तुलसीदास की भाषा भी सब कहीं एक सी नही है। कहीं वह सस्कृत-बहुल है, कहीं साधारण बोल-चाल की सी है, कहीं फीकी भी है। बिहारी मतिराम या देव की सी वाक्पटुता का उसमें प्रायः अभाव है। विनयपत्रिका के अनेक उत्कृष्ट पदो मे ऐसा लगता है जैसे हृदय के आवेग से शब्द-प्रवाह अपनी सीमाएँ तोड़ रहा हो।

"ज्यों-ज्यों निकट भयो चहौ कृपालु, त्यों-त्यो दूरि-दूरि परयो हौ।
तुम चहुँ जुग रस एक राम हो हूँ रावरो, जदपि अघ अवगुननि भरयो हौ॥
बीच पाइ नीच बीच छरनि छरयो हौ।
हौ सुबरन कियो नृपते भिखारी करि, सुमति ते कुमति करयो हौं॥"

इस तरह की पक्तियो में बिहारी के दोहों जैसी स्वच्छता नही है। उनमें एक अनियंत्रित सा स्वर-प्रवाह है जो असाधारण अनुभूति

का परिचायक है और मनुष्य की उन भावनाओं के अधिक निकट है जो छिछली और बनावटी नहीं हैं।

प्रत्येक समर्थ कवि की भाँति तुलसीदास भाषासबन्धी अध्यात्म-वाद को छिन्न-भिन्न कर देते हैं। व्यग्य और हास्य की पक्तियों मे उनकी भाषा साधारण बोलचाल की सी हो जाती है—

"टूट चाप नहि जुरिहि रिसाने। बैठिअ होइहिं पॉय पिराने।"

दोहा और चौपाई जैसे छदो मे लबे समस्त पद देते हुए उन्हे हिचक नही होती।

"रामचन्द्र मुखचन्द चकोरा", "सरद-सर्बरी नाथ मुख" "सरद-परब-बिधु-बदन बर", "तरुन-तमाल-बरन" आदि

समस्त पद प्रति पृष्ठ मे बिखरे हुए मिलेगे। शब्द-चयन मे उन्होंने इस बात की चिता नहीं की कि गद्य मे या बोल-चाल में इन शब्दो का इसी प्रकार प्रयोग होता है या नही। यदि देश में उन पर देवता के ही समान लोगों का श्रद्धाभाव न होता तो अवश्य कोई ड्राइडेन जैसा कवि यह चेष्टा करता कि उनकी भाषा को फिर गढकर उस आदर्श तक लाये जो बिहारी के दोहों मे चमका है।

शेक्सपियर इग्लैंड का एक प्रकार से राष्ट्रीय कवि है। अपने साहित्य पर अभिमान प्रकट करने के लिए अग्रेज शेक्सपियर का नाम लेना काफ़ी समझते हैं। इसलिये अग्रेज आलोचको द्वारा शेक्सपियर की छीछालेदर कम हुई है। फ्रास और जर्मनी के रीतिकालीन आलोचकों ने उसकी भाषा और भावों की खूब खबर ली थी। फिर भी १८ वीं शताब्दी के अग्रेज़ आलोचकों ने भाषा और भाव की नफ़ासत खोजते हुए उसकी रचनाओं मे कम नुक्ताचीनी नहीं की। जॉनसन उस समय के सबसे बड़े आलोचक थे। शेक्सपियर के वह प्रशसक

थे। लेकिन शेक्सपियर के शब्द-प्रयोग पर उन्हे हॅसी आ जाती थी। मैकबेथ की सुप्रसिद्ध पक्तियाँ हैं—

"Come, thick night !
And pall thee in the dunnest smoke of hell,
That my keen knife
See not the wound it makes,
Nor heaven peep through the blanket of the dark,
To cry, Hold, hold !"

जॉनसन ने स्वीकार किया है कि इन पक्तियों में महान् कविता है परन्तु शब्द-चयन उन्हे पसद नही आया। रात्रि का चित्र उन्हे पसद आया है, परन्तु "dun" विशेषण ऐसा है जो अस्तबलों मे अधिक सुना जाता है। इसलिए उसका प्रभाव कम हो गया है। ऐसे ही knife शब्द पर उन्हे आपत्ति है। यह शब्द सरल तो है परन्तु फूहड़ है। क्योंकि कसाई और रसोइये इस अस्त्र का प्रयोग करते हैं। Heaven के दंड से मैकबेथ बचना चाहता है, लेकिन "who, without some relaxation of his gravity, can hear of the avengers of guilt peeping through a blanket ?" दंड देनेवाले को कंबल मे से झॉकते देखकर किसे हॅसी न आ जायगी ? यदि भाषा-सबन्धी परिष्कार की भावना शेक्सपियर के समय मे वैसी ही होती, जैसी जॉनसन के समय मे थी, तो शेक्सपियर के महान् नाटक कभी न लिखे जाते। शेक्सपियर से पूर्ण सहानुभूति होते हुए भी जॉनसन के लिए उसके महान् दुःखान्त नाटकों को पूरी तरह हृदयंगम करना कठिन था। शेक्सपियर के हास्यरस-पूर्ण और सुखान्त नाटकों से

उन्हे अधिक प्रेम था। इसका कारण यही था कि उन पर एक ऐसी सस्कृति छा गयी थी जिसमें भाषा के ऊपरी बनाव-सिगार को अत्यधिक महत्त्व दिया गया था, परन्तु गंभीर भावों और विचारों तक जिसकी पहुँच न थी। शेक्सपियर के दुःखान्त नाटकों में जॉनसन को प्रयास के चिह्न दिखते थे, मानों शेक्सपियर जो कहना चाहता है, उसे नही कह पा रहा। सुखान्त नाटकों मे बात यह न थी। "In his tragic scenes there is always something wanting, but his comedy often surpasses expectation or desire." उन्नीसवीं शताब्दी के आलोचकों ने इस धारणा को बदल दिया।

समाजवादी और प्रगतिशील कवियों के लिए न तो रोमाटिक कवि आदर्श हैं न रीतिकालीन। परन्तु दोनों की तुलना मे अधिक महत्त्व रोमाटिक कवियों को ही दिया जायगा। रीतिकालीन कवियो की सस्कृति ही ऐसी होती है कि प्रत्येक देश और समाज का भला चाहनेवाला उसका शत्रु हो जायगा। उनकी भाषा पर दरबारी सस्कृति की गहरी छाप रहती है, इस बात से कौन इन्कार करेगा? प्रगतिशील कवि के लिये भाषा को सरल और सुबोध बनाना आवश्यक है। परन्तु रीतिकालीन और डिकेडेट कवियों की भाषा-माधुरी से उसे बचाना होगा। इगलैंड मे ऑस्कर वाइल्ड, ओ शौनेसी, पेटर आदि इसी तरह के डिकेडेट साहित्यिक थे। पुराने कवियों से भाव चुराकर उन्होंने भाषा और शैली में एक बनावटी मिठास पैदा कर दी थी। उनका आदर्श स्वस्थ साहित्य के लिये घातक है। ऐसे ही रीतिकालीन दरबारी कवियो का आदर्श यह रहा है कि जो कुछ वे कहे उसमें चमत्कार अवश्य हो, जिससे सुनने वाले वाह-वाह कर उठे! जो बात कही जाय वह चाहे महत्त्व-पूर्ण न हो, कहने का ढंग अनोखा होना चाहिए। इस रीतिकालीन

आदर्श को साहित्य के लिए चिरतन मान लेना साहित्य के विकास में काँटे बिछाना है।

आधुनिक हिन्दी के रोमाटिक कवियो ने रीतिकालीन परपरा के विरुद्ध क्राति की है। उनकी भाषा मे उतना ही अटपटापन है जितना संसार की अन्य किसी भाषा के रोमाटिक कवियो मे। उन्होंने भाषा को एक नया जोवन दिया है। विचारो मे एक क्रान्ति की है। हिन्दू, ईसाई, मुसलमान धर्मों और मतमतान्तरो की सीमा-रेखाएँ ध्वस्त करके उन्होंने एक मानव-सुलभ सस्कृति की नीव डाली है। प्रत्येक रोमाटिक आन्दोलन की भाँति सघर्ष से दूर भागने की प्रवृत्ति भी उनमे है। परन्तु इन रोमाटिक कवियों मे से ही कुछ ने पूर्व-विद्रोह को आगे बढ़ाते हुए उस प्रवृत्ति का गला घोट दिया है। इन्हे भाषा सिखाने के लिए उस्ताद ज़ौक या उस्ताद दाग या उनके नक्कालों की जरूरत नहीं है। एक नवयुवक कवि ने अपने साथियो को चुनौती दी है—

"ओ धनी कलम के, आँख खोल,
अब वर्तमान बन! सत्य बोल!
इस दुनिया की भाषा मे कुछ
घर की कह समझे घर वाले।
उनके जीवन, की गाँठ खोल।"

उसके साथी नवयुवकों ने इस चुनौती को स्वीकार किया है। नये साहित्य मे ये लोग जो काम कर रहे हैं, उसे कोई भी आँखवाला देख सकता है।

(१९४३)

कविता में शब्दों का चुनाव

सुप्रसिद्ध फ्रासीसी लेखक फ्लॉबर्ट के अनुसार हम एक ही सज्ञा द्वारा अपने विचार व्यक्त कर सकते हैं, एक ही क्रिया उस विचार को गति दे सकती है और केवल एक विशेषण उसकी व्याख्या कर सकता है। फ्लॉबर्ट के इस सिद्धान्त को क्रियात्मक व्यवहार द्वारा चरितार्थ करनेवाले उसके अतिरिक्त अनेक देशी और विदेशी लेखक हुए हैं। उन्होने अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त शब्दों को रखने की चेष्टा की। अनेक स्थलों पर यह खोज साधारण बुद्धिमत्ता का अतिक्रमण करके हास्यास्पद भी हुई है। परतु सच पूछा जाय, तो सब काल, सब देशो में कवि यही करते चले आये हैं। फ्लाँबर्ट गद्य-लेखक था, पर वह गद्य को भी वैसे ही कलात्मक ढग से लिखना चाहता था, जैसे एक कवि अपनी कविता को। कवि की शिक्षा-दीक्षा के अनुसार उसका शब्द-भाडार सकुचित अथवा विस्तृत होता है, उसी मे से चुन-चुनकर वह अपने भावों के लिए शब्द-सकेतों को इकट्ठा करता है। बहुधा उसकी भावाभिव्यक्ति के लिए उसके सामने अनेक शब्द आते हैं, परन्तु उनसे उसे सतोष नही होता। अपनी प्रतिभा के अनुसार वह ऐसे शब्दों को खोज निकालता है, जो उसके भावों को उसकी अनुभूति के अनुकूल पाठक के हृदय मे उतारते हैं। शब्द-संकेतों के बिना दूसरा व्यक्ति कवि के भावो को समझ नहीं सकता। अतः कवि की कला का एक प्रधान अग शब्दो का चुनाव है। वह भावुक अथवा विचारक होकर भी तब तक सफल कवि नही हो सकता जब तक अपने भावों और विचारों को भाषा मे मूर्त करने के लिए

उचित से उचित शब्दों को न चुन सके। बड़े कवि वे होते हैं, जिनके भावों और विचारों के साथ उनकी भाषा मे शिथिलता नही आने पाती। उनका शब्दों पर ऐसा अधिकार होता है कि वे, उनकी रुचि पर निर्भर, उनकी आज्ञा का पालन करते हैं। उनमे ऐसा जीवन रहता है कि वे कवि के अर्थ को पुकारते चलते हैं। हमे यह भासित हो जाता है कि उसने उचित संकेत पर उँगली रक्खी है, उससे इतर शब्द उस स्थान पर कदापि उपयुक्त न होता। निम्न श्रेणी के कवियों मे ऐसा सामंजस्य कम मिलता है। यदि उनका शब्दों पर अधिकार है, तो भावों और विचारों की कमी है, यदि भाव और विचार हैं तो सुचारु शब्द-चयन नहीं है। जहाँ उनका सम-सामंजस्य हो जाता है, वहाँ सुन्दर कविता की सृष्टि होती है।

शब्द चुनते समय कवि का ध्यान सबसे पहले उनके अर्थ की ओर जाता है। एक ही अर्थ के द्योतक बहुधा अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं, परन्तु वह उनमे से किसी एक को लेकर अपना काम नही चला सकता। समान अर्थ होने पर भी उनके प्रयोग मे यत्किंचित् विभिन्नता होती है। जैसे मुक्त, स्वतन्त्र, स्वच्छन्द, अबध आदि शब्द एक अर्थ बताते हुए भी अपनी अपनी कुछ लघु अर्थ-विशेषता रखते हैं। निम्न पंक्तियों मे 'मुक्त' शब्द का प्रयोग किया गया है, वहाँ स्वच्छद रखने से अर्थ का अनर्थ हो जाता।

"पर, क्या है,
सब माया है—माया है,
मुक्त हो सदा ही तुम,"—(निराला)

शब्दो का अर्थ जन प्रयोग पर निर्भर रहता है। शब्द संकेत-मात्र हैं और अर्थ-विशेष के द्योतक इसलिये होते हैं कि सब लोग वैसा मानते हैं। मेरी एक भांजी है, वह बचपन मे शक्कर को कड़ुआ और मिर्च को मीठा कहती थी। उसको किसी ने ऐसा ही

सिखा दिया था। बाद को उसे यह सीखने में कुछ अड़चन मालूम हुई कि शक्कर कड़ुई नहीं, मीठी होती है। जन-प्रयोग से शब्दो के बहुधा कुछ से कुछ अर्थ हो जाते हैं, जैसे पुंगव से पोंगा। विद्वानों को अपना व्याकरण-ज्ञान एक ओर रख कर ऐसे स्थलों में शब्द का प्रयुक्त साधारण अर्थ ही ग्रहण करना पड़ता है। ऐसा भी देखा गया है कि प्रतिभाशाली कवि शब्दों के बिगड़े प्रचलित अर्थ को छोड़कर उनके ठेठ व्याकरणसिद्ध अर्थ को ही अपनी कृतियो मे मान्य रखते हैं। अँगरेजी मे एक प्रसिद्ध उदाहरण मिल्टन का है। लैटिन-शब्दो का प्रयोग उसने उनके धात्वर्थानुसार किया है। इसलिए बिना टिप्पणीकार की सहायता के उसकी कविता का अर्थ केवल अँग्रेज़ी का ज्ञान रखने वालो की समझ में ठीक-ठीक नही आ सकता। हिन्दी मे अकसर ऐसे श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग किया जाता है, जिनका एक अर्थ प्रचलित होता है, दूसरा धातु प्रत्यय के अनुसार। निरालाजी ने 'भारत,' 'नभ' आदि शब्दो का इसी भाँति प्रयोग किया है। कहीं-कहीं केवल धात्वर्थ ग्रहण किया है, जैसे—

'वसन विमल तनु वल्कल,

पृथु उर सुर पल्लव-दल,"—में सुर शब्द का।

ऐसे स्थलो में पाठक के लिए यह खतरा रहता है कि वह धात्वर्थ करते समय कवि के अभीप्सित अर्थ को छोड़कर कोई और दूसरा ही अर्थ निकाल ले और अपनी प्रतिभा को कवि की प्रतिभा समझने लगे अथवा जहाँ कवि चाहता था कि शब्द का प्रचलित अर्थ ही लिया जाय, वहाँ वह एक दूसरा अर्थ खोज निकाले।

शब्द के अर्थ के पश्चात् कवि उसकी ध्वनि, उसमे व्याप्त सगीत का विचार करता है। अनेक शब्दो की उच्चारण-ध्वनि और उनके अर्थ में साम्य दिखाई देता है। जैसे "कोमल" शब्द की उच्चारण-मधुरता उसके अर्थ से सहानुभूति रखती है। 'हलचल', 'उथल-

पुथल', 'बकबक', 'टें टें' आदि का शब्द ही उनका अर्थ बताता है। अपनी कला का ज्ञाता कवि शब्दों का इस प्रकार प्रयोग करता है कि उच्चारण-ध्वनि उनके अर्थ को और बढा देती है। वह स्वर और व्यंजनों की शक्ति को पहचानता है, अपना भाव स्पष्ट करने के लिए ध्वनि का उतना ही आश्रय लेता है, जितना अर्थ का। पंतजी ने "पल्लव" के प्रवेश में लिखा है, किस भाँति

"इन्द्रधनु-सा आशा का छोर
अनिल में अटका कभी अछोर"—

में "आ का प्रस्तार आशा के छोर को फैलाकर इंद्रधनुष की तरह अनिल में अछोर अटका देता है"। गोस्वामी तुलसीदास में स्वर-विस्तार द्वारा भावव्यंजना के अनेक सुन्दर उदाहरण हैं, जैसे—

"केहि हेतु रानि रिसानि
परसत पानि पतिहि निवारई"—

में 'आ' का विस्तार राजा के हाथ बढ़ाने को और रानी के उसके दूर हटाने को भली भाँति व्यक्त करता है। इसी भाँति व्यंजनों को एकत्र करके कवि अपने अर्थ की पुष्टि करता है। कुशल कलाकारों में स्वर-व्यंजनों का चयन यथासाध्य गोप्य रहता है। वे शब्दों का हमारे ऊपर यथेच्छ प्रभाव डालते हुए भी हमें यह नहीं जानने देते कि वैसा चुनाव उन्होंने जान-बूझकर किया है। शब्दों की ध्वनि का ऐसा अदृश्य, अस्पृश्य प्रभाव हमारे ऊपर पड़ता है कि उसका विश्लेषण करना प्रायः असंभव रहता है। शब्द-संगीत और शब्दार्थ में पारस्परिक मैत्री वाञ्छनीय जान पड़ती है। अर्थ छोड़कर अथवा उसे गौण मानकर जब कवि केवल शब्द-संगीत द्वारा अपनी बात कहना चाहता है तो उसका कार्य अत्यन्त कठिन हो जाता है। कविता में वह संगीत की भावोत्पादकता लाना चाहता है। अनेक

कलाकार इसमे सफल भी हुए है। शब्दो के अर्थ की अपेक्षा उनका सगीत कवि के भावो को व्यक्त करने मे अधिक समर्थ हुआ है। परन्तु अधिकाश सानुप्रास शब्दो का बहुल प्रयोग करके शब्द-मोह के कारण कविता को वास्तविकता से दूर भी जा पडे है।

कहा जाता है कि शब्दो की उच्चारण-ध्वनि मे कवि उनके रूप, रग, आकार आदि भी देख सकता है। "पल्लव" के प्रवेश मे पतजी ने शब्दो की ध्वनि के अनुसार उनके रूप, रग और आकार को पहचानने की चेष्टा की है। ऐसा करना बहुत कुछ कवि के सूक्ष्म भावग्रहण पर निर्भर है, यद्यपि उसके भी वैज्ञानिक कारण हो सकते हैं। पतजी ने प्रभजन, पवन, समीर आदि का अलग-अलग रूप निश्चित किया है। 'हिलोर' से भिन्न 'बीचि' उनके अनुसार जैसे किरणों मे चमकती हुई हो। फ़ासीसी कवि बोदलेयर के अनुसार उपयुक्त शब्दो का चयन करके भिन्न रगोवाले चित्र खींचे जा सकते है ; मूर्त अर्थ द्वारा कहकर नही, वरन् शब्द की ध्वनि से इगित होकर। उसका कहना था कि शब्दो की ध्वनि मे रेखाएँ भी होती हैं। उनके द्वारा रेखागणित के आकार बनाये जा सकते हैं।

पाश्चात्य कलाकारो—विशेषकर १९वी शताब्दी के रोमांटिको—ने ललित कलाओं की सीमाओ को भग करने की चेष्टा की थी। कार्नडिन्स्की (Karndinsky) नामक कलाकार ने सगीत को चित्रित करने का प्रयत्न किया था, उसके अनुसार हल्के नीले रग में फ्लूट की ध्वनि निकलती है, अत्यन्त गहरे नीले मे आर्गन की, और भी इसी भाँति। निरालाजी को मैंने यह अनेक बार कहते सुना है कि उन्हे किन्ही विशेष कवियो की कविता विशेष रगो मे रँगी जान पड़ती है। भवभूति की जैसे काले रग मे, कालिदास की नीले रग में। जो कुछ भी हो, शब्दो मे चित्र और सगीत कला के भी तत्त्व निहित हैं और सूक्ष्म मनोवृत्तियोंवाला कवि उनका प्रयोग करता है।

साधारणत. कुछ शब्द दूसरों से अधिक कवित्वपूर्ण माने जाते है। ऐसा उनकी सुन्दर ध्वनि, अर्थ आदि के कारण होता है। कवि के लिए उन शब्दों का प्रयोग अधिक सरल होता है, जिनका एक बार कवित्वपूर्ण ढग से प्रयोग हो चुका हो। चद्रमा, वसत, शीतल मद पवन आदि न जाने कब से शृङ्गार के उद्दीपन विभाव होते चले आ रहे हैं। इसलिये कवि जाडे मे भी शृङ्गार-वर्णन के लिये वसन्त की कल्पना करता है, अँधेरी रात मे भी पूर्ण चन्द्र की। इनका शृङ्गार-भावनाओं के साथ ऐसा नाता जुड गया है कि उनका नाम लेने से वे भावनाएँ सहज ही जगाई जा सकती हैं। इस प्रकार के प्रतीकों के प्रयोग से कवि के लिये लाभ-हानि, दोनों सम्भव हैं। नया प्रतीक खोज निकालने की अपेक्षा पुराने का प्रयोग करना अवश्य ही सरल है। साथ ही जो लोग उसके एक बार आदी हो गये हैं, वे उसे आसानी से समझ सकते हैं, परन्तु जब उसका बहुत बार प्रयोग हो चुकता है तो उसका जीवन नष्ट हो जाता है। उदाहरण के लिए कमल इतनी बार सुन्दर मुख, लोचन, चरण आदि का प्रतीक हो चुका है कि अब उसमे कोई चमत्कार नहीं रहा। कमल कितना सुन्दर होता है, उसकी गध कितनी मधुर,—कमल कहने से अब साधारणत. इन बातों का सुननेवाले को अनुमान नहीं होता। एक प्रकार से तो कविता मे सभी शब्दों का प्रयोग हो सकता है, कलाकार के लिये कुछ भी असुन्दर नहीं, पर ऐसा वह अपने सदर्भ के अनुसार कर सकता है। अनेक शब्द ऐसे हैं, जिनका हँसी, व्यग्य आदि की हल्की कविता मे प्रयोग समीचीन होता है, उच्च भावों, विचारोंवाली कविता मे नहीं। उनका ऐसी वस्तुओं से सम्बन्ध रहता है, जिनका स्मरणमात्र ऊँची कविता के प्रभाव मे घातक हो सकता है। जैसे श्रीसियारामशरणजी गुप्त की इन पक्तियों मे ऐसे प्रतीकों का प्रयोग हुआ है, जो कविता के प्रभावोत्पादन में बाधक होते हैं—

"चक्रपाणिता तज, धोने का
पाप-पक के परनाले,
आहा! आ पहुँचा मोहन तू
विप्लव की झाड़ूवाले।"—

(शुभागमन)

यहाँ झाड़ू और परनाले के प्रतीक अपने निम्न नाते-रिश्तों (Associations) के कारण "मोहन" का ससर्ग पाकर भी नहीं चमक उठते। परतु प्रतिभाशाली कवि सदा से कविता के योग्य न समझे जानेवाले शब्दों का साहस के साथ प्रयोग करते चले आये है। ऐसा न करने से कविता का जीवन नष्ट हो जाय और थोड़े मे शब्दों को कवित्वपूर्ण जान कर कवि उन्हीं का लौट-फेर कर प्रयोग किया करे। कवि का स्पर्श पाकर क्षुद्र से क्षुद्र शब्द भी चमत्कार कर सकते हैं।

कवि अपना शब्द-भडार बढाने के लिए अनेक उपाय करता है। साधारण बोल-चाल के शब्द उसके जाने हो होते हैं, पुस्तकें पढकर वह और भी अपने काम के शब्द चुनता रहता है। उसके शब्दो को हम मुख्यतः इन श्रेणियो मे विभाजित कर सकते हैं।

(१) ऐसे शब्द, जिन्हे वह किसी मृत पुरानी भाषा से लेता है, जिसका उसकी भाषा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अँगरेज लेखकों ने इस प्रकार लैटिन से तमाम तत्सम शब्द लिये हैं। हिन्दी-कवियों ने सस्कृत से शब्द लेकर अपने भाडार को भरा है। साधारण भाव व्यजना के लिए ऐसे शब्द दरकार नहीं होते, दार्शनिक किंवा उच्च विचारों की अभिव्यक्ति के लिये कवि को दूसरी भाषा के भरेपूरे कोष की सहायता लेनी पड़ती है। तत्सम शब्दों का प्रयोग करते समय कवि को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह अपनी

भाषा में उन्हें इस प्रकार लाये कि उसकी जातीयता नष्ट न होने पावे। मिल्टन ने लैटिन शब्दों का बहुतायत से प्रयोग किया है। उस पर यह अभियोग लगाया जाता है कि उसने अँगरेजी के जातीय जीवन का ध्यान नहीं रक्खा। "सुधा" में प्रकाशित निरालाजी के "तुलसीदास" की भाषा भी कहीं-कहीं इसी दोष से दूषित हो गई है। संस्कृत-शब्द-बाहुल्य से हिन्दी की स्वतंत्रता दब गई है। प्रसादजी के नाटकों में संस्कृत शब्दावली नहीं अखरती। उनमें लिखित घटनाएँ इस काल की नहीं, चंद्रगुप्त और अजातशत्रु को आज की चलती भाषा में बात करते हुए सुनकर हमें उनकी सत्ता पर संदेह हो सकता है। कलाकार ने विषय के साथ भाषा में तदनुरूप विचित्रता ला दी है।

(२) दूसरी भाषा के पास न जाकर कवि अपनी भाषा के पुराने भूले हुए शब्दों को पुनर्जीवित करता है। ऐसे शब्दों का प्रयोग किसी पुराने विषय पर लिखते समय कवि की कला को चमका देता है। अप्रचलित शब्दों के कारण पाठक अपने युग से दूर बीती हुई बातों के वायुमण्डल में पहुँच जाता है। यदि सभी शब्द अप्रचलित हों, तो वह उन्हें समझ न सकेगा। कुछ के होने से कवि की कृति में पुरानेपन का उसे आभासमात्र मिलता रहता है। १६वीं शताब्दी के जिन अँगरेज लेखकों ने पुराने गीतों (Ballads) के अनुसार कविताएँ लिखीं, उनमें से अधिकांश ने पुराने (Archaic) शब्दों का बड़े कलापूर्ण ढंग से प्रयोग किया है।

(३) कवि ग्राम्य शब्दों को भी अपनी भाषा में स्थान देते हैं। कुछ ग्रामीण प्रयोग ऐसे होते हैं, जिनके समानार्थवाची शुद्ध शब्द भाषा में नहीं मिलते। तुलसीदासजी ने अवधी के ग्रामीण शब्दों का प्रयोग किया है। श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त की कृतियों में बुन्देलखंडी के शब्द मिल जाते हैं। यदि गाँवों के सम्बन्ध में कोई बात लिखनी

हो, तो वहाँ उनका उचित स्थान है ही, वैसे भी परिमित मात्रा में प्रयुक्त होने से अपनी भाव-व्यंजना की विशेषता आदि गुणों के कारण वे मार्जित भाषा में अपने लिए जगह बना सकते हैं।

कवि की भाषा चाहे सरल हो चाहे कठिन, शब्दों के चुनाव में उसे समान कठिनता हो सकती है। सरल भाषा सरलतापूर्वक सदा नहीं लिखी जाती। बहुधा बड़ी-बड़ी बातें ऐसे सरल शब्दों में लिखी जाती हैं कि लोग भाषा से धोखा खाकर उस सरलता के भीतर पैठने की चेष्टा नहीं करते। भावों की गहनता, सूक्ष्मता या उच्चता के साथ भाषा सरल रहे, साथ ही शिथिल भी न हो, अत्यंत दुष्कर है। इसकी सफलता का एक उदाहरण रामचरितमानस है। गर्जन-तर्जन करनेवाले बड़े शब्दों में वैसे भाव भरना आसान नहीं। यदि कवि का विषय गहरा या ऊँचा नहीं, तो कठिन अप्रचलित शब्दों का प्रयोग, केवल उनकी उच्चारण-ध्वनि के लिए क्षम्य नहीं माना जा सकता। कवि का कर्तव्य यह है कि वह अपनी अनुभूति को उचित शब्द-संकेतों द्वारा हमारे सामने रक्खे।

जुलाई '३६

संस्कृति और फासिज़्म

अपनी असगतियों से छुटकारा पाने के लिये जब पूँजीवाद जनतंत्र का नाश करके युद्ध की ओर बढ़ता है, तब उसका फासिस्ट रूप प्रकट होता है। यह कोई नया वाद, नयी संस्कृति या नयी समाज-व्यवस्था नहीं है। अपने विकास के लिये आरंभ में पूँजीवाद जनवादी परम्परा को जन्म देता है लेकिन बार-बार आर्थिक संकट पड़ने से जनवादी परम्परा द्वारा उसे अपना विनाश दिखाई देने लगता है। समाज के पीड़ित वर्गों को इन संकटों से बार-बार धक्का लगता है, वे उनसे बचने के लिये एक नयी व्यवस्था की ओर बढ़ते हैं। जनवादी परम्परा इसमें सहायक होती है। इसलिये फासिज़्म सबसे पहले नागरिकता के अधिकारों को खत्म करता है, जनवादी विधानों को नष्ट कर देता है, हिंसा और दमन के जरिये वह समाज पर बड़े-बड़े महाजनों और पूँजीपतियों की तानाशाही क़ायम करता है। इसीलिये फासिज़्म जनतंत्र का सबसे बड़ा दुश्मन है।

यह तानाशाही कायम करने के लिये समाज को प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ तरह-तरह के भुलावे पैदा करती हैं। एक भुलावा जाति, नस्ल या खून का है। जर्मन फासिस्टों ने अपने अनुयायियों को बताया कि हम संसार की सर्वश्रेष्ठ जाति हैं और हमें ईश्वर ने इसीलिये बनाया है कि हम संसार की क्षुद्र जातियों पर शासन करें। जीव-विज्ञान और समाज-शास्त्र को इस तरह तोड़ा-मरोड़ा गया कि जर्मन-रक्त की यह विशेषता वैज्ञानिक रूप से सिद्ध हो जाय। इसी तरह इटली के फासिस्टों ने अपने रोमन पुरखों के गीत गाये और दूसरों पर शासन करने के योग्य एकमात्र अपनी जाति को घोषित

किया। जापान मे इन्ही के भाई-बन्दो ने अपने को सूर्य की सन्तान बताया और इस आधार पर एशिया के नेता बनने चल पडे। इस तरह की कल्पनाये विज्ञान और इतिहास के बिल्कुल विरुद्ध हैं, परतु इनके प्रचार से अध-विश्वासो को जगाया गया और उसी अधपन के सहारे फासिस्ट नेताओ ने अपनी और बाकी दुनिया की जनता को युद्ध की आग मे झोक दिया।

रक्त या नस्ल के भुलावे मे जुड़ा हुआ एक दूसरा भ्रम ईश्वरी प्रेरणा का है। फासिस्ट नेता बुद्धि या तर्क के सहारे अपना रास्ता नही देखता; उसे तो सीधी ईश्वर से प्रेरणा मिलती है। उसके नेतृत्व का आधार जनवादी निर्वाचन या जनता का दिया हुआ कोई अधिकार नही है। उसे तो इलहाम होता है और इसी के सहारे वह जनता का नेता है, उसे नयी परिस्थितियो मे राह दिखाता है। इस प्रकार फासिज्म विचार क्षेत्र मे अवैज्ञानिकता, बुद्धिहीनता, अतार्किकता को जन्म देता है। जो बात तर्क से सिद्ध नही हो सकती, उसी को वह ऊपर उठाता हे। मानो ईश्वर की कल्पना लूट और हत्या को समर्थन करने के लिये ही की गई हो।

तीसरा भुलावा फासिज्म का युद्ध सम्बन्धी प्रचार है। युद्ध को वह सामाजिक जीवन का एक आवश्यक अङ्ग मानकर चलता है। वह यह नही बताता कि आर्थिक सङ्कट से निकलने के लिये, अपने माल की खातिर नये बाजार कायम करने के लिए युद्ध अनिवार्य हो जाता है। हकीक़त पर पर्दा डालकर बडे-बडे सामरिक प्रदर्शनो द्वारा फ़ासिज्म पाशविक बल के महत्त्व को घोषित करता है। जिसकी लाठी, उसकी भैस—इस सिद्धान्त का वह प्रचार करता है। शान्ति, सहयोग, मानवता और भाई-चारे की बातों की वह खिल्ली उडाता है और उन्हे कमजोर आदमियो की सनक कहकर वह टाल देता

है। इसीलिये फ़ासिज़्म मानवीय प्रगति का सबसे बड़ा दुश्मन है और वह समाज को बर्बर युग की ओर ठेलता है।

चौथा भुलावा राष्ट्रीयता का होता है। राष्ट्र के ऊपर कुछ नहीं है, राष्ट्र के लिये सब कुछ बलिदान कर देना चाहिए, राष्ट्र में अंध-भक्ति होनी चाहिये, इत्यादि-इत्यादि बातों का वह प्रचार करता है। वास्तव में उसके राष्ट्र का मतलब मुट्ठी भर पूँजीपतियों का स्वार्थ होता है। राष्ट्र में अंधभक्ति का मतलब होता है, इन मुट्ठी भर लोगों के पीछे आँख मूँदकर चलो। राष्ट्र के लिये बलिदान होने का मतलब होता है, दूसरे देशों को हराने और साम्राज्य-विस्तार करने के लिये अपनी जान दो। लेकिन देश-प्रेम का यह मतलब नहीं है कि दूसरों को छोटा समझ कर उन्हें अपना गुलाम बनाया जाय। राष्ट्र-भक्ति का यह मतलब नहीं है कि मुट्ठीभर पूँजीपतियों की चलाई हुई प्रतिक्रियावादी नीति का विरोध न किया जाय। देश का मतलब जहाँ जनता होता है, वहाँ एक देश द्वारा दूसरे पर अधिकार करने का सवाल नहीं उठता। सभी देशों की जनता का हित एकता और शान्ति में है, न कि परस्पर बैर-भाव रखने और युद्ध करने में। फासिज़्म देशों के इस भाईचारे को बड़े भय से देखता है। वह अन्तर्राष्ट्रीयता की बार-बार निन्दा करता है जिससे कि जनता अपने आपसी हितों को पहचान न सके। लेकिन अपने स्वार्थ के लिये एक देश के फासिस्ट दूसरे देश के फासिस्टों से मेल करने में देर नहीं करते। हिटलर, मुसोलिनी, पेताँ, तोजो आदि-आदि अलग-अलग देशों और जातियों के लोग युद्ध में अपना गुट बनाने के लिये अपनी नस्ल के सिद्धान्त को ताक पर रख देते हैं।

छठाँ भुलावा व्यक्तित्व के विकास का है। फासिस्ट कहते हैं कि जनतंत्र में बड़े-बड़े आदमियों को अपने विकास का मौका नहीं मिलता। वे अपनी इच्छाशक्ति का चमत्कार नहीं दिखा सकते।

केवल फासिज्म में उन्हें यह अवसर और सुविधा मिलती है कि वे विशाल जनसमूह को अपनी इच्छा-शक्ति से सञ्चलित करें और इस तरह अपने देश तथा संसार के भाग्य-विधायक बन जायें। वास्तव में इस विकास का मतलब होता है, पूँजीपतियों के दलाल बनकर उनके इशारे पर कठपुतली की तरह नाचना। इस विकास में पूँजीवाद और साम्राज्यवाद का विरोध करने की गुञ्जाइश नहीं है। उसमें तर्क, बुद्धि, सहृदयता आदि के लिये जगह नहीं है। मुट्ठी भर महाजनों के इशारे पर जो फासिस्ट नेता कहे, उसी पर उसके छोटे-बड़े अनुचरों को चलना होता है। बड़े फासिस्ट नेता तो इस विकास के द्वारा अपनी जेबें भर लेते हैं लेकिन उनके छुट-भैये अनुयायी युद्ध में बलि के बकरे बन कर ही जाते हैं। पूँजीवादी स्वार्थ के लिये लाखों की संख्या में वे हलाल किये जाते हैं और यही उनके विकास का अंत होता है।

सातवाँ भुलावा संस्कृति का है। फासिस्ट कहते हैं, हम संस्कृति के रक्षक हैं। हम प्राचीन संस्कृति का उद्धार करेंगे, हम सारे संसार में अपनी संस्कृति का प्रसार करेंगे। प्राचीन संस्कृति का मतलब इनके लिये बर्बरता होता है। उनकी दृष्टि में संस्कृति का आधार मानवता नहीं, दानवता है। अपनी लूट और हत्या को सही साबित करने के लिये वे अपने पूर्वजों को भी हत्यारा और लुटेरा बनाकर बड़े प्रेम से उन्हें पूजते हैं। फासिस्ट संस्कृति का सम्बन्ध कुसंस्कारों से है, मानवीय संस्कृति से बिल्कुल नहीं। इसीलिये फासिस्ट बराबर कोशिश करते रहते हैं कि वे पुरानी संस्कृति को तोड़-मरोड़ कर सामने रक्खें। पुराने लेखकों में से साम्राज्यवादी भावनायें, अतार्किकता, बुद्धिहीनता की बातें वे खोज लाते हैं या इसमें बिल्कुल ही असफल रहते हैं, तो उनकी पुरानी पुस्तकों को जला देते हैं। संस्कृति का वे कितना आदर करते हैं, यह इसी से प्रकट है कि

वे देश के बडे-बडे साहित्यकारो और वैज्ञानिको को देश-निकाला या कारावास का दण्ड देते हैं। जो लेखक फासिज्म का विरोध करने की हिम्मत करता है, उसे अपनी जान से भी हाथ धोना पडता है। भाडे के लेखको से फासिस्ट नेता जो साहित्य लिखाते हैं, उसमे लुटेरो और हत्यारो को 'हीरो' बनाया जाता है, उनके घृणित कार्यों को राष्ट्रीय गौरव के अनुकूल बताकर जनता के सामने उनकी मिसाल रक्खी जाती है। फासिस्ट ध्यान रखते हैं कि साहित्य मे जनवादी विचार कहीं भी पनपने न पाये, आर्थिक सङ्कट, बेकारी और गरीबी, जनता के भय और त्रास की झलक भी कहीं न मिले, इस तरह फासिज्म साहित्य और सस्कृति का सबसे बड़ा शत्रु है।

अपनी युद्ध नीति को सफल बनाने के लिये फासिज्म विदेशी आक्रमण का हौवा खडा करता है। आक्रमण वह खुद करना चाहता है लेकिन प्रकट यह करता है कि दूसरे उसकी जान के गाहक हैं और इसलिये उसे पहले ही दूसरों पर हमला कर देना चाहिये। एक जाति या धर्म के लोगो को देश का शत्रु कहकर वह पूँजीवाद द्वारा पैदा की हुई दुर्व्यवस्था पर पर्दा डालता है। समाज मे यदि बेकारी है, गरीबी है, शिक्षा और स्वास्थ्य का प्रबन्ध नहीं है, उत्पादन नहीं बढता या वितरण नहीं होता तो इसकी जिम्मेदारी एक खास जाति या मजहब के लोगों पर है। यूरुप के फासिस्टों ने इस तरह की जिम्मेदारी यहूदियों पर डाली। यहूदियो का कत्लेआम फासिज्म की वृद्धि का एक लक्षण बन गया। १९४७ तक मे लन्दन की दीवारों पर "Perish Judas" (यहूदी को मौत) ये शब्द ब्रिटिश फासिस्ट लिख देते हैं। हिटलर के लिये जब यह जरूरी हुआ कि अमरीका से दोस्ती करे, तो अमरीका के निवासी शुद्ध आर्य बन गये। जब उनसे लड़ाई हुई, तो रूजवेल्ट के पुरखो मे एक यहूदी भी निकल पड़ा। इसी तरह सन् '३० मे जब हिन्दुस्तान का सविनय

अवज्ञा आन्दोलन चल रहा था, तब हिटलर ने .अग्रेजो को आर्य बनाते हुए डन्डे के जोर मे इस आन्दोलन को कुचलने की सलाह दी थी। जब अग्रेजो से युद्ध हुआ, तो वे भी यहूदियो के चगुल मे फँसे बताये गये।

फासिज्म के प्रचार का सबसे सबल या निर्बल अस्त्र कम्युनिस्ट-विरोध है। कम्युनिस्ट रूस के गुलाम है, सारी दुनिया पर रूस का राज फैलाना चाहते हैं, इन्हे मॉस्को से पैसा मिलता है, मजदूरो को भडकाकर वे राष्ट्रीयता का गला घोटते हैं, आदि-आदि फासिज्म के परिचित नुस्खे है। फासिस्ट जानते है कि उनके सबसे कट्टर शत्रु कौन है और इसलिये उन्हे खत्म करने के लिये वे जी-जान से कोशिश करते हैं। यही उनका सबसे निर्बल अस्त्र भी है, इसलिये कि इस प्रचार का आधार बिल्कुल झूठ है। कम्युनिज्म पूँजीवाद की पैदा की हुई आर्थिक और राजनीतिक उलझनो को दूर करने की क्षमता रखता है। इसलिये लाख विरोधी प्रचार होने पर भी इतिहास की गति रुक नहीं पाती और उस गति के साथ वह आगे बढता है। इसके अलावा कम्युनिज्म उन तमाम बातो को लेकर चलता है—सस्कृति, मानवता और जनतत्र की परम्परा को—जिन्हे फासिज्म खत्म करना चाहता है। फासिज्म की पराजय इसलिये निश्चित होती है कि वह युद्ध और हिसा के जरिये पूँजीवादी समाज की उलझनों से बचना चाहता है। लेकिन समाज का टिकाऊ आधार युद्ध और हिसा नही, शान्ति और एकता ही हो सकती है। इसलिये फासिज्म की पराजय भी निश्चित होती है।

गत महायुद्ध में फासिस्टों की करारी हार हुई और जनवादी शक्तियो को आगे बढने का मौका मिला। पूर्वी यूरूप के देशो में जर्मन पूँजी ही नहीं ब्रिटिश पूँजी का प्रभुत्व भी खत्म हो गया। पोलैन्ड और यूगोस्लाविया जैसे बडे-बड़े देश नयी जनवादी व्यवस्था

क़ायम करने मे सफल हुए। वहाँ की बड़ी-बडी ताल्लुककेदारियाँ, जागीरे और रियासते तोड दी गई और उनकी जमीन किसानो मे बॉट दी गई। उद्योग-धधो पर मुनाफाखोर पूँजीपतिया के बदले समाज का अधिकार हो गया। जब ब्रिटेन और अमरीका के पूँजीवादी अखबार यह शोर मचाते है कि इन देशो पर रूस का प्रभुत्व हो गया, तो उनका असली मतलब यह होता है कि वहाँ पर ब्रिटिश और अमरीकी पूँजी का प्रभुत्व खत्म हो गया है। इधर एशिया मे च्यॉग-काई-शेक की चीनी दीवाल बुरी तरह हिल गई है। देश के एक बहुत बडे भाग मे जमीदारी प्रथा खत्म कर दी गई है और च्यॉग-काई-शेक के अधिकृत राज्य मे पुरानी भूमि व्यवस्था और मुनाफा-खोरी के खिलाफ विद्रोह फूट रहा है। वियतनाम, हिन्द चीन, बर्मा और हिन्दुस्तान के स्वाधीनता आन्दोलना से यूरुप का पूँजीवाद दहशत खा रहा है।

युद्ध के बाद प्रतिक्रियावाद का केन्द्र अमरीका बन गया है। वहाँ के बडे-बडे महाजन ऐटम बम और डॉलर की सहायता से सारी दुनिया पर एकच्छत्र अधिकार करना चाहते है। जिन देशो की पूँजीवादी व्यवस्था झकोले खा रही है, उन्हे खरीदने के लिये अमरीकी सेठो ने अपनी थैलियाँ खोल दी हैं। उनके प्रचार की धारा अथ से इति तक फासिस्ट प्रचार की मिसाल लेकर चली है। अमरीकी पूँजीवाद अपने यहाँ जनतत्र का नारा देकर ससार को फिर एक नये युद्ध मे घसीटने की तैयारी कर रहा है। वहाँ के बडे-बडे लेखक और चार्ली-चैपलिन जैसे विश्व-विख्यात अभिनेता अमरीका-विरोधी प्रचार करने के अभियोग मे तरह-तरह से सताये जा रहे है। अमरीकी पूँजीवाद का यह रवैया दुनिया की शान्ति तथा साहित्य और सस्कृति के लिये खतरनाक है। इसी की बटोर मे एशिया और यूरुप के दूसरे प्रतिक्रियावादी भी आ जाते हैं।

शान्ति और जनतन्त्र के खिलाफ ये सब लाग एक विश्वव्यापी मार्चा बना रहे हैं। इस मोर्चे की एक दीवार हिन्दुस्तान मे भी है।

पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने अपने व्याख्यानो द्वारा फासिज्म के बढते हुए खतरे की तरफ सङ्केत किया है। फासिज्म के लक्षण हमारे देश मे भी प्रकट होने लगे हैं। हमारे यहाँ भी युद्ध को अनिवार्य बताना, हत्या और हिंसा को मानवता और भाई चारे से श्रेष्ठ बताना शुरू हो गया है। मुस्लिम फासिस्ट कहते है कि इस्लामी राज कायम होना चाहिये। इसके लिये हिन्दुस्तान पर हमला करना जरूरी होगा। हमला करने के पहले अपने यहाँ की अल्पसख्यक जनता को खत्म कर देना या निकाल देना जरूरी होगा। इसी तरह हिन्दू फासिस्ट हिन्दू राष्ट्र की बाते करते हैं। वे पाकिस्तान से युद्ध को अनिवार्य बताते हैं और इस युद्ध की तैयारी के लिये वे अपने यहाँ की अल्प-सख्यक जनता को खत्म कर देना या निकाल देना जरूरी समझते हैं। सस्कृति की बात ज़ोरो से कही जाती है लेकिन उसका सम्बन्ध मनुष्यता और भाई चारे से नहीं होता। युद्ध और हत्या के लिये उकसाने मे ही इस शब्द का प्रयोग होता है।

हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के फासिस्ट जनवादी शक्तियों को खत्म करने के लिये बड़े जमीदारों, राजाओं और मुनाफाखोरों का संयुक्त मोर्चा बना रहे है।

अँग्रेजी साम्राज्य के स्तम्भ देशी नरेश अचानक धर्मावतार बन गये है। उनके अखबार जाट, राजपूत, क्षत्रिय, सिख, आदि-आदि जातीयता के नाम पर मध्यवर्ग के लोगो और किसानों को शान्ति और जनतत्र के खिलाफ उकसाते हैं। जैसे हिटलर ने 'हेरेन फोक' या श्रेष्ठ जाति का डका पीटा था, उसी तरह ये राजा इस बात का प्रचार करते हैं कि किसी जाति-विशेष के लोग ही शासन करने की योग्यता रखते हैं। बडे-बडे मुनाफाखोरों ने फासिस्ट प्रचार के

लिये थैलियाँ खोल दी हैं। वे तमाम खबरों को इस तरह तोड-मरोड़ कर देते हैं कि लोगों मे भय और आतक फैले। अपने कुकृत्यों को छिपाकर दूसरों के अत्याचार का वर्णन करके वे प्रतिहिंसा की आग सुलगाते है जिससे आगे चलकर भारत की स्वाधीनता और जनतत्र दोनों भस्म हो जाये। इन अखबारों को भी अपना सबसे बडा दुश्मन कम्युनिज्म दिखाई देता है। इसलिये उनके पन्नों मे ब्रिटिश साम्राज्यवाद और अमरीका के महाजनों के खिलाफ दो शब्द भी नही होते परतु कम्युनिज्म के खिलाफ कालम के कालम रँगे होते हैं। वास्तव मे ब्रिटिश और अमरीका की पूँजी तरफ हिन्दुस्तान के प्रतिक्रियावादियों को आँखें लगी हुई हैं। वे जानते है कि बिना इस बाहरी मदद के चार दिन तक भी वे हिन्दुस्तान पर अपना शासन कायम नहीं रख सकते। हमारे देश का हर किसान, मजदूर और मध्यवर्ग का आदमी चोरबाजारी, मुनाफाखोरी, सामतों और जमींदारों के अत्याचार से परेशान है। इस परेशानी को दबाने के लिये अमरीकी पूँजी की जरूरत पडेगी। यूनान और चीन मे यही हो रहा है लेकिन प्रतिक्रियावादियों के दुर्भाग्य से उनकी ढहती हुई दीवार को अमरीकी सोने की ईटे भी फिर मजबूत नही बना पाती।

उत्तरी हिन्दुस्तान मे, खासतौर से रियासतों मे, बडे-बडे हथियार बन्द जत्थे घूम रहे हैं। उन्होंने यह असम्भव कर दिया है कि आदमी शान्ति से जिन्दगी बिताये। खेती-बारी और उद्योगधधों को भारी धक्का लगा है। गरीबी और बेकारी बढ रही है। ऐसी दशा मे हमारे यहाँ फासिस्ट विचारधारा सर उठाने लगी है। हमारी जाति श्रेष्ठ है, दूसरों का मजहब गलत है, इनको खत्म किये बिना हम जी नहीं सकते, इन्सानियत धोखा है, हमारी राष्ट्रीयता भाई-चारे की विरोधी है, सस्कृति के नाम पर हमें अल्पसख्यकों की हत्या के

लिये तैयार हो जाना चाहिये, इन सब बातों का जोरों से प्रचार हो रहा है। भाभा, बल्देवसिंह, चेट्टी, श्यामाप्रसाद जैसे लोग, जो स्वाधीनता आन्दोलन का विरोध करते आये थे, और साम्राज्यवाद के साथ रहे थे, वे राष्ट्रीय सरकार में घुसकर देश के कर्णधार बन गये हैं। उनकी कोशिश है कि देश से जनतन्त्र खत्म करके एक फासिस्ट हुकूमत कायम कर दी जाय। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने फासिस्टों को चुनौती दी है कि वे यह न समझें कि सरकार से निकलकर वे (पंडितजी) खामोश बैठ जायेंगे। अगर इस्तीफा देना ही पड़ा तो वे इन फासिस्ट प्रवृत्तियों के खिलाफ बराबर लड़ते रहेंगे। हिन्दुस्तान के तमाम स्वाधीनता प्रेमी लोगों के लिये यह एक चेतावनी है कि वे राजाओं, जमींदारों, और मुनाफाखोरों के मोर्चे को तोड़े और उनके जनतन्त्र-विरोधी प्रचार को रोकें।

हमारे साहित्य में अभी इन शक्तियों का बोल-बाला नहीं हुआ। फिर भी बहुत से अखबारों में जो हिन्दू-राष्ट्र के नाम पर घोर साम्प्रदायिक प्रचार कर रहे हैं और उसे राष्ट्रीय भी कहते जाते हैं, ऐसी कवितायें और कहानियाँ निकलने लगी हैं जैसी फासिस्ट देशों में लिखी गई थीं। इनके जरिये असत्य, हिंसा और युद्ध का प्रचार किया जाता है। साहित्य के प्रतिष्ठित पत्र अभी तक इससे अलग हैं लेकिन रियासतों और हमारे सूबे के दूसरे जिलों में ऐसे पचीसों अखबार निकल रहे हैं जिनमें इस तरह के साहित्य को प्रश्रय मिलता है। हिन्दी के प्रसिद्ध लेखकों में एक भी इस साम्प्रदायिक विचार-धारा के साथ मिलकर जनतन्त्र विरोधी प्रचार में नहीं लगा। नयी पीढ़ी के लोग भी उससे दूर हैं। बहुतों ने इसके विरुद्ध अपनी लेखनी भी उठाई है। जरूरत इस बात की है कि अभी से इन प्रवृत्तियों को दबा दिया जाय और साहित्य पर हमला करने का अवसर उन्हें

न दिया जाय। प्रगतिशील विचार-धारा के ख़िलाफ भी एकबारगी अनेक पत्रों मे लेख प्रकाशित होने लगे हैं। इसका उद्देश्य यह है कि फासिस्ट साहित्य के लिये मार्ग निष्कण्टक बना दिया जाय। इन सब बातो का महत्त्व इस देश के लिये ही नही, सारी दुनिया के लिये है। अमरीका के पूंजीवादी जिस युद्ध मे सारी दुनिया को ढकेलना चाहते है, उसमे सहयोग देने के लिये हिन्दुस्तान के प्रतिक्रियावादी अभी से यह जमीन तैयार कर रहे है। अगर हिन्दुस्तान मे जनवादी सरकार क़ायम होगी तो वह कभी अमरीकन पूंजी का साथ न देगी। जिस तरह यूनान, चीन और मध्यपूर्व में अमरीका की कोशिश है कि उसकी आज्ञाकारी हुकूमते बन जायें, उसी तरह हिन्दुस्तान मे भी वह अपने इशारे पर चलने वाली सरकार चाहता है। यह सरकार उन्ही लोगो की हो सकती है जिन्हे अँग्रेजो ने अब तक पाला पोसा था। इसीलिये बडे-बडे राजे-महाराजे, बडे-बडे ताल्लुकेदार और बडे-बडे पूंजीपति दगो की आग फैलाने मे जनतत्र को कमजोर करने मे, शान्ति के आन्दोलन को रोकने मे इतने प्रयत्नशील है। हिन्दुस्तान के लेखक इन प्रवृत्तियो का विरोध करके अपने देश मे ही नही, सारी दुनिया मे शान्ति और जनतन्त्र क़ायम करने मे मदद दे सकते है।

अक्टूबर '४७

आदि काव्य

काव्य मे वेद भी आ जाते हैं, फिर भी आदि काव्य वाल्मीकीय रामायण को ही कहा गया है।

इसका कारण यह हो सकता है कि वैदिक काव्य की देवोपासना के बदले यहाँ पहले-पहल मानव-चरित्र को काव्य का विषय बनाया गया है और इस मानवीय काव्य मे मनुष्य को देवता के सिहासन पर नही बिठाया गया वरन् उसकी शक्ति, असमर्थता और वेदना को बड़ी सहानुभूति से चित्रित किया गया है।

रामायण की मूल कहानी उत्तर वैदिक काल की है जब आर्य मध्यभारत में अपनी संस्कृति फैला रहे थे। इस संस्कृति के अग्रदूत अगस्त्य आदि ऋषि थे, जिन्हे जनस्थान के अनार्य निवासी सताया करते थे। इनकी रक्षा करने के बहाने आर्य राजाओं ने नर्मदा तक अपना राज्यविस्तार किया। आर्य सस्कृति के प्रचारकों के सपर्क मे आने से हनुमान आदि उनकी भाषा के पडित हो गये थे; कुछ पहले आनेवाले आर्य अनार्यों के साथ घुलमिल भी गये, जैसे रावण। अनार्यों मे सुग्रीव-विभीषण आदि का एक दल आर्यों का मित्र बन गया और इस तरह उनकी विजय-यात्रा मे वह सहायक हुआ। इसमें सन्देह नहीं जान पड़ता कि राम का विजय-अभियान नर्मदा तक पहुँच कर रुक गया था। सम्पाति विध्या की गुहा से निकल कर तुरन्त ही समुद्र के किनारे जा पहुँचता है और बालि भी किष्किधा से निकल कर समुद्र के किनारे संध्या करने को पहुँच जाता है। अवश्य ही यह समुद्र विध्याचल के दक्षिण मे कोई झील रही होगी। इसके पार

छिपकर तीर मारने की निन्दा करता है, तब राम उसे यही उत्तर देते हैं कि सारी पृथ्वी आर्यों की है, धर्म-अधर्म का विचार वही कर सकते है, अनार्यों को इस पर विवाद करने का अधिकार नही है। परन्तु वाल्मीकि का लक्ष्य अनार्यो को राक्षस-रूप में और आर्यों को देव-रूप मे चित्रित करके उन्हे ऊँचा नीचा दिखाने का नही है। उनके बालि, रावण, मेघनाद आदि से सहानुभूति होती है और राम, दशरथ, लक्ष्मण, आदि मे गुणो के साथ मानवीय दुर्बलताओ का भी समावेश है।

जिस कविने महाकाव्य-रूप मे इस समूची गाथा की कल्पना की थी, उसमे असाधारण करुणा और जीव-मात्र के प्रति उत्कट सहानु भूति थी, इसमे सन्देह नही। इस काव्य मे एक अनोखी बात यह है कि इसके आरम्भ मे किसी देवी-देवता की वन्दना नही है। कविता का जन्म भी इन्द्र या वरुण की उपासना मे नही माना गया वरन् क्रौंच पक्षी के मारे जाने से, उसकी सगिनी के आर्तनाद से, ऋषि के हृदय मे उत्पन्न होनेवाले क्रोध और करुणा से माना गया है। शोकः श्लोकत्वमा प्रगतः—कवि के शोक को ही श्लोक का रूप मिल गया। इस शोक से उत्पन्न होनेवाली कविता को राज-दरबार की नटी नही बनाया गया, न वह देवो की अर्चना मे लिखा हुआ किसी पुरोहित का गीत है। इस गाथा को चारों वर्ण पढते है और उनसे उनका कल्याण होता है। यद्यपि राम ने शत्रु को मारा था, फिर भी वाल्मीकि ने रामायण पढने मे शूद्रों का निषेध नही किया। उन्होंने कहा है—जनश्च शूद्रोपि महत्वमीयात्ः शूद्र भी इसे पढकर बड़ा बन सकते हैं। रामायण की कथा सुनकर वनवासी ऋषि आँसू बहाते है और लव-कुश को कमडल, मेखला, कौपीन आदि भेट करते है। वियोगी राम के लिये तो सबसे बड़ा प्रायश्चित्त यही होता है कि उन्हे अपने ही पुत्रों से बिना जाने हुए अपनी दुखद जीवन-कथा सुननी पड़ती है। उन्हें

सीता के गुणों की याद आती है, सीता के जीवन से मिली हुई अपने जीवन की समस्त घटनाओ का चित्र उन्हे देखना पडता है, लेकिन वह दुखी होकर आँसू ही बहा सकते हैं ; सीता को पा सकना असभव है। कहानी की इस पृष्ठ-भूमि मे उसकी करुणा और भी निखर उठती है ।

इसमें सन्देह नहीं कि रामायण एक दुःखान्त कहानी है और उसका अन्त है वैसा ही है जैसा किसी बडे-से-बडे दुःखान्त नाटक का हो सकता है। रामने पिता की आज्ञा मानकर अयोध्या को छोड़ा; बन में उन्होंने कष्ट सहे और सीता के वियोग की यत्रणा सही, युद्ध में भाई लक्ष्मण को शक्ति लगी और सीता मिली तो उसके साथ जीवन भर के लिये जनापवाद भी मिला। अयोध्या मे आकर वह सुखी न रह सके, उन्हे सीता को बनवास देना पड़ा। जब यज्ञ के बाद सीता के फिर मिलने का अवसर आया और जनता एक स्वर से सीता की पवित्रता स्वीकार करने लगी, तब सीता ने राम से एक शब्द भी न कहा वरन् अपने जीवन का समस्त अपमान और कष्ट लिये हुए पृथ्वी मे समा गयी। राम का जीवन अधकारमय हो गया। अत मे काल आया और उससे बात करते समय लक्ष्मण को दुर्वासा के आने का समाचार देना पड़ा। लक्ष्मण को दड-स्वरूप निर्वासन मिला और सरयू के किनारे श्वास रोककर उन्होने अपना प्राणान्त किया। राम के बाद उनके उत्तराधिकारी अयोध्या पर राज्य करते रहे परन्तु आगे चल कर अयोध्या उजाड़ हो गई और कई पीढियों तक वह उजाड़ बनी रही। महानाश के चित्र के साथ इस आदि काव्य का अन्त होता है। अयोध्यापि पुरी रम्या शून्या वर्ष-गणान् बहून्। केवल महाभारत मे जिस अन्तिम दृश्य से पटाक्षेप होता है, वह भी ऐसा ही अन्धकारपूर्ण है।

रामायण की सबसे करुण घटना सीता का वनवास है। इसके

आगे राम का वन-गमन फीका पड़ जाता है। राम के साथ लक्ष्मण और सीता भी गये थे और इनके साथ रहने से राम को अयोध्या की याद बहुत न आती थी। लेकिन गर्भिणी सीता को धोखा देकर उनका वन में त्याग करना ऐसी हृदय-विदारक घटना है जिससे राम के वनवास की तुलना की ही नहीं जा सकती। रामायण की इसी घटना को लेकर उत्तर राम-चरित और कुन्द माला जैसे महा-नाटकों की रचना की गई है। लेकिन सीता के त्याग में जिस क्रूरता का आभास आदि-कवि ने दिया है, परवर्ती कवि उसकी छाया भी नही छू सके। गोमती के किनारे दुख से बेहोश होकर सीता के गिर पड़ने मे जो स्वाभाविकता है, परवर्ती कवि अपने अलकृत वर्णनों मे उसे नही पा सके। सीता एक वीर नारी हैं। राम के वनवास के समय उन्होंने बड़े दर्प से कहा था—अग्रतस्तं गमिष्यामि मृद्न्ती कुशकटकान्। वह कुशकांटों को रौंदती हुई राम के आगे चलने का साहस रखती हैं। उनमें नारी दुर्बलताएँ, क्रोध और सदेह भी हैं। इसीलिये उन्होंने लक्ष्मण से कटुवचन कहे थे। इससे उनकी मानवीयता ही प्रकट होती है। राम की कातर पुकार सुनकर भय और चिन्ता के एक असाधारण क्षण में वह ऐसी बात कह बैठती हैं।

सुदुष्टस्त्व वने राममेकमेकोऽनुगच्छसि।
मम हेतोःप्रतिच्छन्नः प्रयुक्तो भरतेनवा॥

इसके साथ वह अपना निश्चय भी प्रकट कर देती हैं कि वे भस्म हो जाएँगी लेकिन लक्ष्मण के हाथ न जायेगी। अपनी इस दुर्बलता से सीता पाठक की सहानुभूति नही खो देती, उनकी कटूक्ति नियति का व्यग्य बन कर उन्ही की व्यथा को और तिक्त बना देती है जब लक्ष्मण के बदले रावण ही आकर उनका हरण करता है।

रावण की पराजय तक उन्होंने किसी तरह दिन काटे लेकिन उनके अपमान और दुख के दिन तो अब आने वाले थे। सीता

के चरित्र में शका प्रकट करने वाले सबसे पहले स्वय राम थे, न कि अयोध्या की जनता। जब विभीषण सीता को लिवा कर लाये, तब राम ने कहा—"राक्षस तुम्हे हर ले गया, यह दैव का किया हुआ अपमान था; उस अपमान को मनुष्य होकर मैंने दूर कर दिया।" लेकिन भौंहे चढा कर क्रोध से तिरछे देखते हुए उन्होंने फिर कहा—"मैंने जो कुछ युद्ध जीतने के लिये किया है, वह तुम्हारे लिये नही, वरन् अपने चरित्र और वश की कीर्ति की रक्षा के लिये। इस समय तुम सदिग्ध चरित्रवाली मुझे वैसी ही लगती हो जैसे नेत्र-रोगी को दिया लगता है। मुझे तुमसे कोई काम नही है; तुम्हारे लिये दशों दिशाएँ पड़ी हैं, जहाँ तुम्हारी इच्छा हो, जाओ। उच्च कुल में पैदा होनेवाला व्यक्ति दूसरे के घर मे रहने वाली स्त्री को कैसे स्वीकार कर लेगा? जिस यश के लिये मैंने यह सब किया, वह मुझे मिल गया है। तुम लक्ष्मण, भरत, सुग्रीव या विभीषण किसी के साथ भी रह सकती हो। तुम्हारा दिव्य रूप देखकर और अपने घर में पाकर रावण ने तुम्हे कभी क्षमा न किया होगा।"

राम की बाते सीता का ही नही लक्ष्मण, सुग्रीव आदि का भी घोर अपमान करती थीं। कहाँ लक्ष्मण की निष्काम तपस्या और कहाँ राम की यह कल्पना! फिर सीता की सचित आकाक्षाएँ और उन पर यह अयाचित तुषारपात! यह अपमान भी वानरों और राक्षसों के बीच में हुआ! तब मुँह पर से आँसुओं को पोंछते हुए सीता ने धीरे-धीरे कहा—"वीर! तुम ग्रामीण जनों की तरह मेरे अयोग्य वाक्य मुझे क्यो सुना रहे हो? यदि विवश होने पर राक्षस ने मेरा शरीर छू लिया, तो इसमे दैवका ही दोष है; मेरा क्या अपराध! जो मेरे वश में है वह हृदय तुम्हारा है; शरीर पराधीन होने से मैं असहाय कर ही क्या सकती थी! जिस समय तुमने हनुमान को लका भेजा था उसी समय तुमने मेरा त्याग क्यों न कर दिया?

तुम मेरा चरित्र भूल गये, और यह भी भूल गये कि. मैं जनक की लडकी हूँ और धरती मेरी माता है। बाल्यावस्था में तुमने जो पाणिग्रहण किया था, उसे भी तुमने प्रमाण न माना। मेरी भक्ति, मेरा शील तुम सब कुछ भूल गये।" इस तरह कह कर सीता ने लक्ष्मण से चिता चुनने को कहा। दुर्भाग्य से अग्नि का साक्ष्य भी बहुत दिनों तक काम न आया।

एक बार सीता फिर राम के सामने आई। वह वाल्मीकि के पीछे आँसू बहाती चल रही थी और इस बार वाल्मीकि ने उनकी पवित्रता के लिये साक्ष्य दिया और यह भी घोषित किया कि लव-कुश रामचन्द्र की ही सन्तान हैं। उनके आने पर सभा मे "हलहला" शब्द हुआ और लोग राम और सीता को साधुवाद देने लगे। वाल्मीकि ने सोता के निर्दोष होने की शपथ ली, लेकिन राम ने कहा—"मुझे सीता के निर्दोष होने मे विश्वास है लेकिन जनापवाद के कारण मैंने उनका त्याग किया था।" इसका यही अर्थ था कि सीता को ग्रहण करने का कोई उपाय नही है। और अब क्या वह अपमान की सीमाएँ लाँघ कर राम और जनता से यह याचना करती कि उन्हे फिर ग्रहण कर लिया जाय? काषायवासिनी सीता ने आँखें नीची किये हुए और मुँह फेरे हुए ही हाथ जोड़कर उत्तर दिया—"यदि मैं राम को छोड कर और किसी का मन मे भी चिन्तन नही करती हूँ तो धरती मुझे स्थान दे।" उनकी शपथ के बाद पृथ्वी से सिहासन निकला और उसी में बैठ कर वह अन्तर्धान हो गई।

इस चमत्कारी घटना के पीछे नारी के उस दारुण अपमान की गाथा है जो अभी तक समाप्त नहीं हुई। महान् कवियो के हृदय में इस घटना के प्रति संवेदना उत्पन्न हुई है और उन्होंने इसे रामायण की मुख्य घटना मानकर उस पर नाटकादि रचे हैं। वाल्मीकि ने सीता-

वनवास की असह्य क्रूरता का अनुभव किया था और इसलिये उसका वर्णन रामायण के करुणतम स्थलो मे से है।

इस कहानी से मिलती-जुलती राम-गमन के समय कौसल्या की व्यथा है।

कौसल्या इसीलिये दुखी नही है कि राम वन जा रहे हैं वरन् इसलिये भी कि पुत्र के रहने पर सपत्नियो के जिस अपमान को वह भूली हुई थी, वह उन्हे फिर सहना पडेगा। इसमे कैकेयी का ही दोष न था; राजा दशरथ ही उनकी ओर से उदासीन हो गये थे। कौसल्या को अपने वन्ध्या होने के दिनो की याद आई। उन्हे लगा कि इस पुत्र वियोग से तो वही दिन अच्छे थे जब पुत्र हुआ ही न था। उन्होंने राम को याद दिलाया कि जैसे पिता बडे हैं, वैसे ही वे बडी हैं, इसलिये उनकी आज्ञा मानकर उन्हें वन न जाना चाहिये। परन्तु राम ने यह सब न माना और वन चल ही दिये। तब जैसे बछडा मारे जाने पर भी गाय उससे मिलने की इच्छा से घर की तरफ दौड़ती है, वैसे ही कौसल्या राम के रथ के पीछे दौड़ी।

प्रत्यागारमिवायान्ती सवत्सा वत्सकारणात्।
बद्धवत्सायथा धेनुः राममाताऽभ्यधावत॥

ऐसे स्थलों के लिये सचमुच कहा जा सकता है कि शोकः श्लोकत्वमागतः।

करुणा के साथ क्रोध की भी उच्च कोटिकी व्यजना हुई है। कौसल्या का दुख देखकर लक्ष्मण का पिता पर क्रोध, समुद्र की दुष्टता देखकर राम के वाक्य, कुभिला में यज्ञध्वंस होने पर विभीषण के प्रति मेघनाद का उपालम्भ—ये सब इस महाकाव्य के स्मरणीय स्थल हैं। सवादों में ऐसी नाटकीयता महाभारत छोड़कर संस्कृत के और किसी काव्य में (नाटकों समेत) नहीं है। कौसल्या को विलाप

करती हुई देखकर लक्ष्मण ने कहा—"मुझे भी राम का इस तरह राज्य छोड़कर वन जाना अच्छा नहीं लगता। काम-पीड़ित होकर वृद्ध शक्तिहीन राजा इस तरह क्यों न कहे? मुझे तो लोक-परलोक मे ऐसा कोई भी नही दिखाई देता जो इस दोष की तुलना कर सके। देवता के समान, शत्रुओं को भी प्रिय, पुत्र का कौन अकारण त्याग कर देगा? राजा फिर से बालक हो गये हैं, उनके चरित्र को जानने वाला कौन व्यक्ति उनकी बात मानने को तैयार हो जायगा?" उन्होंने भाई से कहा—"लोग तुम्हारे वनवास की बात जाने, इसके पहले ही मेरे साथ तुम शासन पर अधिकार कर लो। धनुष लेकर मेरे साथ रहने पर तुम्हारा कोई क्या बिगाड़ सकता है? यदि कोई विरोध करेगा तो मैं तीक्ष्ण बाणों से अयोध्या को जनहीन कर दूँगा!" फिर उन्होंने कौसल्या से कहा—"मैं धनुष की शपथ खाकर कहता हूँ कि मैं अपने भाई से प्रेम करता हूँ। यदि जलते हुए वन में राम प्रवेश करेंगे तो आप मुझे पहले ही उस वन में प्रविष्ट हुआ समझ लीजिये। देवि, आप मेरी शूरता को देखे; जैसे सूर्योदय होने पर अन्धकार छूट जाता है, वैसे ही मैं आपका दुख दूर करूँगा। कैकेयी में आसक्त इस पिता का मैं नाश करूँगा जो बुढ़ापे में फिर बच्चों जैसी बातें कर रहा है:—

> हरिष्ये पितर वृद्धम् कैकेय्यासक्तमानसम्।
> कृपण च स्थित बाल्ये वृद्धभावेन गर्हितम्॥

यह चरम क्रोध का उदाहरण है। रामायण में सामाजिक नियम मानव-सुलभ सहृदयता के आडे आते हैं; इनके विरोध और परस्पर सघर्ष से ही यह नाटक दुःखान्त बनता है। लक्ष्मण के विद्रोह में नियमो के प्रति वही तिरस्कार और मानवीय सहानुभूति का पक्षपात है।

रामायण के अनेक संवादों मे व्यंग्य खूब निखरा हुआ है और

उसका उपयोग इसी मानवीय सहानुभूति को उभारने के लिये हुआ है। बालि-वध के उपरान्त तारा राम से कहती है, "जिस बाण से आपने बालि को मारा है उसी से मुझे भी मार डालिये और यदि आप समझें कि स्त्री को मारना अनुचित है तो बालि और मेरी आत्मा को एक जान कर अपना सशय दूर कर दीजिये।"

जब राम ने छिपकर बालिको मारा और उसके अनार्य होने से कोई पाप न हुआ, तब उसकी स्त्री को ही मारने मे क्या पाप है? बालि की मृत्यु के बाद पाठक की सारी सहानुभूति तारा की ओर खिंच जाती है।

वाल्मीकि प्रतिपक्ष को बड़ा करके या उसे उसके उचित रूप दिखाने मे कभी पीछे नहीं हटते। बालि और सुग्रीव के चित्रण में उन्होंने सुग्रीव को बडा करके दिखाने का प्रयत्न नहीं किया। सुग्रीव एक तो छिपकर भाई की हत्या करवाता है; फिर राज्य पाने पर भाई की स्त्री के साथ ऐसा विलास में पड़ जाता है कि उसके प्रति पाठक की तनिक भी सहानुभूति नही रह जाती। लक्ष्मण का क्रोध बिल्कुल उचित जान पड़ता है।

रावण के शयनागार का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है कि वह एक भी स्त्री को उसकी इच्छा के विरुद्ध न लाया था। उसकी पत्नियाँ न पहले किसी की स्त्री रही थीं न उन्हे दूसरे पति की इच्छा थी। हनुमान ने सीता के और इन स्त्रियों के पति-प्रेम की तुलना तक कर डाली। उन्होंने कहा—"जैसी ये रावण की स्त्रियाँ है, वैसी ही यदि राम की पत्नी भी हैं (अर्थात् रावण उनका सतीत्व नष्ट नहीं कर सका), तभी उसका कल्याण है।" जिस समय हनुमान शिंशुपा की डाल पर बैठे थे, तभी धनुषबाण छोडे हुए काम के समान रावण वहाँ उपस्थित हुआ। हनुमान स्वय तेजस्वी थे; फिर भी

रावण का तेज उन्हे असह्य हो उठा। उन्होंने अपने को पत्तों के पीछे छिपा लिया।

स तथाप्युग्रतेजा: सन्निर्धूतस्तस्य तेजसा।
पत्रगुह्यान्तरे सक्तो हनुमान् संवृतोभवत्॥

रावण के तेज का इससे बढ कर और क्या बखान हो सकता था! वाल्मीकि की तटस्थता और नाटकीय प्रतिभा का यह अकाट्य प्रमाण है।

एक स्थल और है जहाँ ऐसे ही संतुलन से उन्होने चरित्र की विशेषता दिखाई है। राम के वनवास की अवधि मे भरत उनकी पादुकाओं की अर्चना किया करते हैं। त्याग और निस्वार्थता के वे चरम उदाहरण हैं। राम और लक्ष्मण पर जब भी विपत्ति पड़ती है, तभी भरत के षड्यंत्र की गंध उन्हे मिलती है लेकिन जब अवधि पूर्ण हुई और भरत अपनी तपस्या के फलस्वरूप राम के दर्शन की बाट जोह रहे थे, तब अयोध्या के पास पहुँचकर रामने हनुमान से कहा कि वह भरत के पास जायँ और रावण-वध आदि का वृत्तान्त कहकर उनके आने की सूचना दे और देखे कि भरत के मुँह पर कैसे भाव प्रकट होते हैं। बाप-दादों का राज्य पाकर किसका मन विचलित नही हो जाता कवि ने राम के हृदय में यह शका उत्पन्न करके भरत के त्याग में चार चाँद लगा दिये हैं।

जैसी निपुणता और भाव सम्बन्धी लाघवता इन संवादों में देख पड़ती है, वैसी ही चित्रमयता इस महाकाव्य के वर्णनात्मक स्थलों में भी है। तमसा के किनारे से लेकर जहाँ वाल्मीकि शिष्य से घड़ा रख देने को कहते हैं, रावण के शयनागार तक, जहाँ का सौंदर्य और वैभव वर्णनातीत है, कवि ने अपनी सजीव कल्पना का समान रूप से परिचय दिया है। उसकी उपमाएँ अनूठी हैं; लंबे वर्णन के बाद

दो शब्दों मे वे एक अनुभूति को मानों सचित कर देते हैं। रावण के शयनागार के लिये लिखा है कि उसने हनुमान को माता के समान तृप्त किया।

रामायण के चित्रों मे विराट और उदात्त भावना विद्यमान रहती है। उनमे एक विशेष प्रकार की गरिमा और वैभव है। स्वाभाविकता और लाघवता—ससार का देखने मे उनकी कुशलता और चतुरता तो है ही। लका मे आग लगने पर वह लपटों के लिये कहते हैं कि कही तो वे किंशुक के फूलो जैसी, कही शाल्मली के फूलों जैसी और कहीं कुकुम जैसी लगती है। राम-रावण युद्ध मे ऐसे बहुत से चित्र देखने को मिलते है। जिस समय लक्ष्मण ने विभीषण पर आती हुई रावण की शक्ति अपने बाणो से काट डाली, उस समय वह काञ्चन-मालिनी शक्ति स्फुलिग छोड़ती हुई आकाश से उल्का के समान पृथ्वी पर गिरी। पुनः रावण की अमोघ शक्ति वासुकि की जीभ के समान लक्ष्मण के हृदय मे घुस गई। इस तरह की उपमाएँ इस महाग्रथ मे भरी पडी हैं।

जीवन के प्रति कवि का दृष्टिकोण नकारात्मक नही है। उसे भोग-प्रधान कहना अनुचित न होगा। जिन ऋष्यशृग ने पुत्रेष्टि यज्ञ कराके दशरथ की पुत्रहीनता को दूर किया था, वे स्वयं शान्ता के पति थे और उसके पति होने के पहले वेश्याओं के आकर्षण से वन छोडकर नगर की ओर गये थे। राम और सीता की प्रेम क्रीड़ाओं के वर्णन में कही झिझक नही है। रावण के शयनागार के वर्णन मे तो सौन्दर्य और विलासिता का नन्द उमड चला है। स्त्रियों की विभिन्न मुद्राओं के वर्णन से खजुराहो कि नग्न प्रस्तर मूर्तियो का याद आ जाती है। भरत सेना लेकर भरद्वाज मुनि के आश्रम पहुँचते है तो उनके प्रभाव से सैनिको के भोजन, पान और रति का प्रबन्ध हो जाता है। सीता की खोज करते हुए वानरगण जब विवर मे प्रवेश

करते हैं, तब वहाँ भी लका के समान वे एक काल्पनिक स्वर्ग में विहार करने लगते हैं और कुछ के मन में यह भी आता है कि वहीं रहना चाहिये; 'सीता की खोज करना व्यर्थ है। इस सबके साथ लक्ष्मण और हनुमान के चरित्र का भी आदर्श है। अपनी साधना और तेज में वे अद्वितीय हैं अथवा अपने ढग के दो ही हैं। इन जितेन्द्रिय पुरुषों का मन भी कभी-कभी चचल हो उठता है। हनुमान तृप्ति की भावना से रावण की स्त्रियों को देखते हैं यद्यपि जानते हैं कि ऐसा करना अनुचित है। लेकिन सीता का पता लगाना ही है; इसलिये और दूसरा उपाय नहीं है। लक्ष्मण ने नारी-विमुखता की हद कर दी है क्योंकि नूपुर छोड़कर उन्होंने सीता का मुँह भी नहीं देखा। अपने दूसरे वनवास के समय जब सीता ने कहा कि मुझ गर्भवती को एक बार देख लो, फिर राम के पास चले जाओ, उस समय लक्ष्मण ने उत्तर दिया—"शोभने, आप मुझसे क्या कह रही हैं? मैंने अब तक आपका रूप नही देखा, केवल चरण देखे हैं। इस वन मे जहाँ राम नहीं हैं, मैं आपको कैसे देखूँ?" क्या यहाँ पर पाठक (और उसके साथ कवि भी) यह नहीं चाहता कि लक्ष्मण अपने दमन को इस सीमा तक न ले जाते? यह लक्ष्मण और सीता का अंतिम संवाद था और लक्ष्मण सीता की अंतिम इच्छा पूरी न कर सके।

सुग्रीव ने अवधि बीत जाने पर भी जब वानरों को सीता की खोज के लिये न भेजा तो लक्ष्मण क्रोध में उसकी भर्त्सना करने चले। वहाँ पर निवास मे उन्होंने रूपयौवनगर्विता बहुत सी स्त्रियों को देखा। तब उनके नुपूरो और करधनियों का शब्द सुनकर महा-क्रोधी लक्ष्मण के मन मे व्रीड़ा-भावका उदय हुआ।

कूजितं नूपुराणां च काञ्चीनां निनदंतथा।
सन्निशम्य ततः श्रीमान् सौमित्रिर्लज्जितो भवत् ॥

इस लज्जा से बचने के लिये उन्होंने जार से धनुष के रोदे

को टंकारा, जिसके शब्द मे वह कूजन-रणन डूब गया। सहारा लेना यही बतलाता है कि दमन का मार्ग एकदम समतल थी।

सुग्रीव की हिम्मत न पड़ी कि वह स्वय लक्ष्मण से मिले, इसलिये उन्होंने तारा को भेजा। तारा शराब पिये हुए थी; इसलिये बिना लज्जा के, अपनी दृष्टि से लक्ष्मण को प्रसन्न करती हुई, प्रणय-प्रगल्भ वाक्य बोली। उसके निकट आने से लक्ष्मण का क्रोध दूर हो गया (स्त्रीसन्निकर्षाद्विनिवृत्त कोपः)। तारा ने बडे स्नेह से लक्ष्मण के क्रोध का कारण पूछा और लक्ष्मण ने वैसे ही स्नेह से (प्रणयदृष्टार्थं) उसका उत्तर दिया। यह सब कहने से कवि का एक ही लक्ष्य सिद्ध होता है—उसके चरित्र श्वेत या कृष्ण न होकर मानवीय हैं और इसी में सत्य और कला के सहज दर्शन होते हैं।

दो शब्द भाषा और छद के बारे मे कहना आवश्यक है। कवि ने कल्पना की है कि दो बालक इस गाथा को वीणा पर गाते हैं; श्लोको की गेयता मे सन्देह नही; परन्तु वैसे पढ़ने में भी उनका प्रवाह अविराम धारा की भॉति पाठक को आगे बहाता जाता है। इसकी सस्कृत की विशेषता यह है कि उसमें बोलचाल की स्वाभाविकता है। सवादो में एक कलात्मक गठन है जिसमे सबसे प्रभावशाली भाग अन्त मे आता है, जैसे सीता की अतिम प्रार्थना मे कि लक्ष्मण उन्हे देखे और लक्ष्मण के क्रोध मे जब वे पिता को मारने की बात कहते हैं। भाषा का प्रवाह सवादो की इस स्वाभाविकता के लिये अत्यावश्यक है। बीच-बीच मे और विशेष कर सर्गों के अन्त मे बड़े छद हैं जिनके चित्रमय वर्णन और मधुर शब्दावली साधारण श्लोको से भिन्न एक विचित्र सौदर्य लिये होते हैं। वन-गमन के समय कौसल्या के निपेध करने पर रामचन्द्र के रोष का वर्णन ऐसे ही एक छद मे है :—

नरैरिवोल्काभिरपोह्यमानो
महागजो ध्वान्तमिव प्रविष्टः
भूयः प्रजज्वाल विलापमेव
निशम्य रामः करुण जनन्याः ॥

इसी प्रकार जब मदविह्वला तारा लक्ष्मण के पास आती है :—

सा प्रस्खलन्ती मदविह्वलाक्षी
प्रलम्ब काञ्चीगुण हेमसूत्रा ।
सुलक्षणा लक्ष्मण सन्निधान
जगाम तारा नमिताङ्गयष्टिः ॥

परवर्ती कवियों ने भाषा को और सस्कृत किया है, उपमाओ मे और विचित्रता लाये है, उनकी नक्काशी और रगामेजी मे और बारीकी आ गयी है। लेकिन वे मानव-हृदय मे उतना गहरे नही पैठे जितना आदि-कवि, आदि कवि और उनका अन्तर समुद्र और बावड़ो का सा है। उन कवियो के सामने लक्षण ग्रन्थ पहले हैं, मानव हृदय बाद को है; वाल्मीकि के लिये इन ग्रन्थों का अस्तित्व ही नही है। उन्होने, नायक मे अमुक गुण होने चाहिये, और कथा मे प्रभात और सध्या वर्णन होना चाहिये, यह सोचकर रामायण नही लिखी। वह कुशल कथाकार है, अपनी कथा की नाटकीय परिस्थितियो को खूब पहचानते है, मानव हृदय की करुणा और रोष से उन्हे सहज प्रीति है, इसलिये उनकी कथा जनसाधारण के हृदय को स्पर्श करती है। इसमे कोई सन्देह नही कि उन्होने देव-काव्य की स्पर्धा मे इस मानव-काव्य की रचना की है। राम ने बडे गर्व से सीता से कहा है, दैव ने जो अपमान किया था, उसका मनुष्य होकर मैने प्रतिकार किया है। राम उनके आदर्श चरित्र हैं और इस आदर्श का मूलमत्र है, सामाजिक विधान की रक्षा। लेकिन यह सामाजिक विधान ऐसा कठोर था कि मनुष्य की कोमल भावनाओ

से उसकी मुठभेड़ होती थी। कवि की पूर्ण सहानुभूति इन कोमल भावनाओ के साथ थी यद्यपि तर्कबुद्धि उन्हे दूसरी ओर खीचती थी। यह सघर्ष ही रामायण की नाटकीयता का मुख्य कारण है और उसी से इस काव्य मे करुण और उदात्त भावो की सृष्टि होती है।

नैतिकता की कसौटी पर राम सीता को वन भेज देते है और इसी नैतिकता के कारण राम स्वय वन जाते है। लेकिन कवि की सहानुभूति रोती हुई कौसल्या के साथ है या वृद्ध कामातुर दशरथ की प्रतिज्ञा के साथ; वह अपवाद के भय से गर्भवती सीता के वन जाने से सतुष्ट होते या राम के साथ उनके अयोध्या मे रहने से,—इसमे किसे सदेह हो सकता है? उनकी यह सहानुभूति ही उनकी महत्ता का कारण है। उनका क्रोध इसी का एक अग है। लक्ष्मण क्रोध से पागल होकर पिता का वध करने को उद्यत होते हैं, इसीलिये कि कौसल्या का दुख उनसे देखा नही जाता। अपनी इन मौलिक भावनाओं के बल पर ही रामायण का रचनाकार उस पर अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप छाड़ गया है। बहुत से अश प्रक्षिप्त से लगते हैं और होगे भी, लेकिन रामायण के सभी महत्वपूर्ण स्थलो मे हम एक ही कुशल कविकी लेखनी का चमत्कार देख सकते हैं। जिस कविने क्रौञ्च के दुख से पीड़ित होकर मा निषाद प्रतिष्ठा त्व आदि वाक्य कहे थे, वही राम के मुँह से कहला सकता था—दैवसम्पादितो दोषो मानुषेण मया जितः।

वाल्मीकीय रामायण आदि काव्य हो चाहे न हो, वह ऐसा काव्य-अवश्य है जिसे हम अपनी काव्य-सस्कृति का आदि स्रोत मानने में गर्व का अनुभव करेगे। परवर्ती कवियो ने उसके अशो को लेकर जिस प्रकार काव्य-रचना की है, उससे उसके आदि काव्य होने की सम्भावना और दृढ होती है।

सितम्बर '४५

"अनामिका" और "तुलसीदास"

हिन्दी मे साहित्य-प्रकाशन का ढग कुछ ऐसा है कि जब कविता की पुस्तके छपती हैं तब वे एक दम ही नवीन नही रहती। इसका कारण यह है कि कविताएँ अधिकाश मासिक पत्रो आदि मे पहले से छप जाती है, फिर इन पत्रों से छप कर उनका पुस्तकों मे समावेश होता है और तब तक वे काव्य के पाठको के लिए नवीन नही रहती। हाल मे निराला जी की दो नई पुस्तके लीडर प्रेस से प्रकाशित हुई है, 'अनामिका' और 'तुलसीदास'। यदि ये पहले-पहल यही प्रकाश मे आई होती तो निश्चय वह हमारे साहित्य की एक विशेष घटना होती। 'अनामिका' मे कुछ 'मतवाला' काल की और कुछ बाद की कविताएँ सगृहीत है। पत्रों के ढेरो से निकल कर एक साथ पुस्तक रूप मे अब ये हमारे और निकट आ गई हैं। "तुलसीदास' उनकी लबी कविता 'सुधा' मे कई वर्ष हुए क्रमशः छपी थी। पुस्तक रूप में अब वह भी सुलभ हुई है।

नई और पुरानी कविताओं के एकत्र होने से 'अनामिका' में स्वभावतः विचित्रता आ गई है। निराला के कई कंठस्वर एक साथ यहाँ सुनने को मिलते हैं। 'खॅडहर के प्रति' मे एक नवयुवक कवि का रोमाटिक रूप देखने को मिलता है, इसी तरह 'दिल्ली' अपने गत गौरव के स्वप्न के कारण उसे आकर्षित करती है। 'परिमल' सग्रह में ऐसी कविताएँ छोड़ दी गई थी; यहाँ प्रकाशित होने से वे कवि के विकास पर नया प्रकाश डालती है। 'परिमल' मे सस्ती नवयुवकोचित रोमाटिक भावना खोजने से ही मिलती है; यहाँ वह पहले की कविताओं मे प्रचुरमात्रा मे विद्यमान है।

एक दूसरी बात जो इन पहले की रचनाओं में हमें आकर्षित करती है, वह भाषा का ओजपूर्ण मुक्त प्रवाह है। यहाँ पर कवि ने अपनी विशिष्ट भाषा की रचना नहीं की है; जो भाषा उसे प्रचलित मिली है उसी मे अपने परुषार्थ से उसने नया जीवन डाला है। छद ज़्यादातर मुक्त है और उनकी रचना में वह सयम नहीं दिखाई देता जो 'परिमल' की इस प्रकार की कविताओं की विशेषता है। इन कविताओं मे कवि का वह विकासोन्मुख रूप मिलता है जो बाधाओं और साथ-साथ कला की बारीकियों की चिन्ता न करता हुआ अपनी प्रतिभा की खोज मे चलता है। यह स्पष्ट दिखाई देता है कि साहित्य के अध्ययन का यहाँ प्रभाव नहीं है, न पुरानी साहित्यिक रूढियो के ही सपर्क मे वह आया है; यदि निराला जी के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जा सके तो कहेगे कि इन कविताओं में उनका अल्हड़पन है।

पुरानी कविताओ के अतिरिक्त बाद की अनेक रचनाएँ यहाँ ऐसी हैं जो इस पुस्तक के महत्त्व का कारण है। इनमे से एक 'राम की शक्ति पूजा' है जो 'तुलसीदास' को छोड़ कर उनकी श्रेष्ठ कृति है। यह एक लबी कविता के रूप मे है जिसमे किसी पुरानी घटना को लेकर पात्रा को एक नये मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से चित्रित किया गया है। इसका उल्लेख 'रूपाभ' मे प्रकाशित एक दूसरे लेख मे कर चुका हूँ। 'सरोजस्मृति' अपने ढग को अनूठी कविता है, इसे 'एलेर्जा' कह सकते है परन्तु उस प्रकार की कविताओं की यथार्थ से दूर रहने वाली रूढिप्रियता इसमे नहीं आ पाई। इसका भाव-चित्रण जितना मर्मस्पर्शी है, उतना ही सयत भी। वह दिन दूर दिखाई देता है जब कोई अन्य कविता इससे हिन्दी की श्रेष्ठ 'एलेजी' होने का दावा छीन लेगी।

'सम्राट् एडवर्ड अष्टम् के प्रति', 'बनबेला' और 'नरगिस' एक दूसरे ढङ्ग की रचनाएँ हैं। इनमें कवि की अलकारप्रियता दर्शनीय

है जो 'मतवाला' काल की कविताओ के स्वच्छ भाव प्रवाह के प्रतिकूल है। 'सम्राट' वाली कविता मे सानुप्रास मात्रिक मुक्त छद का प्रयोग हुआ है, आलकारिकता के होते हुए भी ओज पूर्ण मात्रा मे विद्यमान है और यह विशेपता हमे 'तुलसीदास' की याद दिलाती है। 'वनवेला' मे अलंकारप्रियता अपनी सीमा का पहुँच गई है, यहा तक कि जव 'वनबेला' एक लम्बे मुखबध के बाद अतल की अनुलवास लिए ऊपर उठती है तो हम भी एक सुख की साँस छोड़ देते है। 'नरगिस' मे इसी वृत्ति को खूब दबाकर रखा गया है और इस लिए प्रकृति चित्रण मे वह निराला जी की श्रेष्ठ कविताओं मे अपना स्थान बनाती है।

'तट पर उपवन सुरम्य, मै मौन मन
बैठा देखता हूँ तारतम्य विश्व का सघन,
जान्हवी को घेर कर आप उठे ज्यो कगार
त्योही नभ और पृथ्वी लिये ज्योत्स्ना ज्योतिर्धार,
सूक्ष्मतम होता हुआ जैसे तत्व ऊपर को
गया श्रेष्ठ मान लिया लोगो ने महाम्बर को
स्वर्ग त्यों धारा से श्रेष्ठ, बड़ी देह से कल्पना,
श्रेष्ठ सृष्टि स्वर्ग की है खड़ी सशरीर ज्योत्स्ना।'

छद की धीमी गति उस मानसिक स्थिति को चित्रित करने के लिए उपयुक्त है जहाँ विचारो को प्राकृतिक सौदर्य से प्रभावित होने के लिए छोड दिया जाता है और वे अपनी गतिविधि उसी सौदर्य के इगितो पर ही निश्चित करते है। भाषा की प्रौढता 'विश्व का तारतम्य सघन' आदि मे देखने को मिलती है, अर्थ के अतिरिक्त सकेत की मात्रा शब्दो मे पूर्णरूप से भर गई है।

और इन्ही के साथ निराला-तत्व की निर्देशक 'तोडती पत्थर' 'खुला आसमान' 'ठूँठ' आदि कविताएँ है जहाँ मानों अपने ही

शब्द-माधुर्य को कवि चुनौती देकर कहता है, मैं 'दत कटाकटेति' भी लिख सकता हूँ।

'लोग गाँव गाँव को चले,
कोई बाजार कोई बरगद के पेड़ के तले
जाँघिया-लँगोटा ले, सँभले,
तगडे-तगडे सीधे नौजवान।'

फिर भी युग की प्रगति देखते ऐसा जान पडता है कि नौजवानों को यह कर्कशता और भाषा का यह ठेठपन ही आगे अधिक प्रभावित करेगा।

'अनामिका' मे कुछ छोटी कविताएँ और गीत हैं, 'अपराजिता' 'किसान की नई बहू की आँखे' 'कहा जो न कहो' 'बादल गरजो' आदि जो उनके गीति काव्य का निखरा सौंदर्य लिए हुए है। जो प्रतिभा 'राम की शक्ति पूजा' सी कविता का बधान बाँध सकती है, वह इन छोटी छोटी रचनाओं मे भी अपना लाघव प्रदर्शित करती है। खेल-खेल मे जैसे किसी कारीगर ने एक महल बनाते हुए स्वातः-सुखाय कुछ खिलौने भी बना डाले हों जो छोटे होने से दृष्टि द्वारा शीघ्रता से ग्रहण किए जा सकते हैं और सुन्दर भी लगते है।

'तुलसीदास' मे हम एक नए धरातल पर आते हैं। पहले-पहल इसकी भाषा-क्लिष्टता ही पाठक का ध्यान खींचती है। कहाँ गोस्वामी तुलसीदास की सरल ललित पदावली और कहाँ यह 'प्रभापूर्य' और 'सास्कृतिक सूर्य'! भाषा को इतना ज्यादा क्यो तोडा मरोडा गया है? पहले तो भाषा की दृष्टि से स्वय गोस्वामी तुलसीदास सर्वत्र ही ललित और सरल नही है, 'विनय पत्रिका' में अनेक स्थानो पर उन्होंने सस्कृतबहुल और समासयुक्त पदों की रचना की है, दूसरे निराला जी ने जिन मनोभावों को यहाँ चित्रित करने का प्रयत्न किया है, वे हिन्दी

के लिए नवीन थे, इसलिए उनके लिये उन्हे भाषा भी बहुत कुछ अपनी गढनी पडी है। तुलसीदास मे उन्होंने जिस व्यक्ति की कल्पना की है वह निराला के अधिक निकट है, तुलसीदास के कम। फिर भी वह नितात काल्पनिक नहीं है। रामचरितमानस में कवि को जो शाति मिली है, वह अवश्य ही एक भयानक सघर्ष के बाद मिली होगी। निरालाजी ने इसी सघर्ष की कल्पना की है। भावो का द्वद एक ऐसी सतह पर होता है जिससे हम प्रायः अपरिचित है। 'तुलसीदास' का युद्ध उनके पुराने सस्कारों से है और उस समय की दासता को अपनाने वाली संस्कृति से। इस तरह तुलसीदास एक विद्रोही के रूप मे आते हैं। पहले वे विरोधियों पर विजयी होना ही चाहते हैं कि रत्नावाली का ध्यान उन्हे अपने मोह में बाँध लेता है। घटनाचक्र मे यही रत्नावाली उनकी दबी हुई प्रतिभा के मोक्ष का कारण होती है। कविता के सबसे ओजपूर्ण स्थल वे हैं जहाँ कवि अपने सस्कारों से युद्ध करता हुआ अंत मे मोहित हो जाता है और बाद में जहाँ उसे रत्नावाली का निष्काम अग्निशिखा की भाँति योगिनी का रूप देखने को मिलता है। अत मे विदा होते समय तुलसीदास को वह शाति मिलती है जिससे हठात् भास होने लगता है कि अब ये रामचरितमानस अवश्य लिखेंगे। निराला जी और तुलसीदास में एक सास्कृतिक सामीप्य है, एक की अनुभूति में दूसरा सहज बँधा चला आता है। केवल निराला मे अन्य विरोधी तत्व इतने ज़्यादा समाहित हैं कि उनका व्यक्तित्व उनके नायक से कही अधिक वैचित्र्यपूर्ण है। अवश्य ही गो० तुलसीदास के भक्त उनके लिए भी इस वैचित्र्य का दावा पेश न करेगे; तुलसीदास महात्मा हैं, निराला मे मनुष्यता अपने तीनों गुणों के साथ वर्तमान है और इस लिए वह हमारे अधिक निकट हैं।

जो लोग जनप्रियता को काव्य-सौष्ठव की कसौटी मानते हैं, उन्हे

'तुलसीदास' से निराश होना पडेगा। यह कविता जनप्रिय न होगी, यह आँख मूँदकर कहा जा सकता है, उसी प्रकार यह भी कि हिंदी कविता मे वह निराला की कीर्ति का कारण एक अमर रचना के रूप मे रहेगी। भारतीय स्तूपकला के किसी सुन्दर नमूने की भाँति लोग इसके वेश-विन्यास और अलकृत वैचित्र्य को देखेगे और वापस चले जाएँगे; उसमे रहेगे नहीं, और ससार के काव्य साहित्य में ऐसे भव्य प्रासादो के अनेक उदाहरण मौजूद है। दोनों पुस्तकों की छपाई और सजावट सुन्दर है; निरालाजी के कुछ दिन पहले के विरोध को देखते हुए उनकी पुस्तकों का यह नख-शिख भी उनके प्रति बढते हुये आदर का चिन्ह जान पड़ता है।

मार्च '३९

हिन्दी साहित्य पर तीन नये ग्रन्थ

इधर तीन-चार वर्षों मे हिन्दी साहित्य पर तीन थीसिस प्रकाशित हुए हैं जिनका ध्येय १६ वी और २० वीं शताब्दी के हिन्दी साहित्य पर विशेष प्रकाश डालना है। पहला डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (१८५०-१६०० ई०) है। दूसरा डा० केसरीनारायण शुक्ल का 'आधुनिक काव्य-धारा'। तीसरा डा० श्रीकृष्णलाल का 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' (१६००-१६२५ ई०) है।

डा० शुक्ल के थीसिस का विषय केवल कविता है परन्तु उन्होंने उसकी पृष्ठ-भूमि का उल्लेख करते हुए १६ वी शताब्दी के साहित्य पर भी बहुत-कुछ कहा है। डा० श्रीकृष्णलाल के थीसिस में आधुनिक हिन्दी कविता आ ही जाती है, इसलिये इन तीन ग्रन्थो मे कई बाते समान है। इनमे साहित्य को समाज की गतिविधि के साथ परखने का प्रयास है परन्तु इतिहास को समझने और उसकी पृष्ठभूमि मे साहित्य का मूल्य आँकने मे अभी काफी उलझने है। इसके सिवा ये तीनों ग्रन्थ शुक्लजी से बहुत कम आगे बढ सके है और शुक्लजी का इतिहास पढने पर इन तीनों ग्रन्थों के पारायण से हिन्दी-साहित्य का ज्ञान कितना बढेगा, यह सन्देह का ही विषय रह जाता है।

(१)

पहले 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' को लेते हैं क्योंकि इसमें १६ वीं सदी के साहित्य का भी अध्ययन किया गया है। विषय प्रवेश के उपरान्त लेखक ने 'पूर्व-परिचय' मे ब्रिटिश शासन और हिन्दी

गद्य के विकाश पर प्रकाश डाला है। आगे धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों का उल्लेख है। पुनः गद्य, जीवनी-साहित्य, हिन्दी-ईसाई साहित्य, उपन्यास, नाटक और कविता पर विचार किया गया है। 'परिशिष्ट' मे लेखक ने रीतिकालीन साहित्य की विवेचना की है।

ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि देने का चलन अभी हाल मे नहीं हुआ। यह प्रथा पुरानी है। परन्तु अब उन कारणों पर भी ध्यान देना चाहिये जिनसे बडे-बडे सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन सम्भव होते हैं। अब इतना कह देना काफी नहीं है—"आध्यात्मिकता के मूल तत्वों की भित्ति पर खड़ा हुआ बृहद् हिन्दू-जीवन प्राणहीन हो गया था। काल स्रोत ने उसका जीवन निस्तेज और निस्पन्द कर दिया था।" कालस्रोत का उल्लेख तो बाबा आदम से होता चला आ रहा है। इतिहास के वैज्ञानिक अध्ययन के नाम पर कालस्रोत का नाम लेना अपने अवैज्ञानिक भाग्यवाद का परिचय देना है।

डा० वार्ष्णेय की दृष्टि इतिहास के महापुरुषों की ओर जाती है परन्तु उन व्यापक आर्थिक कारणों को वे नही देख पाते जिनसे इन महापुरुषों का कार्य सभव होता है। उनके अध्ययन का परिणाम कुछ-कुछ इस प्रकार है—एक समय हिन्दू समाज गौरव के उच्च शिखर पर था। समय के प्रवाह से वह खाई में आ गिरा। वहाँ से उसे स्वामी दयानन्द और राजा राममोहन ने उबारा। "पर उन्नीसवीं शताब्दी मे ब्राह्म समाज और आर्यसमाज के प्रचार से अनेक हिन्दू धर्मावलम्बी जो ईसाई या मुसलमान हो गये थे, फिर से हिन्दू-धर्म की गम्भीर छाया के नीचे आ गये।" इस दृष्टिकोण मे धार्मिकता अधिक है, ऐतिहासिकता कम। इस प्रकार तो राजा राममोहन और स्वामी दयानन्द के कार्यों का जो राजनीतिक और सामाजिक महत्व है, उसे भी हम न समझेंगे।

इसी प्रकार भक्तिकाल में सूर और तुलसी के साहित्य और उनकी विचार-धारा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि न समझने के कारण डा० वार्ष्णेय ने लिखा है कि धर्म ने "समाज के अस्तित्व को बनाये रक्खा" परन्तु "उसके बाद वह [समाज] जैसा था वैसा ही बना रहा।" और भी "उसे अवतारवाद का पाठ पढ़ाया गया। सन्तों ने अनहद का राग अलापा, तुलसी ने अवतारवाद की शिक्षा दी और सूर ने बच्चो से जी बहलाया।"

वास्तव में तुलसी ने जो रूप समाज को देना चाहा था, वही रूप उसका पहले भी न था। सामन्तवाद के कट्टर वातावरण में सन्त कवियो ने जिस उदार सामाजिक भावना को जन्म दिया, उसे लेखक ने बिलकुल भुला दिया है।

इस भ्रम के कारण ही उसने शृङ्गारी-साहित्य को अत्यधिक आध्यात्मिकता की प्रतिक्रिया मान कर उसकी सफाई पेश की है और नये हिन्दी साहित्यिकों द्वारा जो उसकी उपेक्षा हुई है, उसमे अपनी "मर्मान्तिक पीडा" का उल्लेख किया है।

राज दरबार में नारी को क्या समझा जाता था, इसे बताने की आवश्यकता नहीं है। लेखक ने उस विलासी मनोवृत्ति को—जिसके अनुसार नारी एक क्रीत दासी से बढ़कर कुछ नहीं है—एक मनोवैज्ञानिक तथ्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। जितना अवैज्ञानिक प्रयोग "मनोवैज्ञानिक" और "वैज्ञानिक" शब्दों का होता है, उतना और किन्ही शब्दो का नहीं। उदाहरण के लिये लेखक के अनुसार भारतेन्दुकाल में शृङ्गारी कविताओं के संग्रह निकलने लगे थे और इस काल में प्राचीन और तत्कालीन शृङ्गार साहित्य का वैज्ञानिक अध्ययन भी शुरू हो गया था।

संक्षेप में यह मनोविज्ञान इस प्रकार है। "मनोविज्ञान के आधुनिक विद्वानों की सम्मति में भी स्त्री एक प्रेमी के बाद दूसरा

प्रेमी चाहती है। यह समझना चाहिये कि इस प्रेम में विलासिता का अंश ही अधिक रहता है।"

विवाह हो जाने के बाद स्त्री-पुरुष एक-दूसरे के लिये साधारण रह जाते हैं। "इस मनोवैज्ञानिक सत्य के प्रकाश में परकीया व्यभिचारिणी नही ठहरती। वैसे भी व्यभिचारिणी कही जाने वाली किसी स्त्री को घृणा और क्रोध की दृष्टि से देखना स्त्री जाति की मूल प्रकृति से अनभिज्ञता प्रकट करना है।"

सामन्तवादी और पूँजीवादी समाज के बन्धनों से यदि कुछ या अनेक स्त्री-पुरुषो को दमित इच्छाएँ व्यभिचार की ओर ले जाती हैं तो इससे यह 'शाश्वत सत्य' कैसे सिद्ध हो गया कि यह स्त्री या पुरुष की 'मूल-प्रकृति है ? स्त्री और पुरुष की प्रकृति बहुत कुछ उनके सामाजिक विकास के अनुसार बनी है। सामाजिक व्यवस्था की असगतियों के कारण मानव-प्रकृति मे भी असगतियाँ उत्पन्न होती हैं। इन असगतियों को न समझ कर लेखक ने सामाजिक सघर्ष की एक असगति को मनुष्य की मूल प्रकृति मान लिया है। असभ्य अवस्था से सामन्तवाद और क्रमश. पूँजीवाद और समाजवाद की ओर बढने मे कौनसा तत्व कम हुआ है, कौनसा बढ़ा है, यह अब सिद्ध करने की आवश्यकता नही रह गई।

१६ वीं सदी के साहित्य मे जन-आन्दोलन के प्रथम चिन्ह दिखाई पड़ते हैं। लेखक ने भारतेन्दुकालीन साहित्यिकों की राजभक्ति का उल्लेख करते हुए उन्हे उत्तमवर्ग और उच्च मध्यम वर्ग का बतलाया है। अधिकांश हिन्दी लेखकों का जीवन उस समय कितने कष्टों में बीता था, इसे सभी जानते हैं। हिन्दी लेखकों ने हिन्दी सेवा के लिये सब कुछ कैसे फूँकताप दिया, इसे भी हम जानते हैं। अनजाने में उन्होंने उच्च वर्गों का प्रतिनिधित्व किया हो, यह दूसरी बात है। लेखक के विचार से "राजनीतिक भय के कारण उन्हे चुप रह जाना पड़ा।"

चार पृष्ठ बाद लेखक ने प्रतापनारायण मिश्र की "सर्बसु लिये जात अगरेज" आदि पक्तियाँ भी उद्धृत की हैं। राजनीतिक भय अवश्य था लेकिन हिन्दी लेखक दण्ड भय से चुप नही बैठे। उन्होंने देश-दशा का स्पष्ट वर्णन किया। और अगरेजो को ठेठ भाषा मे सीधी-सीधी सुनाई। राज भक्ति का कारण झूठे वादे थे, लेकिन इस मरीचिका को भग होने मे देर न लगी थी।

साहित्य के विभिन्न अङ्गो की चर्चा मे लेखक ने अनेक स्थलो पर एकागी या काम चलाऊ आलोचना से काम लिया है। यह सभी जानते है कि भारतेन्दुकाल का सब से विकसित और पुष्ट साहित्यिक रूप निबन्ध का है। लेखक ने दो पृष्ठो मे इस प्रसग को समाप्त कर दिया है। वास्तव मे लेखक निबन्ध साहित्य से भली भाँति परिचित नही है क्योंकि निबन्धो के सग्रह अभी प्रकाशित होने को है। परन्तु यदि कोई भारतेन्दु युग के निबन्ध साहित्य को नही जानता तो वह भारतेन्दु युग को भी नही जानता।

नाटकों के बारे मे वार्ष्णेय जी ने सामाजिकता और सामायिकता का इस प्रकार उल्लेख किया है मानो इनसे उच्चकोटि के साहित्य का कोई बैर हो। प्रहसनो की निन्दा के लिए उन्होंने काफी पृष्ठ दे दिये हैं परन्तु उस समय के नाटको की सफलता का मूल्याकन नहीं किया। कविता मे रीति-कालीन परम्परा पर चलते हुए भी उस समय के लेखकों ने एक नये जन साहित्य की नींव डाली थी। इसके सिवा भारतेन्दु, प्रेमघन आदि ने कविता मे नयी व्यक्तित्व-व्यञ्जना (नगद दमाद अभिमानी के आदि) और वर्णनात्मक रचनाएँ भी कीं। लेखक ने इनका भी यथोचित मूल्याकन नही किया।

इन सब कारणो से पुस्तक को पढ लेने के बाद यही धारणा होती है कि लेखक के 'मनोविज्ञान' के सिवा इसमें नवीन सामग्री बहुत नही हैं जो हिन्दी-साहित्य के अध्ययन को आगे बढाये।

(२)

'आधुनिक काव्य-धारा' को पढ़कर सहसा हिन्दी के आलोचना-साहित्य पर अभिमान हो आता है। वह इस कारण कि इससे अच्छी किताबें आये दिन हिन्दी माता के भण्डार की श्रीवृद्धि किया करती हैं। शब्दाडम्बर खूब है, गनीमत है कि अर्थाडम्बर का अभाव है।

इस पुस्तक में रीतिकाल और भारतेन्दु युग के काव्य-साहित्य का विहगावलोकन करने के बाद लेखक ने द्विवेदी युग और उसके बाद की कविता का मूल्यांकन किया है।

रीतिकालीन साहित्य की निन्दा करने में लेखक ने उन्हीं बातों को दुहराया है जिन्हें और लेखक भी कह चुके हैं। परन्तु इसे दोष नहीं माना जा सकता। दोष यह है कि एक ही बात को इस पुस्तक में भी कई बार दोहराया गया है।

भारतेन्दु-युग की विवेचना करते हुए लेखक ने नये साहित्य की पृष्ठभूमि की अधिक स्पष्ट व्याख्या की है। 'कालस्रोत' से सन्तोष न करके उन्होंने लिखा है कि "सन सत्तावन के उपद्रव से बहुत से रजवाड़े लुप्त हो गये थे और अनेक देशी रजवाड़ों की शक्ति क्षीण हो गई थी। कवियों के आश्रयदाता भी नहीं रह गये थे, इसलिये जहाँ रीतिकाल के कवि अपने लौकिक पालकों को प्रसन्न करके पुरस्कार पाने के लिये लालायित रहते थे, वहाँ इस उत्थान के कवियों और लेखकों को केवल जनता से ही प्रशंसा की आशा थी।" वास्तव में भारतेन्दु-युग में जो नव-जागरण दिखाई देता है, उसका मूल कारण सामन्तवाद का ह्रास और साहित्य का उससे सम्बन्ध-विच्छेद है। डा० वार्ष्णेय ने इस साधारण ऐतिहासिक तथ्य को भली-भाँति ग्रहण नहीं किया।

सामन्तवाद से सम्बन्ध तोड़कर उस युग के साहित्यिक जनता

को ओर मुड़े परन्तु जनता और उनके बीच में एक तीसरी शक्ति और थी—ब्रिटिश साम्राज्यवाद। भारतेन्दु-युग के लेखकों ने महारानी विक्टोरिया की प्रशसा की, साथ ही जनता के दुख दर्द की कहानी भी कही। डा० शुक्ल के विचार से राजभक्तिपूर्ण कविताएँ कोरी चाटुकारिता नही हैं। "ब्रिटिश शासन की नयी सुविधाओ और विज्ञान के नूतन आविष्कारों से कवियो तथा जनता दोनो की मति आच्छादित थी। इसी से भारतेन्दु-युग की जनता और कवि, ब्रिटिश राज का गुणगान करते थकते नहा थे।" यह केवल आशिक सत्य है। स्वय भारतेन्दु अच्छी तरह जानते थे और उन्होंने लिखा था कि विज्ञान के नये आविष्कारो से देश पूरा लाभ नही उठा पा रहा। देश मे उद्योग-धन्धों का विकास नही हो पा रहा। इसीलिये जनता की मति ब्रिटिश राज को कारगुजारी से अच्छादित न हुई थी वरन् उसके वादो से हो गई थी। इसीलिये "ब्रैडला स्वागत" जैसी कविता में देश की दुर्दशा और राजभक्ति दोनों साथ-साथ चलती हैं। वास्तव मे ब्रिटिश राज के वादो का भरोसा कुछ दिन मे टूट गया और तब कविगण खरी-खरी कहकर दिल के फफोले फोड़ने लगा। आधुनिक साहित्य की विवेचना मे दो एक बाते उल्लेखनोय हैं। एक तो यह कि श्री "अयोध्यासिह उपाध्याय अपने प्रयोगो में कभी असफल नही हुए।" और—"प्रकृति का सजीव चित्र न उपस्थित कर उन्होंने पेडो के नाम गिनाये हैं।" और :—

"महादेवी वर्मा की रचनाओं मे भी प्रवाह का अभाव है। यद्यपि सस्कृत की पदावली की ओर इनका अधिक झुकाव नहीं है और वे प्रभाव के लिये उर्दू के शब्दो को ग्रहण करती है तथापि इनकी भाषा में स्वाभाविक भाषा का प्रवाह और ओज नहीं है।" आखिर यह बात क्या हुई ?

"बगला की देखा देखी" हिन्दी में भी छायावाद चल पड़ा,—

।इस निष्कर्ष की सिद्धि के लिये एक थीसिस की आवश्यकता न थी। दस पाँच बगला की पक्तियाँ उद्धृत करके लेखक महोदय अपने मत की पुष्टि करते तो उनकी पुस्तक का अधिक महत्व होता।

प्रगतिशील कवियो की रचना को उन्होंने एकागी कहा है परन्तु उन्हो कवियों से प्रेम और प्रकृति सम्बन्धी कविताओ के उदाहरण भी दिये हैं।

कुल मिलाकर लेखक के चिन्तन का धरातल बहुत नीचा है और पुस्तक मे एकत्र की हुई सामग्री से हिन्दी साहित्य का अध्ययन एक पग भी आगे नही बढता।

(३)

तीसरी पुस्तक मे १९०० से १९२५ तक के हिन्दी साहित्य का अध्ययन किया गया है। इस पुस्तक की विषय-कल्पना में ही एक मूल दाष है और वह यह कि द्विवेदी युग या छायावादी युग को अपने अध्ययन का विषय बनाकर इसने ऐसी सीमाएँ निर्धारित की हैं जो छायावादी काल का दो तिहाई भाग काट देती हैं। १९२५ में छायावादी युग का आरम्भ मात्र होता है। उसका पूर्ण विकास आगे चलकर होता है इसलिये प्रसाद, पन्त और निराला की कुछ रचनाओ को तो लिया गया है, कुछ को छोड दिया गया है। यही बात प्रेमचन्द, आचार्य शुक्ल, मैथिलीशरण जी गुप्त आदि के बारे मे भी हुई है। इसलिये १९२५ की सीमा साहित्यिक विवेचना के लिये उचित नहीं थी।

इस पुस्तक का महत्व गद्य-शैली और गीतिरूपो के विश्लेषण में है। यद्यपि यह विश्लेषण काफी गहरा नहीं है; फिर भी आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहासकार इस ओर से उदासीन से रहते हैं। मुक्त छन्द और गद्य-पद्य के नये प्रयोगो के प्रति कुछ शास्त्रीय अध्ययन

का स्वॉग रचनेवालो मे जो अवज्ञा और उनकी अनभिज्ञता होती है, उसका यहाँ अभाव है। लेखक ने सहानुभूति से छायावादी कवियों के प्रयोगो को समझने और उनके मर्म तक पैठने को कोशिश की है।

इस विश्लेषण मे एक दोष है कि अत्यधिक उद्धरण देकर लेखक बहुधा उनकी प्रशसा करके रह गया है। जैसे निरालाजी की सन्ध्या सुन्दरी की 'अनुपम सृष्टि' दिखाने के बाद लेखक ने इस कविता से प्रकृति चित्रण की शैलियो के प्रसग को समाप्त किया है—'इसी प्रकार सुमित्रानन्दन पन्त का 'पल्लव' भी एक अनुपम सृष्टि है।' इस तरह के विशेषणो के प्रयोग से आलोचना अपने साधारण धरातल से भी नीचे आ गिरती है।

भूमिका मे लिखा है—'आधुनिककाल यद्यपि शृगारिक नही है तथापि इसमे शृंगार रस की कविताओं की भरमार है। सुमित्रानन्दन पन्त की 'ग्रन्थि' इस युग के उद्दाम यौवन का एक ज्वलन्त उदाहरण है।' परन्तु आगे चलकर प्रेम सम्बन्धी कविताओं की विस्तृत चर्चा करते हुए लिखा है—'सभी जगह प्रेम वासना-जनित आकर्षण से ऊपर उठा हुआ मिलता है।' तब क्या उद्दाम यौवन कोई आध्यात्मिक वस्तु है ?

भूमिका मे फिर लिखा है—'इस काल की शृगार भावना विशुद्ध बुद्धिवादिनी है। वीर, शृगार और भक्ति के अतिरिक्त करुणा और प्रकृति-चित्रण से पूर्ण कविताएँ भी इस काल मे पर्याप्त मात्रा मे मिलती है। किन्तु इन सभी कविताओं का आधार मानसिक है।' और भी—'आधुनिक साहित्य मे वर्णित वस्तुओं का महत्व बुद्धि पर प्रभाव डालने के लिये है।' परन्तु आगे चलकर इन विषयो के विस्तृत विवेचन मे लेखक ने बिल्कुल उल्टी ही बाते कही है।

पृष्ठ ६५ पर लिखा है :—'जिस प्रकार तुलसीदास और सूरदास इत्यादि भक्त कवि भक्ति को ही जीवन का तत्व मानते थे और बिना भक्ति के ज्ञान, मान और वैभव को तुच्छ समझते थे, उसी प्रकार आधुनिक प्रेमी कवि प्रेम को ही जीवन का सर्वस्व मानते हैं।' इसके बाद गोस्वामी तुलसीदास की चौपाइयाँ उद्धृत करके वह कहते हैं—'प्रसाद भी उन्ही के स्वर मे स्वर मिलाकर प्रेम के सम्बन्ध मे कहते हैं।' इसके बाद चार पक्तियो का उद्धरण है। यदि प्रसादजी गोस्वामीजी के स्वर में स्वर मिला सकते हैं तो बुद्धिवादी कौन है?

ऐसे ही प्रकृति-चित्रण के सम्बन्ध मे लेखक का कहना है, अँगरेजी कवि वर्ड्स्वर्थ जिस प्रकार इन्द्र धनुष देखकर हर्षोद्रेक से पागल हो उठता था, हिन्दी के आधुनिक भावुक कवि भी प्रकृति का सौन्दर्य देखकर उन्मत्त हो उठते है! सुमित्रानन्दन पन्त ने लिखा है.......। तब क्या हर्षोद्रेक का आधार मानसिक है? क्या प्रकृति का सौन्दर्य देखकर उन्मत्त हो उठने वाले कवि किसी की बुद्धि को प्रभावित करना चाहते हैं?

राष्ट्रीय कविताओं के प्रसग मे डा० श्रीकृष्णलाल ने लिखा है— "भारतवर्ष को जन्म-भूमि मानना हमने पश्चिम से सीखा।" यह खोज और भी महत्वपूर्ण होती यदि वे कहते कि भारतवर्ष का नाम भी हमें अँग्रेजों से मिला है। छायावादी कविता का जन्म भी उन्होने अँग्रेजी प्रभाव से माना है। यही प्रभाव बँगला कविता से होकर भी आया परन्तु स्वामी रामकृष्ण परमहस और विवेकानन्द का जो प्रभाव निरालाजी तथा पन्तजी पर पड़ा है, उसे डाक्टर श्रीकृष्णलाल ने नही देखा। सस्कृति और मध्यकालीन कवियो के प्रभाव को भी उन्होने नही आँका। हमारे आलोचक वस्तुस्थिति से अभी काफी दूर हैं, इसीलिये उनकी समीक्षा एकांगी होती है।

फिर भी डाक्टर श्रीकृष्णलाल की पुस्तक से नये साहित्य की अच्छी जानकारी होती है यद्यपि वह पूरी नहीं होती। उनका दोष यह है कि उन्हे अत्यधिक उद्धरणों से प्रेम है। उनका गुण उनकी विश्लेषण की क्षमता है जिसके विकास की यथेष्ट सम्भावना है। इसमें सन्देह नही, उनमे हम हिन्दी का एक सुन्दर आलोचक पा सकते है।

[१९४५]

'देशद्रोही'

कथाकार यशपाल का यह दूसरा उपन्यास है। पहला था—'दादा कामरेड'। उसका सम्बन्ध था आतंकवादियो के जीवन से। विज्ञापन के अनुसार वह शरत् बाबू के 'पथेर दाबी' का एक प्रकार से उत्तर था; आतकवादियों के जीवन पर प्रकाश डालकर उनका सही चित्र पाठकों के सामने पेश करता था। उसकी भूमिका में लेखक ने स्पष्ट कर दिया था कि राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं पर प्रकाश डालना उसका मुख्य ध्येय था। शैल और हरीश के रोमास ने इन समस्याओ को रङ्गीन बना दिया था। "देशद्रोही" का सम्बन्ध पिछले असहयोग-आन्दोलन—सन् '३० वाले—से लेकर महायुद्ध तक की राजनीतिक घटनाओं से है। रोमास का रङ्ग पहले से कुछ गहरा ही है। चाहे जिस दृष्टिकोण से देखा जाय, यह उपन्यास 'दादा कामरेड' को बहुत पीछे छोड़ आया है। शरत् को पसन्द करनेवालों के लिए इसमें काफ़ी मसाला है। उन्हे 'दादा कामरेड' से असन्तोष हुआ भी हो तो इससे उन्हे आशातीत तृप्ति होगी। "पथेर दाबी" का ही आनन्द उन्हे यहाँ न मिलेगा; श्रीकान्त की आत्मकथा का रस भी उनकी आत्मा को शीतल करेगा।

उपन्यास ख़त्म करने पर अरस्तू और कोलरिज की याद आ गई जिन्होंने कला और धोखे के मसले पर विचार किया है। अरस्तू ने शायद कहा था कि कला के लिये वैज्ञानिक सत्य की अपेक्षा नहीं है; पाठक या दर्शक को जॅच जाय कि यह सच है तो उसी से काम चल जाना चाहिए। और कोलरिज ने छायालोक के प्राणियों को अपनी कल्पना से ऐसा सप्राण कर दिया था कि वे यथार्थ और

उससे बढकर मालूम पड़ने लगे थे। "देशद्रोही" उपन्यास का घटना-क्रम हमें अफगानिस्तान से दक्षिण रूस तक की सैर कराता है लेकिन सच तो यह है कि जैसे कोलरिज का मेरिनर वर्ड्स्वर्थ के पीटर बेल से बढ़कर है, वैसे ही दूर देशो के उन सुदर दृश्यों के आगे हिन्दुस्तान के दृश्य—जिनमे दिल्ली भी है—फीके लगने लगते हैं। दृश्य क्या, ग़जनी और समरकन्द की सुन्दरियों के आगे भारतवर्ष की महिलाएँ भी कुछ हीन-सी लगती हैं। पाठक इसी से इस उपन्यास की रोचकता का अन्दाजा लगा सकते है।

कथा का आरम्भ होता है "अजानी अँधेरी राह में" जहाँ कथानायक डा० भगवानदास खन्ना को कुछ वजीरी पकड़े लिये जा रहे हैं। खन्ना फ़ौजी डाक्टर यानी लेफ्टिनेन्ट डाक्टर खन्ना हैं। वजीरियो के प्रदेश के वर्णन में लेखक ने कमाल किया है। छोटे-छोटे बच्चों की पोशाक, काली नीली चादरे ओढ़े स्त्रियाँ, खूँटों से बेतरतीब बिना पिछाडे के बँधे हुए खच्चर आदि-आदि का उल्लेख करके उसने अपने वर्णन को यथार्थ की सजीवता दे दी है और उसे यथार्थ से भी अधिक आकर्षक बना दिया है। इसके साथ डा० खन्ना की शारीरिक दुर्दशा, उसकी मानसिक उलझन, अपनी धर्मपत्नी राज का बार-बार याद आना आदि मनोवैज्ञानिक धरातल की वे बाते हैं जो सहृदय पाठकों के मर्म को सहज ही स्पर्श कर लेंगी। पठानों की बात-चीत, आपस का हिस्सा-बाँट, अगरेजी राज्य की आलोचना, उनकी आत्मसन्तोषयुक्त ज्ञानगम्भीरता आदि वे बाते हैं जो उपन्यास मे हास्य का पुट देकर उसे आकर्षक बनाती है।

दूसरा अध्याय "समय का प्रवाह" हमें खन्ना के विद्यार्थी-जीवन और दिल्ली के उस वातावरण से परिचित कराता है जिसमें वह पला और बढ़ा था। उसका एक साथी था शिवनाथ। कांग्रेस-आन्दोलन में जनता पर अत्याचार होते देखकर शिवनाथ का खून खौल उठा था

और खन्ना का साथ पाकर उसने बम बनाने की तैयारी की थी। परन्तु बिना "ऐक्शन" के ही वह चुङ्गी पर हॉड़ी में बम लिये हुए पकड़ा गया और अपनी बहन यमुना को निस्सहाय छोड़कर जेल भेज दिया गया। खन्ना डाक्टरी पढने लगा और समय पाकर डाक्टर भी हो गया। शिवनाथ जेल से छूटने पर कांग्रेस मे काम करने लगा। उसके सहायक थे बद्री बाबू जो कांग्रेस के दक्षिण दल के प्रतिनिधि हैं। शिवनाथ धीरे-धीरे कांग्रेस सोशलिस्ट हो जाता है। इन दो पात्रों को लेकर लेखक ने कांग्रेस की राजनीति का रेखाचित्र प्रस्तुत किया है।

डा० खन्ना ने वजीरियों की कैद से छुटकारा पाने के लिये अपने भाई को रुपया भेजने के लिये लिखा परन्तु रुपया न आज आया न कल। दो-तीन पठान सुन्दरियाँ उसकी ओर अवश्य आकृष्ट हुईं। इनमे एक थी इब्बा जो "आते-जाते अपनी सुरमा भरी बडी-बडी आँखों से डाक्टर की ओर कटाक्ष कर जाती।" परन्तु डाक्टर उन कटाक्षों से अपने ब्रह्मचर्य की रक्षा कर रहा था। इसी लिये—"कभी कोई समीप देखने सुननेवाला न होता तो धीमे से कह जाती—हिश्त बोद्दा।" बोद्दा यानी नामर्द। इब्बा के नामकरण की सार्थकता पाठक आगे देखेंगे। इब्बा की एक सहेली थी नूरन। "वे एक दूसरे को दिखाकर डाक्टर से मजाक करती और हाथ का अँगूठा चूमकर संकेत करती।" डाक्टर कैदी होने से दूसरों की बेगार करता था। एक दिन उसकी बारी नूरन के यहाँ मक्का पीसने की थी। नूरन ने मौका पाकर डाक्टर की बाँह पकड ली और कहा—अब ? "भय से डाक्टर का हृदय धक-धक करने लगा। नूरन ने डाक्टर को बाँहों में ले माथे पर दाँत मार दिया। नूरन के गले की चाँदी की भारी हमेल उसकी हँसली में चुभ गई। डाक्टर का चेहरा पुराने काग़ज की तरह पीला पड़ गया और शरीर पसीना-पसीना हो गया।" इसी तरह की घटन

शरत् बाबू के 'चरित्रहीन' में है जहाँ किरण दिवाकर को घसीटकर एक ही बिस्तर पर सुलाना चाहती है और वह बलि के बकरे की तरह मिमियाकर भागना चाहता है परन्तु भाग नहीं पाता। किरण सबेरे उससे कहती है—मैंने तुम्हारा ब्रह्मचर्य व्यर्थ ही नष्ट किया। परन्तु यहाँ उसकी नौबत नही आती। पठानिन चतुर थी। वह सब कुछ समझ गई—"उसे कॉपते देख नूरन शिथिल हो पीछे हट गई। डॉटकर उसने कहा—'उठा ले जा गठरी! क्या देखता है?' गठरी ले जाते हुए डाक्टर की कमर पर आ पड़ी नूरन की लात! जिसने उसे और जल्दी बाहर ढकेल दिया।" इसके बाद जब नूरन डाक्टर को देखती तो थूक देती और कहती—नामर्द!

धर्मपत्नी के बाद बोद्दा का यह पहला रोमास था।

छुटकारे की कोई राह न थी। घर से कोई जवाब आ नहीं रहा था और वजीरी उसे गजनी में बेच देने की बात चला रहे थे। केवल इब्बा निराश न होकर उससे कहती कि वह उसे भगा ले चले—उसे ग़जनी की राह भी मालूम है। डाक्टर उसकी बातों पर विचार करता। "मुझे सुलेमान खेल के मामजाई के शहर ले चल। तू तो इलमदार है। मेरा मर्द तो मुझे बहुत मारता है। उसे औरत से क्या मतलब? वह तो मुझे ही मर्द समझता है। मै तो औरत हूँ!....नही क्या?" डाक्टर इलमदार तो था लेकिन....

ईद के दिन कलमा पढाकर उसे मुसलमान बना लिया गया। ग़जनी में पोस्तीनों के व्यापारी अब्दुल्ला के हाथ वह बेच भी दिया गया। अब्दुल्ला के बेटे नासिर से उसकी दोस्ती हो गई। नासिर को अमानुल्ला के स्कूलों की हवा लग चुकी थी, इसलिए देश-विदेश के बारे में जानने की उसकी प्रबल उत्कण्ठा थी। वह डाक्टर का अन्तरङ्ग मित्र और फिर साला भी बन गया। इधर डाक्टर नूरन के प्रालिटेरियन प्रेम से घबरा गया था परन्तु बुर्जुआ अब्दुल्ला की

लड़की—अदब और नजाकत से उसका हाथ उठा कर सलाम करना और कहाँ वह नूरन का हाथ पकड़कर कहना, अब ? या अन्त में उसकी लात और इब्बा का "हिश्त बोद्दा ?" बद्री बाबू की सहायता से उधर खन्ना की धर्मपत्नी राजदुलारी उर्फ़ राज सार्वजनिक जीवन मे प्रवेश करती है। मिलों में हडताल और बद्री बाबू का अनशन, मिल-मालिको से समझौता—यह कहानी दिल्ली की है। इधर ग़जनी में—"दो मञ्जिल की खिड़की से झलक दिखा कल्पना को उन्मत्त कर देनेवाली नर्गिस ने जब, हस की ग्रीवा के समान कोमल अपनी बाँहे डाक्टर की गर्दन मे डाल कस्तूरी की भीनी और मादक गन्ध से सुवासित अपना सिर उसके हृदय पर रख आत्म-समर्पण कर दिया" तब भय से डाक्टर का हृदय धक-धक नही करने लगा और न पुराने काग़ज की तरह उसका चेहरा ही पीला पड़ गया। यहाँ पर कल्पना का वह चाँद उसे मिल गया जिसे पाने की आकांक्षा एक पत्नीव्रत के बावजूद उसके हृदय मे विद्यमान थी। "उसकी कल्पना की दूरगामी उड़ान बाँहों मे सिमटी, रसभीनी वास्तविकता के चारो ओर लिपटकर रह गई।" शरत् बाबू भी अपने शब्दो को इस तरह मधुमय नही बना सके। जैसा मोहक प्रेम है, वैसी ही रोमांटिक वह चित्र भूमि है जिस पर ये दो प्रेमी अंकित किये गये हैं। "रङ्गीन उपवनो से छिटकी और उत्तुङ्ग हिरमजी पहाड़ो से घिरी गजनी की उपत्यका से परे संसार का अस्तित्व उसके लिये रह ही नहीं गया।" लेकिन कब तक ? जब तक "कल्पना की दूरगामी उड़ान" थोड़ी ही दूर में थककर उस उपत्यका मे निढाल होकर गिर न पड़ी। नर्गिस के समीप बैठे रहना डाक्टर के लिये यन्त्रणा बन गया। वह झल्लाहट मे उठकर चल देता और फिर स्वय ही नर्गिस के प्रति अपनी इस निष्ठुरता से लज्जित होकर तर्क करने लगता, इस बेचारी का क्या अपराध है ! और वह रोमांटिक चित्रभूमि, "ग़ज़नी की वह अत्यन्त सुन्दर

और रमणीक उपत्यका डाक्टर के लिये जेल का आँगन बन गई।" इसके साथ बुर्जुआ अब्दुल्ला के शोषण-व्यापार से भी उसे घृणा होने लगी और एक दिन अपने अन्तरङ्ग नासिर के साथ वह कल्पना-परी नर्गिस के कस्तूरी-वासित केशपाश से सहज ही अपना दिल निकालकर रूस की सीमा मे जा पहुँचा।

स्तालिनाबाद का वर्णन, डाक्टर और नासिर का बिना पासपोर्ट के पकड़े जाना, उनका क्रास इग्जामिनेशन और फिर डाक्टर का समरकन्द के सैनिटोरियम में काम करना—कही भी लेखक ने चित्रण की सजीवता को फीका नहीं होने दिया। डाक्टर खन्ना का परिचय हुआ शिशुशाला की अध्यक्ष कामरेड खतून से। डाक्टर कम्यूनिज़्म के अधिक निकट आता गया। और भी महत्त्वपूर्ण यह कि "तीन पहर रात गये तक खतून की बगल बैठ, उसकी निरावरण बाँहो और शरीर के अनेक अङ्गो को देखकर भी डाक्टर को खयाल न आता कि वह एक स्त्री के साथ एकान्त मे है।" पता नहीं पाठक कथाकार की इस बात से कहाँ तक सहमत होंगे कि "खतून को भी खयाल न आता कि एक पूर्ण युवा पुरुष उसके बिस्तर पर बैठा है ?" विशेषकर इसलिए कि खतून को दिल डूबने की बीमारी थी। इसी का दौरा होने पर डाक्टर ने उसके हृदय पर हाथ रखकर उसकी गति भी देखी। कुछ क्षण चुप रहकर उसने सलाह दी "तुम सो जाओ! विश्राम करो! तुम्हारे लिये एक खुराक दवा मैं अभी ला देता हूँ।" शरत् के पाठक यहाँ समझ जायँगे कि खतून क्या जवाब देगी। गृहदाह में अचला जैसे सुरेश का हाथ अपने हृदय पर दबा लेती है वैसे ही "अपने हृदय पर रखा डाक्टर का हाथ दबा खतून ने उसे उठने न दिया" और कहा—"नहीं तुम बैठो! औषध मैं बहुत दिन पी चुकी हूँ!" पोपोलोफ से अपनी प्रतिद्वन्द्विता की वह बाते करने लगी। लेकिन डाक्टर उसे सोने की दवा पिलाकर

की बहिन यमुना से भेंट करता है। वहाँ, उसे मालूम होता है कि उसकी स्त्री राज ने कांग्रेसी कार्यकर्ता बद्री बाबू के साथ विवाह कर लिया है। क्रमशः उसकी भेंट अपनी साली चन्दा और उसके पति राजाराम से होती है। डाक्टर का रोमांस फिर शुरू होता है। क्या मौके से लेखक ने शरत् के 'चरित्रहीन' को याद किया है—चन्दा को 'चरित्र-हीन' बहुत पसन्द है और अब उसका नायक ही उससे मिलनेवाला है। एक ओर पति, दूसरी ओर खन्ना,—चन्दा का हृदय संघर्ष से मथ जाता है, विशेषकर इसलिए कि पति बड़ा शक्की है! चन्दा को इस बात से और दुख होता है कि शारीरिक सम्पर्क न होने पर भी पति को इतना सन्देह होता है। चरित्र निभाने के लिए वह सभी कुछ सहती है परन्तु पति को फिर भी सन्तोष नहीं होता है।

चन्दा की छोटी बच्ची को पानी में खेलने से ज्वर हो जाता है। काश, डाक्टर भी पानी में खेला होता और उसे ज्वर हो आता। जैसा कि वह चन्दा से कहता है—"हो जाता तो मैं आपके पास आकर लेट रहता। मेरा सिर दबाना पड़ता। आपको जहमत होती और मुझे अच्छा लगता।" चन्दा पूछती है, क्या बिना बीमार हुए नहीं लेट सकते? डाक्टर कहता है "वैसे तो लेटा ही हूँ परन्तु बीमार का अधिकार अधिक हो जाता है।" डाक्टर तकिया लेकर सहारा नहीं लेना चाहता; चन्दा पूछती है, वह उसे किस तरह सहारा दे सकती है। डाक्टर कहता है—"अपनी गोद मे स्थान देकर।" इति शुभम्। खन्ना के प्रेम का यही वास्तविक रूप है। असली बात उसने कही डाली। गुलशाँ, ख़तून, नर्गिस पठान लड़कियाँ,—उसे गोद मे सिर रखने को अब तक न मिला था। चन्दा उसकी इच्छा तुरन्त ही पूरी नहीं कर सकी। वह मान और क्रोध करता है लेकिन दूसरी बार चन्दा ने लेटे हुए खन्ना के माथे

पर हाथ रखकर कहा—'तुम्हारा माथा कुछ गरम है!' आखिर माथा गरम ही हो गया! चन्दा "खन्ना का सिर अपनी गोद में ले उसके माथे को सहलाने लगी।" पूरी मनोकामना जी की। चन्दा ने पूछा—"ऐसे तुम्हे सन्तोष होता है?" बोद्दा ने उत्तर दिया—"बहुत!"

और भी, चन्दा की छोटी बच्ची की तरह वह उसकी गोद में खो जाना चाहता है। "मन चाहता है, जैसे शशि तुम्हारी गोद में छिप जाती है, वैसे ही शशि बन जाऊँ?" चन्दा ने सिर झुकाये, अधमुँदी आँखों से उत्तर दिया—"तो क्या उससे कम हो?" और "उसका मन चाह रहा था, खन्ना का सिर उठा कर हृदय से लगा ले!"

चन्दा ने ठीक प्रश्न किया था। यह उपन्यास का चरितनायक छोटी बच्ची शशि से किस बात मे कम है? क्या वह अपनी बाल्य भावनाओं पर विजय पाकर विकसित पुरुषत्व प्राप्त कर सका है? क्या उसका समाजवाद शरत् के पात्रों की इसी गोद में सिर रखने की इच्छा से विशेष महत्त्व रखता है? और भी, साहस करके यह पूछने की इच्छा होती है कि खन्ना को फौज का डाक्टर बनाकर, अफ़रीदियो द्वारा उसे उड़वाकर, अफ़ग़ानिस्तान और रूस की सैर कराकर, हिन्दुस्तान मे कम्यूनिस्ट बनाकर और अन्त मे प्रेम की वेदी पर उसका बलिदान कराके लेखक ने क्या बालसुलभ कल्पना का ही परिचय नहीं दिया? निश्चय ही लेखक चतुर है; उसकी बुद्धि बच्चो की सी नही है। वह इस काल्पनिक कहानी को यथार्थ के रङ्ग में रँग देता है, इस बात में उसकी प्रौढ़ों जैसी चतुरता है, परन्तु उसकी भाव-धारा का मूल स्रोत क्या है? उसके व्यक्तित्व का रहस्य क्या इस वाक्य मे निहित नहीं है—"मन चाहता है, जैसे शशि तुम्हारी गोद में छिप जाती है, वैसे ही शशि बन जाऊँ?"

पति की शङ्काओं से परेशान होकर चन्दा एक रात छत से नीचे कूद पड़ती है। झाड़ियों पर गिरने से वह मरने से बच जाती है। खन्ना उसका उपचार करता है। बच्चो की तरह होने की बात को दोहराता है।

६ अगस्त और उसके बाद तोड़-फोड़। कांग्रेस सोशलिस्ट शिवनाथ फरार हो जाता है। खन्ना चन्दा के पति राजाराम के यहाँ कम आता है लेकिन "कभी बहुत थकावट अनुभव होने पर वह घण्टे आध घण्टे के लिए चन्दा के समीप आ तखत पर लेट जाता। चन्दा का हाथ अपने माथे पर अनुभव कर उसकी गोद मे अपना सिर रख आँखे मूँद लेट जाने से उसे विश्राम और स्फूर्ति मिलती।" एक दिन इसी दशा मे उसके माथे पर चन्दा की आँखो से निकले दो बूँद आँसू आ टपके। उसने उठकर "अपनी बाँह उसकी गर्दन मे डाल उसका सिर अपने हृदय पर रख लिया।...चन्दा का मुख उठा उसने उसकी आँखो के आँसू चूम लिये।" चन्दा रोई क्यों? इसलिए कि वह घर के जीवन से ऊबकर खन्ना के साथ निकल जाना चाहती है। लेकिन वह शरत के पात्रों की तरह टाल-मटूल करता है। वह उसकी गोद में लेटना भर चाहता है; उसे सँभालने, साथ रखने, उसका खर्चा बर्दाश्त करने के लिए वह तैयार नहीं है। वह राजाराम के रहते आ जाता तो यों ही इधर-उधर की बातें और विनोद करके चला जाता। कभी चन्दा के अकेले रहते आता तो उसके समीप लेट जाता या मचल कर उसकी गोद मे सिर रख लेता और चाहता, कुछ क्षण के लिए सब कुछ भूल जाय। पति के सन्देह से ऊबकर चन्दा अपना मार्ग ढूँढ़ने के लिये छिपकर खन्ना से रेती पर मिलती है। "आज निश्चय किया था, इस समय यहाँ आकर तुमसे कहूँगी, अब लौट नही सकती। अपनी बहन, माँ, बेटी जो कुछ भी समझो, मुझे ले चलो। या फिर सामने गङ्गा है।" लेकिन देवदास की तरह

खन्ना उसे सहारा नहीं दे सकता। वह तो खुद गोद में सिर रखकर सब कुछ भूल जाना चाहता है; चन्दा का भार अपने सिर पर कैसे ले ले? वह युक्ति भिड़ाता है—"तुमने अपना बलिदान कर सब सहा, अब उसके प्रति विद्रोह भी करो तो क्या कर सकती हो? जब तक जीवन मे खडे होने का साधन तुम्हारे पास न हो!" लेकिन खन्ना जितना उसकी गोद मे लेटने का इच्छुक है, क्या उतना ही इच्छुक वह उसे अपने पैरो पर खड़ा देखने के लिये भी है? चन्दा के जीवन में एक सङ्घर्ष पैदा करके वह उसका अन्त करने के लिये किसी तरह की भी सहायता उसे नही देता, देने की चेष्टा भी नही करता। चन्दा निराश होकर फिर घर लौट गई।

मिल में हड़ताल होती है। खन्ना मजदूरो को समझाने जाता है। वहाँ घायल हो जाता है। शिवनाथ को मालूम था कि खन्ना रूस से जाली पासपोर्ट बनाकर आया है। वह उसे धमकी देता है कि कानपुर छोडकर न गया तो वह सारा भेद पुलिस के पास लिख भेजेगा। अब खन्ना को छिपकर इलाज कराने की जरूरत है। चन्दा उसे लेकर अपनी बहन राज के यहाँ चलती है। रानीखेत पहुँचकर दोनों "रङ्गोड़ा" की चढ़ाई चढ़ते हैं। पहाड़ी बियाबान मे थकी हुई चन्दा अपनी बहन राज के यहाँ पहुँचती है लेकिन राज के जीवन का एक नया अध्याय आरम्भ हो चुका है। अब उसका पति आया है, लोग सुनकर क्या कहेगे? चन्दा घायल खन्ना के साथ उसी रात को बहन के यहाँ बिना ठहरे वापस चल देती है।

जब चन्दा कानपुर से चली थी तब उसके पति बाहर थे। लौट कर उन्होने उसे गायब देखा। ढूँढने निकले, और पहाड़ी रास्ते में उन्हे चन्दा मिल भी गई। लात, तमाचा, सभी से काम लिया। घायल खन्ना मना करता है; राजाराम डाटता है—"चुप धूर्त, देश-द्रोही, बदमाश"। बेहोश चन्दा को डाँडी मे लिटाया गया और घायल

खन्ना को वहीं छोड़कर राजाराम घर की ओर चल दिया। उसकी प्राणशक्ति क्षीण हो रही थी। "सिर पत्थरों के ढेलो पर टिका था परन्तु मन मे विश्वास था, चन्दा उसका सिर गोद में लिये है, जीवन संग्राम में फिर से लड़ने के लिये वह स्वास्थ्य-लाभ कर रहा है।" इस प्रकार देशद्रोही कहलाकर, देश की सेवा करके भी देशवासियों की ठोकर खाकर खन्ना शहीद हो जाता है।

कहानी हूबहू ऐसी नही है जैसी इतना लेख पढने पर शायद मालूम हो, लेकिन है बहुत कुछ ऐसी ही। जन-युद्ध और कांग्रेस सोशलिस्टों की नीति को लेकर लम्बे-चौडे विवाद भी हैं और कांग्रेस के आन्दोलन और हड़तालो का भी चित्रण किया गया है। लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि 'देशद्रोही' मूलतः एक रोमांटिक कृति है जिसमे खन्ना के रोमांसो की प्रधानता है। जिस वर्ग के लिये खन्ना काम करता है, उस वर्ग का इसमें उतना और वैसा चित्रण नही है, जितना खन्ना के हृदय की प्रेम-सम्बन्धी उथल-पुथल का। दूसरे शब्दों में उपन्यास पढ़कर क्या पाठक को यह निश्चय नहीं हो जाता कि लेखक की निगाह जहाँ खन्ना के हृदय में पैठकर उसके निगूढ रहस्यों को टटोला करती है, वहाँ मजदूर-वर्ग और उसकी आर्थिक या सामाजिक समस्याओं को वह केवल छूकर ही रह जाती है?

इसे हम राजनीतिक उपन्यास न कहकर "श्रीकान्त" की कोटि का एक सामाजिक उपन्यास ही कह सकते हैं जिसमें प्रेम-कहानी प्रधान है। हमें उपन्यास से वह चीज़ माँगने का चाहे अधिकार न हो जो लेखक को देना अभीष्ट न थी लेकिन यशपाल का ध्येय यहाँ राजनीतिक और सामाजिक जीवन पर मार्क्सवादी दृष्टिकोण से प्रकाश डालना ही है। क्या यह कहानी जन-युद्ध के पेचीदा सवाल पर काफी रोशनी डालती है? ९ अगस्त की घोषणा ने लोगों मे कौन-

सी प्रतिक्रिया उत्पन्न की, भोले-भाले और धूर्त—दोनों ही तरह के लोगों ने किस तरह देश में अशान्ति को जन्म दिया, मजदूरों और किसानों में इस तोड़-फोड़ का क्या असर हुआ, इत्यादि-इत्यादि सैकड़ों ऐसी बातें है जिनका विशद चित्रण हम इस तरह के उपन्यास मे पाना चाहते है। यदि "पथेर दाबी" या "श्रीकान्त" को हम प्रगतिवाद की सीमा मान ले तो दूसरी बात है; परन्तु यदि प्रगतिवाद उनसे बढ़कर कुछ और भी है तो इस रोमांस से छुटकारा पाकर लेखक को समाज की हलचल का एक नये सिरे से अध्ययन और चित्रण करना होगा। और यह प्रेम-कहानी भी कैसी है? एक ऐसे निकम्मे आदमी की है जिसे नालायक भी कहे तो बेजा न होगा। नर्गिस से प्रेम करता है; फिर एक दिन ऊबकर, उसे छोड़कर चल देता है। मर्द का क्या यही काम है? यह नही कि नर्गिस से प्रेम करके उसने ग़लती की हो और अब वह इससे बचा रहेगा। श्रीकान्त की तरह वह स्त्रियों के साथ आकर्षण-प्रत्याकर्षण का खेल छोड़कर और करता क्या है? नर्गिस से भागे तो कही खतून मिल गई, तो गुलशॉ, तो कही चन्दा। औरत के नज़दीक आने पर वह भाग खड़ा होता है; दूर होने पर प्रेम करता है। कारण यह है कि वह आध्यात्मिक प्रेम मे विश्वास करता है—शायद बिना जाने ही। गोद मे सुख से लेटना चाहता है, लेकिन चन्दा को उसके दुष्ट पति से छुटकारा दिलाने के लिये वह एक कदम आगे नही बढ़ता।

इसमें सन्देह नहीं कि गृहस्थ-जीवन की समस्याओं के चित्रण में यशपाल को बहुत बड़ी सफलता मिली है। राजाराम का चरित्र उनकी कुशल लेखनी का प्रमाण है। व्यग्य और हास्य पर उनका अधिकार है। अजाने प्रदेशो को भी कल्पना और पुस्तकों के सहारे उन्होंने सजीव और सचित्र कर दिया है। फिर भी मध्यवर्ग के असफल और अस्वस्थ नवयुवको की बीमारी पर हँसा जा सकता है; आँसू बहाना

असम्भव है। लेखक अपने व्यग्य और हास्य के तीर खन्ना को बचा-कर छोड़ता है, अथवा खन्ना को देखकर वह अपने व्यग्य तीर छोड़ना भूल ही जाता है।

तात्पर्य यह कि शरत् की छाया हिन्दी साहित्य पर अब भी गहरी है। यशपाल जैसे लेखक पर भी उसका प्रभाव स्पष्ट है। "देश-द्रोही" को श्रीकान्त के साथ या उससे ऊँचा रखना आज के लेखक के लिये प्रशसा की बात नही हो सकती। यशपाल के पास व्यग्य और हास्य के पैने अस्त्र है जो शरत् बाबू के पास नही थे। तर्क और बुद्धि की दृष्टि से वह समाजवादी है। फिर भी कथा-साहित्य में वह घरेलू जीवन की परिधि के बाहर नही निकल पा रहे। एक पत्नी, एक पति और एक मित्र—यह सनातन त्रिकोण उनकी रच-नाओ मे बार-बार उभरकर आता है। आज के सामाजिक जीवन मे भी यह त्रिकोण है लेकिन वह त्रिकोण ही नही, और भी बहुत-सी बाते हैं। निकम्मे नवयुवकों का चित्रण किया जाय, लेकिन तटस्थता से, व्यग्य अस्त्र साधकर। देशद्रोही पढकर साधारण पाठको को यह भ्रम हो सकता है कि आदर्श युवक किसी न किसी की गोद मे सिर रखकर सो रहने के लिये बड़े उत्सुक रहते है। जिस कष्ट-सहिष्णुता, अथक परिश्रम और उत्कट लगन से एक कम्यूनिस्ट का निर्माण होता है या होना चाहिये उसका आभास पाठक को इस उपन्यास मे नही मिलता। यह उसकी बहुत बड़ी कमज़ोरी है।

(१६४४)

अहं का विस्फोट*

अपने आलोचनात्मक लेखों के संग्रह को नगेन्द्रजी ने 'विचार और अनुभूति' का नाम दिया है। अच्छी आलोचना में अनुभूति का अंश होना भी चाहिए; इसके बिना शायद वह रचनात्मक साहित्य की श्रेणी में न आये। नगेन्द्रजी की अनुभूति सन् '३६ के छायावादी की है; उनके विचार सन् '२६ के अधकचरे फ्रायड-भक्तों के। हर फ्रायड-भक्त को अपनी अनुभूति की स्वस्थता में बड़ी शंका रहती है; वह जगह जगह नगेन्द्रजी में भी मिलती है। छायावादी कवि सन् ३०, और ३६ में जहाँ थे, वहाँ से वे—अपने विचारों और अनुभूति दोनों में ही-काफी आगे बढ़ गये हैं। लेकिन, नगेन्द्रजी के विचार उन्हें एक कदम आगे ठेलते हैं तो उनकी अनुभूति उन्हें चार कदम पीछे घसीट ले जाती है। इस तरह इस किताब का नाम 'एक कदम आगे तो चार कदम पीछे' भी हो सकता था।

एक कदम आगे, किस तरह—सो भी देखिए। रस के लोकोत्तर आनन्द या 'ब्रह्मानन्द सहोदर' पर उनकी टिप्पणी—'काव्य का सम्बन्ध मानव-मन से है, और मन में किसी प्रकार की अपार्थिवता नहीं है।...रस की अलौकिकता भी अन्त में लौकिक ही ठहरती है।'

नगेन्द्रजी को धन्यवाद, जो उन्होंने भौतिकवाद (या भौतिकता) को ऐसी दृढ़ता से पकड़ा। इससे उनके शाश्वतवाद के आगे एक प्रश्नसूचक चिह्न अवश्य लग जाना चाहिये।

---

*विचार और अनुभूति—लेखक प्रोफ़ेसर नगेन्द्र। प्रकाशक प्रदीप कार्यालय, मुरादाबाद।

छायावादी कविता के बारे मे वह कहते है—'मुझे आधुनिक काव्य की आध्यात्मिकता मे एकदम विश्वास नही है।' इस तरह छायावाद और आध्यात्मिकता की भूलभुलैया मे वह नही पडे।

नये साहित्य के बारे मे कहते हैं—'यह न मानना कृतघ्नता होगी कि भारतीय जीवन मे समाजवाद की तरह प्रगतिवाद भी एक जीवित शक्ति है। उसमे उत्साह और चैतन्यता है।' हिन्दी मे स्वस्थ साहित्य की रचना कहाँ हो रही है, इसका उन्हे पता है।

इसी तरह उन्होंने गुलेरीजी के स्वस्थ बहिर्मुखी दृष्टिकोण की भी प्रशंसा की है।

इसके बाद जब हम उनके विचारो और अनुभूति को जरा नज़दीक से देखते हैं तो काफी उलझन पैदा करने-वाली बाते हमारे सामने आती हैं। जहाँ वह मन की पार्थिवता मे विश्वास करते हैं, वहाँ यह भी कहते जाते हैं कि आध्यात्मिकता मे उन्हे अविश्वास नहीं है और छायावाद की उत्पत्ति जहाँ अतृप्त कामवासना मे मानते हैं, वहाँ इसे स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह भी करार देते जाते हैं। मानो तृप्ति स्थूल होती है और अतृप्त रहना ही सूक्ष्मता का परिचायक है।

नगेन्द्रजी बहुत ऊँचे दर्जे के व्यक्तिवादी है। इसलिये उनके सभी सिद्धान्त व्यक्तिवाद से जुडे हुए हैं।

साहित्य क्या है ?

'साहित्य वस्तुतः आत्माभिव्यक्ति है।'

इस आत्म की व्याख्या कीजिये। साहित्यकार की व्याख्या मे वह भी आ जाती है।

'स्वभाव से ही साहित्यकार मे अन्तर्मुखी वृत्ति का ही प्राधान्य होता है। वह जितना महान् होगा उसका अहं उतना ही तीव्र और

बलिष्ठ होगा जिसका पूर्णतः समाजीकरण असम्भव नही तो दुष्कर अवश्य हो जायगा।'

इसलिए साहित्य इस दुर्दमनीय अह की अभिव्यक्ति ठहरा। नगेन्द्रजी के साहित्यकार मे अन्तर्मुखी वृत्तियों की प्रधानता होती है और एक तरह से वे साहित्य और इन वृत्तियों को पर्यायवाची मान लेते हैं। अन्तर्मुखी वृत्तियों का मतलब है कि दुनिया से आँखे मूँद लो और अपनी असाधारण प्रतिभा से असाधारण साहित्य की रचना करते रहो।

नगेन्द्रजी साहित्यकार की इस शाश्वत व्याख्या से ही सन्तुष्ट नही हुए। उन्होंने अपने इट्रोवर्ट साहित्यकारों की श्रेणी मे गोर्की, इकबाल और मिल्टन को भी बिठाया है। ये महान् साहित्यिक अपने अह के बल पर ही बडे बन सके है। कहते हैं—'गोर्की, इकबाल, मिल्टन आदि के व्यक्तित्व का विश्लेषण असदिग्ध रूप से सिद्ध कर देगा कि उनके भी साहित्य मे जो महान् है वह उनके दुर्दमनीय अह का विस्फोट है, साम्यवाद, इस्लाम या प्यूरिटन मत की अभिव्यक्ति नही।' अब विश्व साहित्य का एक नया इतिहास लिखा जाना चाहिये जिसका नाम रखा जाय 'अह का विस्फोट।' इसमें यह दिखाया जायगा कि ससार के सभी महान् साहित्यकार साम्यवाद इस्लाम, प्यूरिटन मत जैसी क्षुद्र वस्तुओं से ऊँचे उठकर विशुद्ध रस के तल पर (या रसातल पर) अपने अहं का बैलून फोड़ते रहे है। यदि कोई कहे कि इतिहास से यह सिद्ध नही होता तो हम नगेन्द्रजी की एक दूसरी उक्ति से उसका मुँह बन्द कर देगे और वह यह कि आलोचना भी तो आत्माभिव्यक्ति है ; उसमे विज्ञान क्या कहता है, इतिहास क्या कहता है, इन क्षुद्र सत्यो की ओर कहाँ तक ध्यान दिया जाय। आलोचक का कर्त्तव्य है—'आलोच्य वस्तु के मध्यम से अपने को अभिव्यक्त करना जिसके बल पर ही आलोचना साहित्य

पद को प्राप्त हो सकती है।' यही एक प्रकार है जिससे गोर्की, इकबाल और मिल्टन का आलोचक उन्हीं के बराबर आसन पर बैठने का अधिकारी हो सकता है। उसका आलोचना तथा साहित्य (या निर्वाण) पद को प्राप्त कर सकती है जब उसके अहं के विस्फोट का शब्द गोर्की, इकबाल वगैरह से किसी कदर भी घट कर न हो।

नगेन्द्रजी ने जहाँ फ्रायड की तरह अतृप्त कामवासना को साहित्य की प्रेरणा माना है, वहाँ एडलर का यह मत भी उद्धृत किया है कि मनुष्य की हीन भावना (inferiority complex) ही साहित्य की प्रेरक शक्ति है। 'एडलर मानवता की चिरन्तन हीनता की भावना को ही जीवन की मूलप्रेरणा मानता है, साहित्य के मूल कीटाणु क्षतिपूर्ति की कामना में खोजता है।' इस सत्य की पुष्टि के लिये नगेन्द्रजी ने तुलसी बाबा और छायावादी कवियों का उदाहरण दिया है। यदि यह सिद्धान्त सच है तो सोचिये जो संसार के तमाम महान् साहित्य को अहं का विस्फोट मानता है, वह किस भयंकर क्षति की पूर्ति करना चाहता होगा, उसकी हीन भावना किस अन्धकार-मय अतल गह्वर जैसी होगी जिसे भरने के लिये आकाश को छूनेवाले पिरैमिड की जरूरत होती है!

नगेन्द्रजी की ट्रैजेडी यह है कि वे योरप के व्यक्तिवादी मनोवैज्ञानिकों का अन्धानुसरण करके अभाव और अतृप्ति को ही काव्य की प्रेरणा मानते हैं और यह जानते हुए भी कि अभाव को काल्पनिक तृप्ति से दूर करनेवाला साहित्य स्वस्थ नहीं है, वे और किसी तरह के साहित्य का अस्तित्व मानने को तैयार नहीं होते। इस तरह के पलायनवादी, व्यक्तिवादी, निर्जीव और कभी-कभी अस्वस्थ साहित्य को वे तरह-तरह के रंगीन विशेषण पहनाकर विचार और अनुभूति के नाम पर हिन्दी पाठकों के सामने पेश करते हैं।

समस्त साहित्य अतृप्ति और अभाव की काल्पनिक पूर्ति है, इस विषय में उनके निम्न वाक्यों को पढ़ जाइए—

(१) 'और वास्तव में सभी ललित कलाओं के—विशेषतः काव्य के और उससे भी अधिक प्रणय-काव्य के मूल में अतृप्त काम की प्रेरणा मानने में आपत्ति के लिये स्थान नहीं है।'

(२) 'प्रत्यक्ष जीवन में सौन्दर्य-उपभोग से वंचित रहकर ही तो छायावादी कवि ने अतीन्द्रिय सौन्दर्य के चित्र आँके।

(३) 'छायावाद की कविता प्रधानतः शृंगारिक है, क्योंकि उसका जन्म हुआ है व्यक्तिगत कुण्ठाओं से और व्यक्तिगत कुण्ठाएँ प्रायः काम के चारों ओर केन्द्रित रहती हैं।'

नगेन्द्रजी छायावाद के समर्थक के रूप में प्रसिद्ध हैं, उनका समर्थन छायावाद के लिये कितना हितकर है, इसे छायावादी और गैर छायावादी पाठक ऊपर के वाक्यों को पढ़कर समझ सकेंगे।

इस व्याख्या पर शाश्वतवाद का मुलम्मा कैसे चढ़ाया जाता है, यह भी देख लीजिये—

(१) 'उपर्युक्त विवेचन मेरी अपनी धारणाओं के इतना निकट है कि इसमें विशेष आपत्ति के लिए स्थान नहीं है। सारतः महादेवी के ये निबन्ध काव्य के शाश्वत सिद्धान्तों के अमर व्याख्यानहैं।'

(२) 'छायावाद में आरम्भ से ही जीवन की सामान्य और निकट वास्तविकता के प्रति एक उपेक्षा एक विमुखता का भाव मिलता है। आज के आलोचक इसे पलायन कहकर तिरस्कृत करते हैं, परन्तु यह वास्तव को वायवी या अतीन्द्रिय रूप देना ही है—जो मूल रूप में मानसिक कुंठाओं पर आश्रित होते हुए भी प्रत्यक्ष रूप में पलायन का रूप नहीं है।'

यह अंतिम वाक्य कई बार पढ़ने लायक है। छायावाद की

अतींद्रियता 'मूल रूप' मे मानसिक कुंठाओं पर आश्रित है लेकिन 'प्रत्यक्ष रूप' मे वह पलायन का रूप नहीं है। नगेन्द्रजी ने मूल रूप और प्रत्यक्ष रूप मे कैसा मौलिक भेद किया है! लेकिन हमे तो मूल रूप से ही मतलब है, भले ही प्रत्यक्ष रूप मे छायावाद पलायन न हो, मूल रूप मे पलायन होने से ही हमारा काम चल जायगा।

नगेन्द्रजी इसी तरह शब्दो के साथ आँख-मिचौनी खेला करते है। छायावाद का विरोध करने के लिये आपका समर्थन पेश कर देना ही काफी है। छायावाद के विरोध मे यही बात कही भी गई है। लेकिन वह आंशिक सत्य ही है। छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह नहीं रहा वरन् थोथी नैतिकता, रूढिवाद और सामन्ती साम्राज्यवादी बन्धनो के प्रति विद्रोह रहा है। यही उसका मजबूत पहलू है। परन्तु यह विद्रोह मध्यवर्ग के तत्वावधान मे हुआ था, इसलिए उसके साथ मध्यवर्गीय असंगति, पराजय और पलायन की भावना भी जुड़ी हुई थी। नगेन्द्रजी ने छायावाद को अन्तर्मुखी वृत्तियो का प्रकाशन मानकर उसके प्रगतिशील पहलू को नजरन्दाज कर दिया है। केवल एक जगह उन्होंने इशारा किया है कि छाया-वादी विद्रोह का एक सामाजिक रूप भी था। उन्होने स्वीकार किया है कि निराला, नवीन जैसे 'शक्तिशाली व्यक्तित्वों' मे वह मिलता है। छाया-वाद के इस पहलू की विशेष चर्चा उन्होने नहीं की। इसका कारण यह है कि ऐसी चर्चा उनकी अनुभूति के क्षेत्र के बाहर जा पड़ती है। इसका प्रमाण यह है कि साहित्य मे जब भी वास्तविकता या लोकहित की चर्चा करना जरूरी होता है, तब नगेन्द्रजी या तो पैतरा बदलकर अलग खडे हो जाते है या उसे देखकर मुँह बनाने लगते हैं या पला-यन से उसका संबन्ध जोड़ देते हैं!

प्रसाद जी के लिए उन्होंने लिखा है—'वे बडे गहरे जीवन द्रष्टा थे। आधुनिक जीवन की विभीषिकाओं को उन्होने देखा और सहा

था।' लेकिन इससे परिणाम क्या निकला ? यह कि प्रसादजी पलायनवादी थे और ऐसे व्यक्ति को, गहरे जीवन-द्रष्टा को—पलायनवादी होना ही चाहिये। सुनिये—'ऐसा व्यक्ति, यह स्पष्ट है, ससार की भौतिक वास्तविकता को महत्त्व न देगा। उसका दृष्टिकोण रोमांटिक होना अनिवार्य है। वर्तमान मे विमुख होने के कारण—जैसा रोमाण्टिक व्यक्ति के लिए आवश्यक है—वह पुरातन की ओर जायगा या कल्पनालोक की ओर!' क्या खूब। जो आधुनिक जीवन की विभीषिकाओं को देखे और सहेगा, वह तो पलायनवादी होगा और यथार्थवादी शायद वह होगा जो इन विभीषिकाओं से पलायन करे!

सरस्वती के न्यायालय मे प्रेमचन्द पर मुकदमा चलता है और वीणापाणि (अर्थात् नगेन्द्रजी) उन पर जो फैसला देती है, वह इस तरह है : 'हमारा आदेश है कि आज से श्रीयुत प्रेमचन्दजी स्रष्टा कलाकारों की प्रथम श्रेणी को छोडकर द्वितीय श्रेणी मे आसन प्राप्त करे।' अन्तर्मुखी आलोचक से इससे ज्यादा और क्या आशा की जा सकती थी ? नगेन्द्रजी शुद्ध कविता, शुद्ध रस और शुद्ध सौन्दर्यशास्त्र के प्रेमी है। इस कसौटी पर प्रेमचन्द का साहित्य परखा जायगा तो कसौटी के ही अशुद्ध हो जाने का भय है। फिर भी उन्होने उसे परखा, यही क्या कम है।

नगेन्द्रजी के यहाँ हर चीज शुद्ध है , बानगी देखिए—

(१) 'साहित्य के क्षेत्र मे तो शुद्ध मनोविज्ञान. का ही अधिक विश्वास करना उचित होगा।'

(२) 'लोक प्रचलित अस्थायी वादो के द्वारा साहित्य का रस अशुद्ध हो जाता है।'

(३) 'छायावाद निश्चित ही शुद्ध कविता है।' हम अपनी तरफ से यही कह सकते है कि नगेन्द्रजी की आलोचना बिल्कुल शुद्ध आलोचना होती है।

अस्थायी वादों के द्वारा साहित्य का रस अशुद्ध हो जाता है, इसलिए प्रगतिवाद को रस का सबसे बड़ा शत्रु मानना चाहिये। नगेन्द्रजी पहले तो प्रगतिवाद को मार्क्सवाद का पर्यायवाची शब्द मान लेते हैं; फिर उस पर एकांगिता आदि के दोष लगाते हैं। यह दोनों ही बातें गलत हैं। नगेन्द्रजी समझते हैं कि प्रगतिवाद की यह व्याख्या शायद संकुचित होगी, इसलिए कहते हैं—'शुद्ध प्रगतिवादी दृष्टिकोण तो शायद पंत और नये कवियों में नरेन्द्र ही ने ग्रहण किया है।' प्रगतिवादियों ने 'शुद्ध' पर इतना जोर नहीं दिया जितना नगेन्द्रजी ने। इसके सिवा मार्क्सवाद पर जो एकांगी होने का दोष लगाया गया है, वह भी उन्हीं की आत्माभिव्यक्ति हो सकती है, वस्तुगत सत्य नहीं है। मार्क्सवाद हमें संसार की घटनाओं को उनकी परस्पर सम्बद्धता में देखने के लिए कहता है। वह सामाजिक विकास के नियमों से हमें परिचित कराता है और उनके प्रकाश में अपने युग की गतिविधि को पहचानने में हमारी सहायता करता है। साहित्य को वह एक सामाजिक क्रिया के रूप में देखता है; उसे कुछ विशिष्ट व्यक्तियों की पूँजी नहीं मानता। वह यह नहीं कहता कि साहित्य में आनन्द नहीं मिलता या छंद, वर्ण, गति-लय का सौंदर्य साहित्य के लिये कलंक है। लेकिन वह यह मानता है कि जो साहित्य युग की सजीव 'अनुभूति' और प्रगतिशील 'विचारों' को व्यक्त नहीं करता, वह निर्जीव हो जाता है।

नगेन्द्रजी का विरोध मार्क्सवाद से ही नहीं है वरन 'साहित्य समाज का दर्पण है'—इस साधारण सिद्धान्त से भी है। वह वस्तुतः 'कला-कला के लिए' की गुहार मचाने वालों में हैं। कहते हैं—'कला कला के लिये है सिद्धान्त का प्रतिपादक भी वास्तव में शुद्ध आनन्द को ही कला का उद्देश्य मानता है।' इन कलापंथियों के अनुसार कवि वह सहृदय प्राणी नहीं है जिसका हृदय मानव-उत्पीड़न और

संघर्षों में आन्दोलित होता है। इनके अनुसार वह अतृप्त वासनाओं का दास है जो दुनिया से मुँह चुराकर काल्पनिक आनन्द की खोज में लगा रहता है। इस तरह की व्याख्या कोई गया गुजरा छायावादी भी न स्वीकार करेगा।

नगेन्द्रजी को शुद्ध रस की उपलब्धि कहाँ होती है इसे देखकर भी कलापथियों की सप्राणता का पता चल जायगा। जब आप नगेन्द्रजी की अतल-भेदी दृष्टि पा जायँगे तब आप सहज ही समझ जायँगे कि 'पूर्व और पश्चिम की दृष्टि में जो जघन्य पाप है—बहिन के प्रति रति—उसको पवित्र रूप देने के लिये हृदय में कितने सतोगुण की आवश्यकता हुई होगी।' और शेखर के आनन्द में मगन होकर आलोचकजी आत्माभिव्यक्ति करते हैं—'इस अंतिम रसस्थिति पर पहुँचकर मेरा मन यात्रा के सभी श्रम को भूलकर लेखक के प्रति एक अमिश्रित कृतज्ञ-भाव से भर जाता है! क्या आप मुझसे सहमत नहीं हैं?'

आपसे सहमत वही होगा जिसने आपका सा हृदय पाया होगा; साधारण पाठकों में तो इस अनुभूति का अभाव ही होता है। इसी कारण आप प्रेमचन्द के स्वस्थ पात्रों को अस्वाभाविक ठहराते हैं और जैनेन्द्र और शेखर के मरीजों में रस का अनुभव करते हैं।

नगेन्द्रजी के लेखों के बारे में कहने को (और सुनने को भी) अभी बहुत कुछ है लेकिन यहाँ मेरा उद्देश्य उनकी आलोचना की बुनियादी कमजोरियों की तरफ संकेत करना भर है। उनका दृष्टिकोण समाज-हित से दूर अहंकार का पोषक है, इसलिये वे संपूर्ण साहित्य को अतृप्त कामवासना से उत्पन्न होनेवाली कपोलकल्पना बना देते हैं। प्रगतिशील साहित्य सप्राण है, इसे वह मानते हैं लेकिन वह पलायनवादी साहित्य का पल्ला नहीं छोड़ सकते क्योंकि उससे शुद्ध रस की सृष्टि होती है। शुद्ध रस की खोज में वह रोगी पात्रों के

नजदीक खिचते चले जाते है। यहाँ तक कि उनकी आलोचना उनके अपने रोग की अभिव्यक्ति बन जाती है। इसमे कोई सदेह नहीं कि मध्यवर्ग के अधिकाश युवक हीनभावना से पीडित है। उनके जीवन मे अभावो का समुद्र लहरा रहा है। लेकिन वे इन अभावों को दूर करना नहीं जानते और झूठी सच्ची भूख का अन्तर भी नहीं पहचानते; इसलिए वह समूचे साहित्य को अह का विस्फोट कहकर अपना अकल का गुब्बारा फोड़ देते हैं।

नगेन्द्रजी परस्पर असगत बातो का समर्थन करते है, इसलिए उनका तर्क लचर होता है। वाक्यो मे असम्बद्धता भी रहती है। कहीं-कहीं उनकी दलीले देखने लायक होती है। शुक्लजी और रिचार्ड्स की तुलना करते हुए लिखते हैं—'दोनो अध्यापक है। अतः दोनो की शैली निश्लेषणात्मक है।' और नगेन्द्रजी भी अध्यापक है, अतः उनकी शैली रिचार्ड्स और शुक्लजी की शैली के कान काटती है। शुक्लजी से निकालिए एक भी ऐसा वाक्य जैसे—'ध्रुवस्वामिनी का सारभूत प्रभाव तो पूर्णतः एकसार है।' अच्छा हुआ, शान्तिप्रिय जी अध्यापक न हुए; अभी नगेन्द्रजी अकेले है, फिर दो हो जाते तो इस विश्लेषणात्मक शैली से हिन्दी की रक्षा करना असभव हो जाता।

[१९४८]

'सतरंगिनी' : बच्चनजी का नया प्रयोग

'निशा-निमंत्रण', 'एकान्त संगीत', 'आकुल अन्तर', आदि के बाद 'सतरंगिनी' के नाम ही मे ताजगी है। देखनेवाले की तबीयत तो एक ही रंग से फड़क उठती है, फिर जहाँ सातो रंगो की झाँकी हो, वहाँ कहना ही क्या ? इसमे सन्देह नही, कि पहले के निराशा और वेदना-प्रधान गीतो की तुलना मे यहाँ उत्साह, गति और प्रणय की उमग है। व्यथा से घुल घुलकर मरने के बदले निर्माण की आकाक्षा है, रास्ते के नुकीले काँटो की याद के साथ आगे बढ चलने की उत्कंठा है।

सतरगिनी के सातो रंग अलग अलग हैं, उसके गीतो का राग एक का नही है। सात रंगो के रूपक को पूर्णोपमा मे बदलना जरूरी नही है। जाहिर सी बात यह है कि इन गीतो मे हम कवि को अँधेरे मे अपनी राह टटोलते देख सकते है। उजाला दिखाई पडने के पहले उसे अँधेरे मे, और उजाले के एक भुलावे मे, इधर-उधर मारे मारे फिरना पडता है और इन गीतो मे उसी श्रम की चर्चा है।

यद्यपि कवि ने सतरगिनी को छ: खण्डो मे बाँट दिया है, फिर भी यह आवश्यक नही कि उसकी खोज इसी क्रम से हुई हो। यह भी कह देना जरूरी है कि यह खोज एक सीमित ससार मे,—करीब-करीब अपने पारिवारिक ससार मे—होती है।

इन गीतो मे जो स्वर बार बार लगता है, वह यह कि—

'जो बीत गयी सो बात गयी।'

आसमान तारो के टूटने पर नही रोता, प्यालो के टूटने पर

मदिरालय भी नहीं पछताता ; फिर कवि ही बीती बातों पर क्यों आँसू बहाये ? इस बात को उसने यो भी कहा है :—

'एक निर्मल स्रोत मे
तृष्णा बुझाना कब मना है ?'

लेकिन ऐसे प्रश्नो मे ही उस दबी हुई टीस का पता चलता है जो 'निर्मल स्रोत' मिलने पर भी नहीं मिटती। 'सतरगिनी' की चमक-दमक, आशा-उल्लास के नीचे से वेदना की यह गहरी छाया बार बार ऊपर उभर आती है। शायद इन गीतो के आकर्षण का यह भी एक कारण है। एक दूसरे गीत मे कवि ने बडी व्यथा से लिखा है—ऐसी व्यथा जिसमे सन्देह करना असभव है, जिससे सहानुभूति न करना असभव है,—

'चिर विधुर मेरे हृदय मे
जब मिलन मनुहार उठती,
तब चपल जिसके पगो की
पायले झनकार उठती,
तुम नहीं हो
हाय, कोई दूसरा है।'

इस पृष्ठभूमि मे कवि जीवन की नयी राह ढूँढता है, राह पर चलने के लिए नयी प्रेरणा और नया उत्साह ढूँढता है।

ऐसी स्थिति में यदि चलना केवल भाग्य का विधान मालूम पडे, यदि ससार की वास्तविकता एक विषैली मोहक नागिन की तरह आँगन मे नाचती दिखाई दे, यदि निर्माण के क्षणों मे नाश की विभीषिका कवि-हृदय को सहसा आक्रान्त कर दे, तो इसमे किसी को आश्चर्य न होना चाहिए।

'पग तेरे पास चले आये
जब वे तेरे भय से भागे'

यह तो प्रगति न हुई। नियति ने ही गतिशीलता का रूप ले लिया है। 'सतरगिनी' की अधिकाश कविताओ मे सिर्फ राह पर चलने की बाते है लेकिन वह राह कहाँ ले जायगी, इसकी ओर सकेत नहीं है। कवि की सवेदना का क्षेत्र इतना सीमित है कि अपने सचेत प्रयत्न से विश्व की विकलता दूर करने मे उसकी आस्था नहीं है। इसलिए वह अपनी राह का अकेला राही है, वह एक सामूहिक प्रयास का गायक नहीं है। उमग के अन्यतम क्षणो मे भी वह दृढता और विश्वास मे अपने लक्ष्य की ओर नहीं बढता, वरन उसे यह उमग, यह गति भी भाग्यविधान सी लगती है।

'उठ गया लो, पाँव मेरा,
छुट गया, लो, ठाँव मेरा।

× ×

कौन भाग्यविधान रोके!
कौन यह तूफान रोके!'

लक्ष्य भले ही न दिखाई दे, कवि साधना के मूल्य से इनकार नहीं करता। कोयल ने तपस्या की है, तभी उसका स्वर इतना मीठा है और उसका शरीर काला पड गया है। यह एक अनूठी कल्पना है, वैसे ही भावपूर्ण भी। कोयल अपनी तपस्या के बल पर उजडे हुए उपवन मे फिर बहार लाती है। इसके साथ कवि मे निर्माण की एक प्रबल स्वस्थ आकाक्षा है, यह भी मानना पडेगा। 'निर्माण' नाम का गीत इस सग्रह की सबल रचनाओं मे से है और वह सबल इसीलिए है कि कवि ने अपने विषाद को किसी छलना से भुला नहीं दिया वरन् खुले तौर पर उसकी स्याही पर निर्माण के रंगीन चित्र बनाये है

'नाश के दुख से कभी
दबता नहीं निर्माण का सुख!

इन दो पक्तियों मे बच्चन ने अत्यन्त प्रौढ स्वरों में अपने आशावाद की बात कह दी है।

यह भी सही है कि निर्माण का सुख बहुधा अभिसार के सुख मे बदल जाता है और कवि कह उठता है—

'कल उठाऊँगा भुजा
अन्याय के प्रतिकूल,
आज तो कह दो कि मेरा
बन्द शयनागार।
सुमुखि ये अभिसार के पल,
चल करें अभिसार!'

मानी बात है कि इस 'कल' के आश्वासन से बहुत कम पाठकों को सन्तोष होगा। उन पाठकों के लिए यहाँ चेतावनी भी है जो सतरंगिनी के रूपकों मे तल्लीन होकर बहुत दूर की कौड़ी लायेंगे।

सब गीतों को पढने के बाद स्पष्ट हो जाता है कि कवि की संवेदना उसके प्रणय ससार मे इधर उधर मॅडराती है; उसमें सामाजिक अथवा सामूहिक सवेदना का अभाव है। परन्तु सच्चे निर्माण की आकांक्षा देर तक परिवार के दायरे मे सीमित नहीं रह सकती। आगे चलकर वह सामाजिक प्रगति से नाता जोड़ेगी और क्रमशः अधिक स्वस्थ और अधिक सबल बनेगी। ऐसा न हुआ तो निर्माण का यह स्वर क्षीण होकर फिर बिनाश और पीड़ा का क्रन्दन बन जायगा।

सतरंगिनी के अन्त मे कुछ पक्तियाँ ऐसी आयी हैं जिनमे एक नयी सामाजिक चेतना के दर्शन होते हैं। कवि अपने भाग्यवाद को चुनौती देता है और मानव के सचेत प्रयास की सफलता मे विश्वास प्रकट करता है। वह 'काल' के लिए कहता है—

'अब नहीं तुम प्रलय के जड़ दास,
अब तुम्हारा नाम है इतिहास।'

और

'नाश के अब हो न गर्त महान्,
प्रगतिमय संसार के सोपान।'

इस इतिहास-निर्माण की प्रेरणा कवि को परिवार ही से मिलती है। घर का प्रेम 'जगजीवन से मेल कराता' है। इस दुनिया में उसका लाल बढ़ेगा, पढ़ेगा, खेले कुदेगा, इसलिए—

'जैसी हमने पायी दुनिया
आओ, उससे बेहतर छोड़ें।'

पाठक की मंगल कामनाएँ कवि के साथ होंगी ; अभिसार के बाद का 'कल' इतनी जल्दी आये तो इसमें किसी को ऐतराज भी क्या होगा ? और यदि कवि कहे—

'पथ क्या, पथ की थकन क्या
स्वेद कण क्या,
दो नयन मेरी प्रतीक्षा में खड़े है।'

तो इस प्रेम के लिए कवि को कौन बधाई न देगा जब प्रगति से उसका ऐसा अटूट सम्बन्ध है ?

सतरंगिनी में बच्चन ने छंदों के नये बंद रचे हैं ; काव्यरूपों में नये प्रयोग किये हैं। यद्यपि चित्रों में पुरानापन है और कहीं-कहीं पुरानी नीतिसम्बन्धी कविताओं की झलक आ गयी है। बहुत से गीतों में गठन की कमी का अनुभव होता है। फिर भी 'कोयल' 'निर्माण' 'विश्वास' आदि अनेक गीत हैं जो बच्चन की रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ हैं और हिन्दी गीतिकाव्य में जिनका स्थान असंदिग्ध है।

[१६४४]

कुप्रिन और वेश्या-जीवन

कुप्रिन का उपन्यास 'यामा दि पिट' खूब प्रसिद्ध हुआ है। संसार की प्रायः सभी प्रधान भाषाओं में उसका अनुवाद हो चुका है। इसलिये एक प्रकार से उसका हिंदी में अनुवाद हो ही जाना चाहिये था। इस उपन्यास में रूस देश में क्रान्ति के पूर्व के वेश्या-जीवन का वर्णन है। वर्णन सजीव और यथार्थ है, नग्न सत्य को कहीं छिपाया नहीं गया वरन् जितना भी समाज की गन्दगी को खभोया जा सकता था, खभोया गया है। प्रकाशक के शब्दों में पाठक कह उठता है—'ओह, यह हमने आज जाना कि वेश्या-जीवन के अभिशाप से हमारा समाज इस तरह अभिभूत है!' क्रान्तिकारी साहित्य का घर-घर प्रचार करने के लिये प्रकाशक ने घाटा उठाकर भी इसे प्रकाशित किया है। एतदर्थ वह धन्यवाद के पात्र हैं।

ऐसी पुस्तकें छपनी चाहिये या नहीं—इस विषय पर काफी विवाद हुआ है और हो रहा है। अनुवादक ने इस सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा है और यहाँ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। रूसी समाज में व्यभिचार और पतन का चित्र खींचकर कुप्रिन ने साधारणतः अच्छा ही किया है। पाठक उपन्यास पढ़कर वेश्या-जीवन की गन्दगी से इतना रुष्ट अथवा आकर्षित होगा कि और बातों पर सोच विचार कम करेगा। परन्तु जो थोड़ा तटस्थ होकर पढ़ेगा, वह कुछ और बातें भी सोच सकता है।

पहली बात यह कि वेश्या-जीवन की समस्या को कुप्रिन ने अति कामवासना की समस्या कहा है। और इस अति कामवासना का उपाय उसने कठोर चारपाई या चौकी पर खुरखुरी चादर बिछाकर

सोना बताया है। अच्छा साहित्य पढना, परिश्रम करना आदि बातें साथ में हैं। वेश्या-जीवन की वीभत्सता के लिये उत्तरदायी एक विशृङ्खल सामाजिक व्यवस्था की ओर उसका ध्यान नहीं गया जिसको बदले बिना इस नारकीयता मे कमी नही हो सकती। इसीलिये सही अर्थ में यह उपन्यास क्रान्तिकारी नही है; लेखक वेश्या-जीवन की ऊपरी गन्दगी में फँस गया है जैसे लोग उसकी ऊपरी तड़क-भड़क से चौंधिया जाते हैं। गन्दगी का ठीक-ठीक कारण न जानने से वह उसे दूर करने का उपाय भी नहीं जानता। 'मुझे कोई ऐसा अचूक नुसखा इस रोग के विरुद्ध नहीं मिला है जो मैं आपको बता दूँ।' अचूक नुसखा है भी नहीं, इस रोग को दूर करने के लिये पूरे समाज-शरीर की जाँच करनी होगी। कठोर चारपाई और खुरखुरी चादर से वही हाल होगा जो उपन्यास में लिखोनिन और लियूब्का का होता है। दिन में प्रतिज्ञा और रात में प्रतिज्ञा भंग।

कुप्रिन का दृष्टिकोण एक आदर्शवादी और व्यक्तिवादी का है। प्लेटोनॉव जो लेखक की प्रतिमूर्ति है, एक आवारा है। वह एक के बाद दूसरा काम उठाता है परन्तु टिकता कहीं भी नहीं है। कारण, कि सामाजिक उपयोगिता का काम उसे दिखाई नहीं देता। वह कहता है—'मुझे तरह-तरह का जीवन देखने की एक उमंग-सी रहती है। मैं आपसे सच कहता हूँ, मेरा मन कुछ दिन घोड़ा बनने को, कुछ दिन पेड़ बनने को, कुछ दिन मछली बनने को, और कभी-कभी औरत बनकर जच्चा जीवन का अनुभव लेने को भी चाहता है।' वह वेश्या बनना चाहे तो भी आश्चर्य न होगा! यह वही आवारापन का आदर्शवाद है, जो घटिया रूसी उपन्यासों मे भरा हुआ है। ऐसे मनुष्य से क्या आशा की जा सकती है! प्लेटोनॉव वेश्याओं के बीच रहता है और उन पर पुस्तक भी लिखना चाहता है। वेश्याओं की उसके प्रति यह धारणा है—'यहाँ की सारी छोकरियाँ

मुझे आदमी और औरत के बीच की ज़ात का जीव समझती हैं।' ऐसा व्यक्ति वेश्याओं की प्रशसा पाते हुए भी उन्हे अति निकट से नहीं जान सकता। कुप्रिन वेश्याओ के बच्चों जैसे भोलेपन पर मुग्ध है। प्रायः प्रत्येक अध्याय मे वह उनकी बच्चों से तुलना करता है। उनके भोलेपन और उनके जीवन की गन्दगी दोनो पर ही वह फिदा है। प्लेटानॉव अपने विचारों को कठिनता से सुलझाता हुआ कहता है—'यहाँ का जीवन मुझे...कैसे समझाऊँ. उपयुक्त शब्द नहीं मिलता। मुझे एक तरह से आप कह सकते हैं बड़ा आकर्षक लगता है।' 'क्योंकि यहाँ जीवन के भयकर और नग्न चित्र मुझे देखने को मिलते हैं।' यह कुप्रिन का ही दृष्टिकोण है। उसमे तटस्थता नही है। भयकरता से उसे मोह हो गया है। उसे नष्ट करने की शक्ति उसकी खो गई है। इसलिए उसे समाज में कहीं भी स्वास्थ्य नहीं दिखाई देता; और अपनी दृष्टि भी वह अन्ना के चकले से नही हटा पाता। हेरफेर एक ही चकले का वर्णन करने से उपन्यास में एकरसता आ गई है। विभिन्न श्रेणी की वेश्याओं और उनके जीवन विचित्रता की ओर उसने आँख नहीं उठाई।

कथा-वस्तु मे विस्तार अत्यधिक है और पुनरावृत्ति भी कम नही है। अन्त में कथा समाप्त करने के लिए चकले का जल्दी-जल्दी अन्त भी कर दिया गया है। पुस्तक के अन्त में 'आखिरी बात' मे अनुवादक ने वेश्या-जीवन और भारतवर्ष में उसकी समस्या पर अपने विचार प्रकट किये हैं। कुप्रिन की भाँति उनका दृष्टिकोण भी आदर्शवादी है। प्रस्तावना मे उन्होंने इस बात पर खुशी और अभिमान प्रकट किया था कि कुप्रिन ने अति कामवासना के लिये भारतीय विद्वानों की भाँति ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करना ही बताया है। वेश्याओं की पतित अवस्था के लिये कुप्रिन व्यक्तिगत कामुकता को दोषी मानता है जिसे वश में किया जा सकता है; परन्तु अपने

उपन्यास मे ही उसने अनेक ऐसे वेश्यागामी पुरुषों का ज़िक्र किया है जिन्हें अति काम-वासना के लिये दोषी नहीं ठहराया जा सकता। साथ ही उसने ऐसी वेश्याओं का भी जिक्र किया है जिनमें अति काम-वासना है। वे एक पुरुष से सन्तुष्ट न रह पाकर वेश्या हुई हैं। इन सब की मनोवैज्ञानिक समस्याओं पर कुप्रिन ने कुछ नहीं कहा— ब्रह्मचर्य रामबाण औषधि अवश्य है परन्तु गोली बारुद के युग में उसका सब जगह उपयोग नहीं होता, न हो सकता है।

यह पुस्तक रूसी भाषा में कभी पूरी-पूरी नही छपने दी गई। अँग्रेजी अनुवाद मे वह प्रथम बार पूरी प्रकाशित हुई। इसका कारण भी लेखक का असामाजिक दृष्टिकोण हो सकता है।

मई' ४१